हिन्दी चेतना

कथा-आलोचना विशेषांक

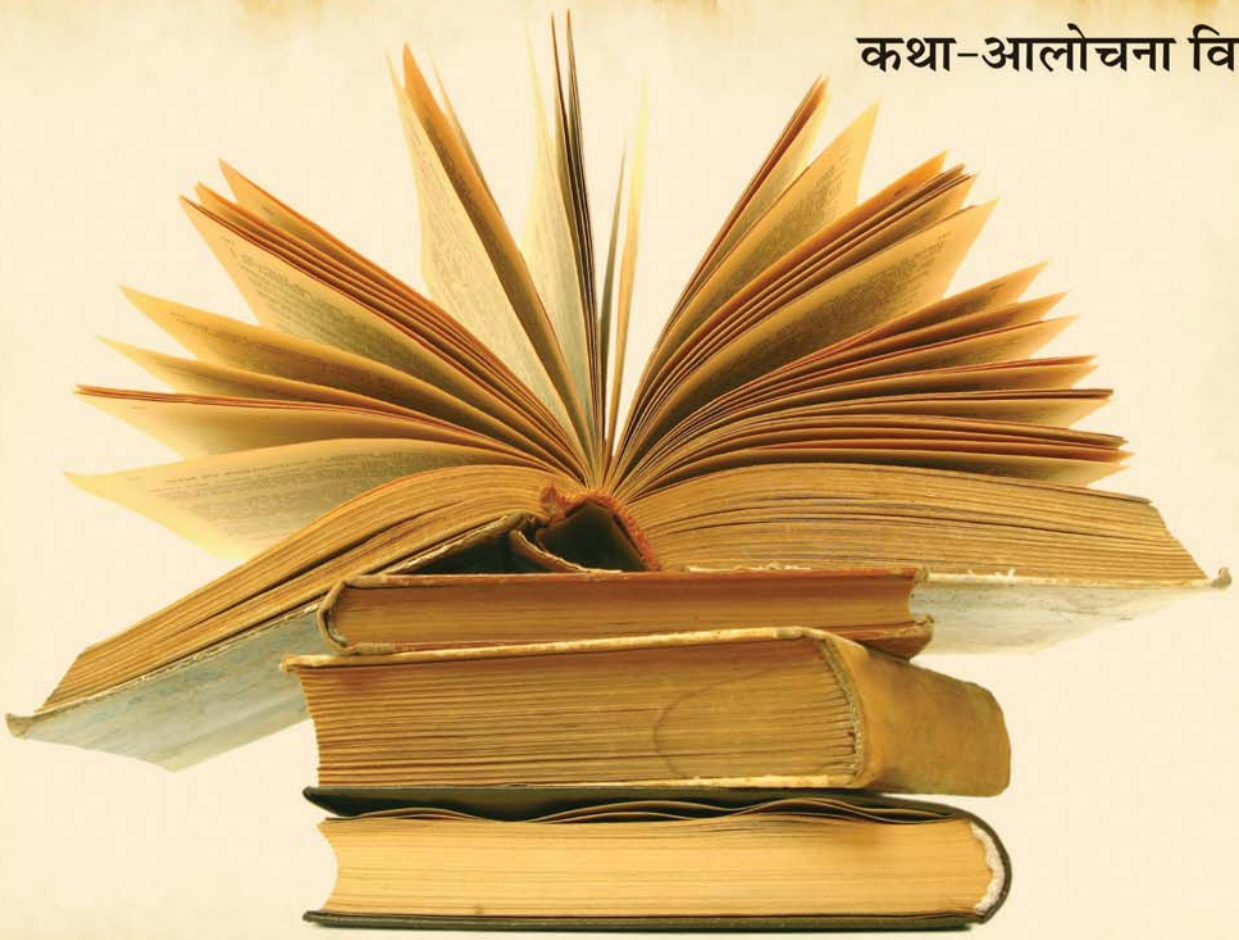

अतिथि संपादक : सुशील सिद्धार्थ

हिन्दी प्रचारिणी सभा: (कैनेडा) की अंतर्राष्ट्रीय त्रैमासिक पत्रिका
Hindi Chetna: International quarterly magazine of Hindi Pracharini Sabha Canada
वर्ष : १६, अंक : ६४, अक्टूबर २०१४ • Year 16, Issue 64, October 2014
100 ₹, 5 $

शिवना प्रकाशन

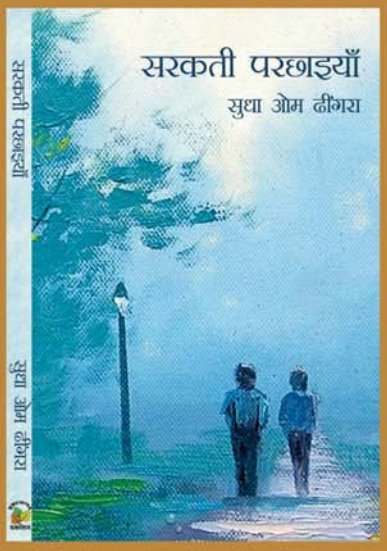

वरिष्ठ कवयित्री एवं कथाकारा सुधा ओम ढींगरा के शिवना प्रकाशन से प्रकाशित काव्य संग्रह 'सरकती परछाइयाँ' का विमोचन 26 जुलाई 2014 को कैनेडा के स्कारबरो सिविक सेण्टर में आयोजित एक गरिमामय साहित्यिक समारोह में किया गया।

सरकती परछाइयाँ (काव्य संग्रह)
सुधा ओम ढींगरा
ISBN: 978-93-81520-08-6
सजिल्द संस्करण : 2014
मूल्य : 150.00 रुपये

शिवना प्रकाशन से प्रकाशित सभी पुस्तकें अब इंटरनेट पर ऑनलाइन शॉपिंग हेतु भी उपलब्ध हैं। www.madshope.com पर जाकर शिवना प्रकाशन की सारी पुस्तकों को आप ऑनलाइन देख सकते हैं तथा ऑन लाइन ऑर्डर देकर खरीद भी सकते हैं।

कड़ी धूप का सफ़र (उपन्यास)
मुकेश दुबे
ISBN: 978-93-81520-10-9
पहला सजिल्द संस्करण : 2014
मूल्य : 150.00 रुपये

तितलियों को उड़ते देखा है...?
(काव्य संग्रह) मधु अरोड़ा
ISBN: 978-93-81520-12-3
पहला सजिल्द संस्करण : 2014
मूल्य : 150.00 रुपये

चलो लौट चलें (काव्य संग्रह)
आनंद पचौरी
ISBN: 978-93-81520-09-3
पहला सजिल्द संस्करण : 2014
मूल्य : 150.00 रुपये

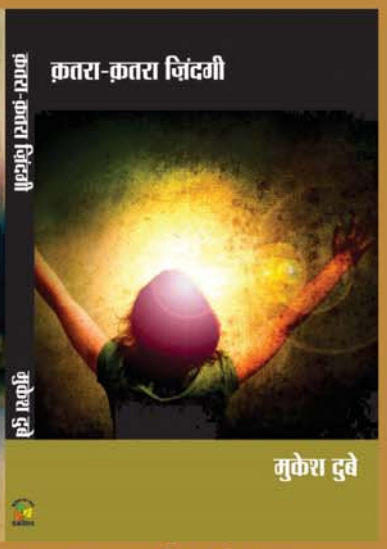

क़तरा-क़तरा ज़िंदगी (उपन्यास)
मुकेश दुबे
ISBN: 978-93-81520-11-6
पहला सजिल्द संस्करण : 2014
मूल्य : 150.00 रुपये

शिवना प्रकाशन

शॉप नं. 3-4-5-6, पी. सी. लैब, सम्राट कॉम्प्लैक्स बेसमेंट, बस स्टैंड के सामने, सीहोर, मध्यप्रदेश 466001
फोन 07562-405545, 07562-695918, मोबाइल +91-9977855399
Email: shivna.prakashan@gmail.com, http://shivnaprakashan.blogspot.in

संरक्षक एवं प्रमुख सम्पादक
श्याम त्रिपाठी
(कैनेडा)

सम्पादक
सुधा ओम ढींगरा
(अमेरिका)

सह-सम्पादक
रामेश्वर काम्बोज 'हिमांशु' (भारत)
पंकज सुबीर (भारत, समन्वयक)
अभिनव शुक्ल (अमेरिका)

परामर्श मंडल
पद्मश्री विजय चोपड़ा (भारत)
कमल किशोर गोयनका (भारत)
पूर्णिमा वर्मन (शारजाह)
पुष्पिता अवस्थी (नीदरलैंड)
निर्मला आदेश (कैनेडा)
विजय माथुर (कैनेडा)

सहयोगी
सरोज सोनी (कैनेडा)
राज महेश्वरी (कैनेडा)
श्रीनाथ द्विवेदी (कैनेडा)

विदेश प्रतिनिधि
डॉ. एम. फ़िरोज़ ख़ान (भारत)
चाँद शुक्ला 'हदियाबादी' (डेनमार्क)
अनीता शर्मा (शिंघाई, चीन)
दीपक 'मशाल' (फ्रांस)
अनुपमा सिंह (मस्कट)
रमा शर्मा (जापान)

वित्तीय सहयोगी
अश्विनी कुमार भारद्वाज (कैनेडा)

रेखाचित्र : पारस दासोत

डिज़ायनिंग
सनी गोस्वामी (सीहोर, भारत)
शहरयार अमजद ख़ान (सीहोर, भारत)

हिन्दी चेतना

(हिन्दी प्रचारिणी सभा कैनेडा की त्रैमासिक पत्रिका)
Hindi Pracharini Sabha & Hindi Chetna
ID No. 84016 0410 RR0001
Financial support provided by Dhingra Family Foundation

वर्ष : १६, अंक : ६४
अक्टूबर-दिसम्बर २०१४
मूल्य : ५ डॉलर ($5), १०० रुपये

कथा-आलोचना विशेषांक
अतिथि सम्पादक : डॉ. सुशील सिद्धार्थ

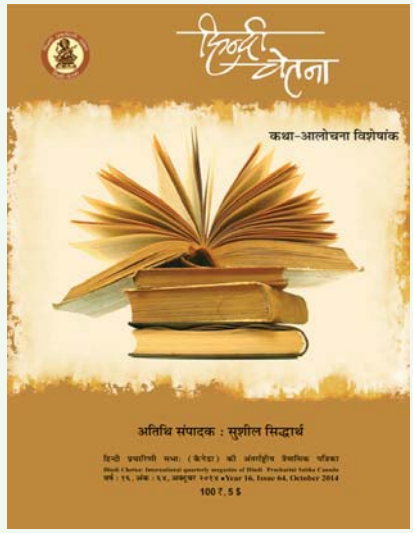

HINDI CHETNA

6 Larksmere Court, Markham Ontario, L3R 3R1
Phone : (905) 475-7165, Fax : (905) 475-8667
e-mail : hindichetna@yahoo.ca
Hindi Pracharini Sabha & Hindi Chetna
ID No. 84016 0410 RR0001

Hindi Chetna is a literary magazine published quarterly in Toronto, Ontario under the editorship of Mr. ShiamTripathi. Hindi Chetna aims to promote the Hindi language, Indian culture and the rich heritage of India to our children growing in the Canadian society. It focuses on Hindi Literature and encourages creative writers, young and old, in North America to write for the magazine. It serves to keep readers in touch with new trends in modern writing. Hindi Chetna has provided a forum for Hindi writers, poets, and readers to maintain communication with each other through the magazine. It has brought local and international writers together to foster the spirit of friendship and harmony.

इस अंक में

कथा-आलोचना विशेषांक

वर्ष : 16, अंक : 64
अक्टूबर-दिसम्बर 2014

●

सम्पादकीय 5

उद्‌गार 6

●अतिथि सम्पादकीय

सरे राह चलते-चलते

डॉ. सुशील सिद्धार्थ 9

●प्रस्थान

इस देश का लेखक और बौद्धिक
कभी भी घुटने नहीं टेकता, न हारता है

डॉ. विजय बहादुर सिंह 12

●आलोचना का अंतरंग

ज़रूरी है उपन्यास लिखना

असग़र वजाहत 14

कहानी-अब और आलोचना कहानी की

अर्चना वर्मा 16

कथावृत्त : सर्जना और सम्प्रेषण की परिधि में

राजी सेठ 24

आलोचना : इस समय

श्रीराम त्रिपाठी 28

समकालीन हिंदी कहानी के बीस बरस

डॉ. रोहिणी अग्रवाल 31

हिंदी उपन्यास की यात्रा और आलोचना के ध्रुव

निरंजन देव शर्मा 40

आलोचना की विश्वसनीयता का संकट

उमेश चौहान 49

कथा आलोचना : एक बेतरतीब ख़याल

बलवन्त कौर 52

कहानी पर चर्चा की जरूरत

विभास वर्मा 55

युवा कहानी : कुछ ज़रूरी सवाल

डॉ. प्रज्ञा 58

आगे की कहानी

रमेश उपाध्याय 62

नई कथाभूमि की प्रासंगिकता एवं सार्थकता

रजनी गुप्त 66

●दलित कथालोचना

आलोचक पहले अपनी आलोचना करें

अनीता भारती 68

●व्यंग्य कथालोचना

व्यंग्य लेखन मुख्य धारा का लेखन नहीं है-मी लॉर्ड

सुभाष चंदर 72

●अपना पक्ष

कितनी जरूरी आलोचना

आकांक्षा पारे काशिव 74

गँवई आधुनिकता में साँस लेती हिन्दी कहानी

विजय गौड़ 76

आलोचक दोस्तों जितने ज़रूरी हैं
बनाम छपने के दस साल

विमलचंद्र पाण्डेय 86

●पाठकीय नज़रिया

कहानी में कहानी कहाँ ?

वंदना गुप्ता 89

●प्रवासी कथालोचना

अमेरिका की तस्वीर वाया प्रवासी हिन्दी कथा-साहित्य

विजय शर्मा 91

हिन्दी साहित्य को समृद्ध बनाती दूर देशों में बसे भारतवंशियों की कहानियाँ

सीमा शर्मा 96

प्रवासी हिंदी कथा साहित्य

साधना अग्रवाल 100

सात समुन्दर पार महिला रचनाकार

स्वाति तिवारी 107

प्रवासी कथाओं में स्त्री-विमर्श

डॉ. रेनू यादव 110

समाज का जीवंत दस्तावेज

पूजा प्रजापति 114

सम्बंधों पर 'धूप'

आरती रानी प्रजापति116

●आलोचना से पहले

हिंदी साहित्य में आलोचना से लगभग सभी लेखक असंतुष्ट रहे हैं

विश्वनाथ प्रसाद तिवारी117

पुस्तक-समीक्षा :
रचना और आलोचना के संबंधों की पुनर्पड़ताल

पुष्पपाल सिंह 120

●सोदाहरण

एक संभावना है स्त्री : इदन्नमम

डॉ. विजय बहादुर सिंह 124

एक लंबी कहानी और विस्थापन पर कुछ दर्ज करने की इच्छा...

अविनाश मिश्र 130

साहित्यिक समाचार 132

चित्रमय झलकियाँ 135

चित्र काव्यशाला 137

विलोम चित्र काव्यशाला 137

आख़िरी पन्ना / **सुधा ओम ढींगरा** 138

'हिन्दी चेतना' को आप ऑनलाइन भी पढ़ सकते हैं :
http://www.vibhom.com/hindi chetna.html
http://hindi-chetna.blogspot.com
फेसबुक पर 'हिन्दी चेतना' से जुड़िये
https://www.facebook.com/hindi.chetna

सदस्यता प्राप्त करने हेतु सदस्यता शुल्क (400) रुपये (एक वर्ष), 600 रुपये (दो वर्ष), 1500 रुपये (पाँच वर्ष) अथवा 3000 रुपये (आजीवन) आप 'हिन्दी चेतना' के बैंक एकाउंट में सीधे अथवा ऑनलाइन भी जमा कर सकते हैं।
Bank : YES Bank, **Branch :** Sehore (M.P.)
Name : Hindi Pracharini Sabha Hindi Chetna
Account Number : 041185800000124
IFS Code : YESB0000411

'हिन्दी चेतना' सभी लेखकों का स्वागत करती है। आप अपनी मौलिक रचनाएँ ही भेजें चित्र और परिचय के साथ। 'हिन्दी चेतना' एक साहित्य पत्रिका है अत: रचनाएँ भेजने से पूर्व इसके अंकों का अवलोकन ज़रूर कर लें।

रचनाएँ भेजते समय निम्नलिखित नियमों का ध्यान रखें :

- 'हिन्दी चेतना' जनवरी, अप्रैल, जुलाई तथा अक्टूबर में प्रकाशित होगी ।
- प्रकाशित रचनाओं में व्यक्त विचारों का पूर्ण उत्तरदायित्व लेखक पर होगा ।
- पत्रिका में राजनैतिक तथा विवादास्पद विषयों पर रचनाएँ प्रकाशित नहीं की जाएँगी।
- रचना को स्वीकार या अस्वीकार करने का पूर्ण अधिकार संपादक मंडल का होगा ।
- प्रकाशित रचनाओं पर कोई पारिश्रमिक नहीं दिया जाएगा ।

पत्रिका में प्रकाशित सामग्री लेखकों के निजी विचार हैं ।
संपादक मंडल तथा प्रकाशक का उनसे सहमत होना आवश्यक नहीं है ।

सम्पादकीय

कथा-आलोचना विशेषांक

एक तरफ पाठक, दूसरी तरफ लेखक और इन दोनों के बीच में होता है आलोचक

'ढींगरा फ़ैमिली फ़ाउन्डेशन' और 'हिन्दी चेतना' द्वारा 26 जुलाई 2014 को हिन्दी भाषा के तीन प्रतिष्ठित साहित्यकारों को कैनेडा में सम्मानित किया गया। प्रो. हरि शंकर आदेश को 'ढींगरा फ़ाउण्डेशन-हिन्दी चेतना अंतर्राष्ट्रीय साहित्य सम्मान', श्री महेश कटारे तथा डॉ. सुदर्शन प्रियदर्शिनी को 'ढींगरा फ़ाउण्डेशन-हिन्दी चेतना अंतर्राष्ट्रीय कथा सम्मान' से सम्मानित किया गया। कार्यक्रम अत्यंत गरिमामय साहित्यिक वातावरण में सम्पन्न हुआ। यह एक शुरुआत थी। कार्यक्रम को लेकर पूरी टीम ने बहुत मेहनत की और उसी का परिणाम था कार्यक्रम की सफलता।

'हिन्दी चेतना' के विशेषांकों का पाठकों को इंतज़ार रहता है। ये विशेषांक सालाना आयोजन के रूप में वर्ष के अंतिम अंक के रूप में सामने आते हैं। त्यौहारों के समय में। इस वर्ष का विशेषांक सुप्रसिद्ध आलोचक, 'दूसरी परंपरा' के यशस्वी संपादक तथा व्यंग्यकार श्री सुशील सिद्धार्थ के अतिथि संपादन में तैयार किया गया है। यह विशेषांक कथा आलोचना पर केन्द्रित है। श्री सुशील सिद्धार्थ ने इस पर पिछले एक वर्ष से जो मेहनत की है उसका ही परिणाम है यह विशेषांक। हिन्दी साहित्य में आलोचना, विशेषकर कथा आलोचना की एक समृद्ध परंपरा रही है। कहानियों और उपन्यासों की आलोचना पर काफी कार्य हिन्दी साहित्य में हुआ है। कई-कई विद्वानों ने अपनी अमूल्य सेवाओं से, अपनी लेखनी से कथा साहित्य पर बड़ा उपकार किया है। इतने महत्त्वपूर्ण नाम हैं कि सबको यहाँ पर लिखना मुश्किल है। लेकिन, यह देखकर अच्छा लगता है कि आलोचकों की एक युवा पीढ़ी भी हिन्दी साहित्य में आ गई है और सक्रिय है। ये आलोचक न केवल भारत, बल्कि भारत से बाहर हो रहे लेखन पर भी अपनी दृष्टि रखे हुए हैं। यह सच है कि आज हिन्दी साहित्य जो है, जहाँ है, उसमें इन सब विद्वानों का बड़ा हाथ है। आलोचना ने ही कई गुमनामी में डूबी रचनाओं और रचनाकारों को हाशिये से उठा कर मुख्य धारा में स्थान दिया।

आलोचक और लेखक का बड़ा विचित्र सा रिश्ता होता है। जहाँ पर लेखक अपना कार्य समाप्त करता है वहाँ से आलोचक का कार्य प्रारंभ होता है। और यह कार्य भी दोधारी तलवार पर चलने के समान होता है। छोटा सा साहित्य समाज है, ऐसे में आलोचना यदि तीखी हो जाए तो उसका असर व्यक्तिगत संबंधों पर भी आ जाता है या आ सकता है। और यदि आलोचना ठीक प्रकार से न की जाए तो पाठक का आलोचक पर से विश्वास टूटता है। तो एक तरफ पाठक, दूसरी तरफ लेखक और इन दोनों के बीच में होता है आलोचक, अपनी ज़िम्मेदारी का निर्वहन करते हुए। एक तरफ विश्वसनीयता का संकट तो दूसरी तरफ आत्मीयता का संकट। लेकिन यह जानकर, पढ़कर अच्छा लगता है कि हिन्दी का कथा आलोचक हमेशा से पाठक के प्रति अपने दायित्व को समझता आया है और उसे ही सर्वोपरि मानता आया है। राग-द्वेष, पक्षपात के बिना अपनी लेखनी को आलोचना कर्म में अनवरत चलाते हुए। क्योंकि, पाठक उसके कहे अनुसार ही किसी पुस्तक को ख़रीदता है और उसके बाद उस पुस्तक को पढ़ता भी है। यानी, पाठक अपना पैसा और समय दोनों आलोचक के कहने पर व्यय कर रहा है। ऐसे में यदि वो यह पाता है कि किसी कहानी या उपन्यास में वो सब कुछ नहीं है जैसा बताया गया था तो उसका आलोचक के प्रति आक्रोशित होना स्वभाविक है।

यह आलोचना विशेषांक इसलिए भी आवश्यक है कि इस समय इसकी आवश्यकता सबसे अधिक है। लगभग सभी पत्रिकाएँ उच्च गुणवत्ता वाली पुस्तक समीक्षाओं की कमी के चलते परेशान हैं। पुस्तक समीक्षा, आलोचना का ही हिस्सा है। जैसा कि इस विशेषांक में सुशील सिद्धार्थ ने एक जगह अपनी टिप्पणी में लिखा भी है कि पहले समीक्षा होती है और उसके बाद आलोचना। समीक्षा और आलोचना का पारस्परिक संबंध और उनके अलग-अलग प्रारूपों पर इस विशेषांक में कई गुणी विद्वानों ने बहुत सुंदर तरीके से प्रकाश डाला है। और हिन्दी के वरिष्ठ आलोचक डॉ. विजय बहादुर सिंह द्वारा की गई एक पुस्तक समीक्षा का इस अंक में शामिल होना एक बड़ी उपलब्धि है। इस समीक्षा को पढ़कर नव समीक्षकों को बहुत कुछ सीखने को मिलेगा। यह, कि पुस्तक समीक्षा का अर्थ केवल यह नहीं है कि पुस्तक की कई सारी पंक्तियों को जस का तस रख दिया, बीच में एकाध प्रशंसात्मक टिप्पणी और बस....। नहीं उसके आगे भी बहुत कुछ है।

तो यह विशेषांक आपके हाथों में है। अतिथि संपादक श्री सुशील सिद्धार्थ के परिश्रम का परिणाम। आपकी प्रतिक्रियाएँ बताएँगी कि यह विशेषांक आपको कैसा लगा। आप सभी को दीपावली की बहुत-बहुत शुभकामनाएँ।

आपका,

श्याम त्रिपाठी

उद्‌गार

कथा-आलोचना विशेषांक

अपूर्व किस्सा गोई

'हिन्दी चेतना' का जुलाई-सितंबर 2014 अंक मिला। आभार। करीने से सामग्री सँजोई है। सभी कहानियों में अपूर्व किस्सागोई है। रजनी गुप्त, नीरा त्यागी व आस्था नवल की कहानियों ने छुआ। सौरभ पांडेय की ग़ज़लों का लहजा बातचीत वाला है।

शशि पुरवार के गीतों में छंद व कथ्य की कसावट है। इन अनमोल रचनाओं को पढ़वाने का शुक्रिया। पंकज सुबीर तो पत्रिका के रत्न है, उनके लिए शब्दों की बाहें छोटी पड़ती हैं और इसे प्राणवायु देने वाली सुधा जी जैसे इसे साहित्य के एक बागीचे के रूप में पल्लवित पुष्पित कर रही हैं।

-ओम निश्चल (भारत)

*****

विषय वैविध्य तथा शिल्प में अवगुंठित

हिन्दी साहित्य में विविध विधाओं को सिलसिलेवार खोलती, गहरे अनुभूत कराने वाली पत्रिका 'हिन्दी चेतना' की रश्मियाँ चतुर्दिक आलोक प्रसारण में तत्पर हैं। रजनी गुप्त की कहानी - 'कितने चेहरे' आधुनिक परिवेश की औरतों की तकलीफ़ों का कच्चा पक्का चिट्ठा है। भरोसा दिलाती है कि स्वयं नारी ही संघटित होकर बलात्कारी रावण का अग्निदाह कर सकती है। सभी कहानियाँ उत्कृष्टता की परिधि में हैं। विषय वैविध्य तथा शिल्प में अवगुंठित।

सुशील सिद्धार्थ जब किसी कहानी की समीक्षा करते हैं तो उसे जीवंत कर देते हैं और साँस भरने लगती है कहानी पाठक के हृदय में। 'बचा लो उसे', 'बचपन' लघुकथाएँ कथन की उत्कृष्टता को रेखांकित करती हैं। रचना श्रीवास्तव की कविता मर्म पर फूल सा फाहा रखकर दुलराती है और अपनी सी हो जाती है। सभी कविताएँ हृदय को छूने में सचेष्ट हैं।

सभी हाइकु मनमोहक रहे। ओरियानी के नीचे- रेनू यादव सारगर्भित, मारक लेख देती हैं। समाज में स्त्री की दशा पर व्यंग्य की अकाट्य धारा से पैनी छुरी भौंकती हैं। गीताश्री के कहानी संग्रह पर पंकज सुबीर - कहानी विषयों का वैविध्य-नारी विमर्श- सुगठित शिल्प और सबसे बढ़कर स्त्री और उसके प्रश्न- ये गीताश्री की कहानियों के मूल स्वर हैं - सार्थक समीक्षा है। आख़िरी पन्ना में सुधा जी का सटीक वाक्य है- आलोचना मनुष्य की मूल प्रवृति है। पत्रिका के उज्ज्वल भविष्य हेतु शुभकामनाएँ।

-शोभा रस्तोगी (भारत)

*****

कहानियाँ मर्म स्पर्शी

'हिन्दी चेतना' का सितम्बर 14 का अंक मिला। मैं बहुत अच्छा समीक्षक तो नहीं लेकिन बहुत अच्छा पाठक अवश्य हूँ। इस बार का अंक भी अन्य अंको की तरह लाजबाब था। श्री श्याम त्रिपाठी जी और श्रीमती सुधा ओम ढींगरा जी इसके संपादन में जितनी मेहनत कर रहे हैं उसी अनुपात में भारत में लोकप्रिय करने में भाई पंकज सुबीर जी और हिमांशु जी भी सराहनीय प्रयास कर रहे हैं।

रीता कश्यप जी की 'एक ही सवाल', आस्था नवल की 'उसका नाम' और नीरा त्यागी की 'क्या आज मैं यहाँ होती', कहानियाँ मर्म स्पर्शी थीं। शशि पाधा को बहुत पढ़ा है मैंने, उनकी प्रथा-कुप्रथा प्रेरक लगी। सौरभ जी की ग़ज़लें और रचना जी की क्षणिकाएँ पठनीय थीं। जो अविस्मरणीय स्तम्भ हैं; वो पुराने रचनाकारों की रचनाधर्मिता का ज्ञान करता है इसे बंद न करें।

-डॉ.विष्णु सक्सेना गीतकार (भारत)

*****

हिन्दी-साधना नमन योग्य

'हिन्दी चेतना' का जुलाई-सितम्बर अंक मिला। ढींगरा फ़ैमिली फ़ाउन्डेशन और हिन्दी चेतना के संयुक्त तत्वावधान में अंतर -राष्ट्रीय सम्मान समारोह का शुभारम्भ सराहनीय है। सम्मानित साहित्यकारों को हार्दिक बधाई, आयोजकों को साधुवाद!

सर्वप्रथम सम्पादकीय की बात आदरणीय त्रिपाठी जी का कथन अक्षरश: सत्य है। 'हिन्दी वालों' के द्वेष, वैमनस्य और ईर्ष्या के कारण, हिन्दी का सर्वादिक अपकार तो अपने 'घर' में हुआ है ! प्रबल, दुराग्रह पूर्ण विरोध हिन्दी अपने देश (राष्ट्र) में झेलती आई है, झेल रही है। दासत्व - मुक्ति के बाद भी, विगत ६७ वर्षों से एक ही कथा चल रही है- 'हिन्दी विरोध', मंच और पात्र बदलते रहे हैं। इस पृष्ठभूमि और परिवेश में प्रवासी साहित्यकारों की हिन्दी - साधना नमन योग्य है।

नवीन अंक क्या मिला मानो संजीवनी बूटी हाथ लग गई। सभी विधाओं की रचनाएँ एक से बढ़कर एक रहीं। रचना श्रीवास्तव की क्षणिकाएँ, सौरभ पाण्डेय की गज़लें, हाइकु का पूरा पृष्ठ, अदिति मजूमदार और ज्योत्स्ना प्रदीप की कविताएँ मनोरम हैं।

लघुकथा में 'हकीकत' (बालकृष्ण गुप्ता) और 'बचा लो उसे' (डॉ. पूरनसिंह) सामयिक समाज का दिग्दर्शन कराती हैं। इसी प्रकार कथाओं में 'फादर्स डे' (शैली गिल) 'कितने चेहरे' (रजनी गुप्त) वैश्विक स्तर पर छाई समस्यायों से रू-ब-रू कराती हैं। शशि पाधा का संस्मरण 'प्रथा -कुप्रथा' विचारत्तेजक / समाज को नई दिशा दिखाता है।

सचमुच अंक संग्रहणीय है, अनमोल है; संपादक -मंडल की सामग्री चयन -उत्कृष्टता बेमिसाल - अनुपम !!

-सुधा गुप्ता (भारत)

*****

स्तरीय अंक

आज ही हिन्दी चेतना का अंक मिला। अभी पूरा देख भी नहीं पाया था कि लिखने का मन किया। इस अंक में जिन साहित्यकारों को शामिल किया गया है, वे सभी सच्चे साहित्य के सितारे हैं। अर्थात सिर्फ छप जाने के लिए नहीं लिखते। मैं तो शायद इसकी समीक्षा के लायक भी नहीं हूँ। लेकिन एक पाठक की हैसियत से सभी रचनाकारों को हार्दिक बधाई ज़रूर देना चाहूँगा।

किसी एक रचना का ज़िक्र करना बाकी रचनाकारों के साथ नाइंसाफी होगी। सभी अपनी -अपनी जगह बहुत अच्छे लगे। आपको और आपकी पूरी टीम को भी बहुत-बहुत बधाई, जो इतने स्तरीय अंक निकालने में कामयाब रही। उम्मीद करता हूँ कि ग़ज़ल पर भी इस तरह का काम आप करेंगे, जिससे आज की ग़ज़ल की सच्ची सूरत सामने आए। एक बार फिर बहुत-बहुत बधाई।

-अशोक मिज़ाज (भारत)

*****

नये और पुराने दोनो लेखकों का संगम

इस बार के अंक में रीता कश्यप की कहानी 'एक ही सवाल' ज़िन्दगी की वो कटु सच्चाई है जिसे हम उम्र भर अनदेखा करते रहते हैं और कब हम अकेले और अवांछित तत्त्व में बदल जाते हैं पता ही नहीं चलता । कहानी के पात्र की मनोदशा के साथ-साथ बाकी के पात्रों की मन:स्थिति पर रौशनी डालते हुए लेखिका ने बड़ी सहजता से उस सच को कहा है कि इंसान सोचता तो बहुत कुछ है मगर जब उससे गुज़रता है तो उसे अहसास ही नहीं होता कि यदि वैसा हो गया तो हालात कैसे होंगे! शायद पहले से भी बदतर क्योंकि स्वप्न और हकीकत में बहुत फ़र्क होता है यही कहानी के माध्यम से दर्शाया गया है ।

रजनी गुप्त की 'कितने चेहरे' हर दूसरी स्त्री की कहानी है जो घर से बाहर निकलती है और कैसे वासनामय दृष्टियों से टकराती है मगर उसके साथ प्रतिकार भी अब ज़रूरी है आवाज़ उठानी ज़रूरी है इस तथ्य को बल दिया गया है ताकि जन जागृति हो सके।

आस्था नवल की 'उसका नाम' एक गृहिणी के जीवन का चित्रण है जहाँ वो खुद को मिटाकर एक संसार रचती है और उसी की बन कर रह जाती है सिर्फ़, माँ, मौसी, बहन, चाची, मामी, भाभी, जाते वक्त की किन परतों में खो जाता है उसका नाम, उसकी पहचान और जब कोई उसे अहसास कराता है तब जाकर समझ पाती है कि इन सब सम्बोधनों से इतर भी ज़रूरी है उसकी एक पहचान, एक नाम।

नीरा त्यागी की 'क्या आज मैं यहाँ होती' एक तलाकशुदा स्त्री के जीवन का दर्पण है तो दूसरी तरफ़ उसूलों, आदर्शों और मर्यादा के साथ जीने की एक स्त्री के अदम्य साहस की प्रत्यंचा है। तलाकशुदा होकर भी स्त्री चाहे तो अपनी शर्तों पर मर्यादा पूर्ण जीवन जी सकती है उसके लिए ज़रूरी नहीं होता किसी भी तरह का समझौता करना। वहीं 'कहानी भीतर कहानी' में सुशील सिद्धार्थ द्वारा किया गया गहन विश्लेषण पाठक को वृहद दृष्टि देता है जो अन्तस को छू जाता है। शैली गिल की 'फ़ादर्स डे' एक बार फिर बुजुर्गों के प्रति संवेदनहीनता का दर्शन है। वहीं लघुकथाएँ कम शब्दों में प्रभावकारी असर छोड़ती हैं।

शशि पाधा का संस्मरण 'प्रथा कुप्रथा' प्रभावशाली और अनुगमनीय संस्मरण है यदि सभी इसी तरह सोच सकें और कर सकें थोड़ी हिम्मत और थोड़ा जज़्बा रखें तो जाने कितनी ही ज़िन्दगियाँ बर्बाद होने से बच जाएँ और जाने कितनी ही ज़िन्दगियों में खुशियों की चमक बिखर जाए क्योंकि सरहद पर सिर्फ़ सैनिक ही शहीद नहीं होते उनके साथ उनका पूरा परिवार शहीद होता है यदि कुछ कुप्रथाओं का विरोध करने में पढ़े- लिखे लोग आगे आकर साथ दें और रहने खाने की व्यवस्था कर दें तो एक जीवन कैसे सुधर सकता है उसका वर्णन है जिस हेतु सरकारी महकमों के साथ जन जागृति भी ज़रूरी है ।

सौरभ पाण्डेय की गज़लें, शशि पुरुवार, सरस दरबारी, रश्मि प्रभा, रचना श्रीवास्तव, ज्योत्स्ना प्रदीप, सविता अग्रवाल, अदिति मजूमदार की कविताएँ, हरकीरत हीर, डॉ. उर्मिला अग्रवाल, डॉ. सतीश राज पुष्करणा के हाइकू, अनुवादित कविताएँ देकर पत्रिका को समृद्ध किया है। भारतेन्दु हरीशचन्द्र के परिचय के साथ डॉ. रेनु यादव का व्यंग्य 'क्योंकि औरतों की नाक नहीं होती' पत्रिका को सम्पूर्णता प्रदान करता है। देवी नागरानी द्वारा की गई पुस्तक समीक्षा कमल किशोर गोयनका द्वारा प्रेमचंद की कहानियों का कालक्रमानुसार अध्ययन, यात्रा संस्मरण पर आधारित 'नीले पानियों की शायराना हरारत' की रघुवीर द्वारा की गई समीक्षा और फिर पंकज सुबीर द्वारा गीताश्री की किताब 'प्रार्थना के बाहर और अन्य कहानियाँ' की समीक्षा पत्रिका को न केवल सम्पूर्णता प्रदान करती है बल्कि पत्रिका को गरिमामय के साथ पठनीय भी बनाती है। एक ही पत्रिका में सम्पूर्ण साहित्य को सहेजना साथ ही साहित्य समाचारों को भी स्थान देना संपादक के कुशल संपादन को दृष्टिगोचर करता है । एक कुशल संपादक को दूरदर्शी होने के साथ वर्तमान परिप्रेक्ष्य को ध्यान में रखकर पत्रिका का संपादन करना होता है और सुधा जी उसमें पूरी तरह सक्षम हैं तभी तो सभी दिग्गजों को पत्रिका में स्थान तो मिल ही रहा है साथ ही नवोदितों के लिए भी खास जगह बना रखी है और यही एक पत्रिका की सफ़लता का पैमाना है; जहाँ नये और पुराने दोनो लेखकों का संगम हो वहीं तो साहित्य की गंगा निर्बाध रूप से बहा करती है ।

वन्दना गुप्ता (भारत)

*****

शुभकामनाएँ एवं बधाई

भारत सरकार के मानव संसाधन विकास मंत्रालय द्वारा वरिष्ठ साहित्यकार डॉ. कमल किशोर गोयनका को केंद्रीय हिन्दी संस्थान आगरा के उपाध्यक्ष के रूप में मनोनीत किया है। उन्होंने 11 सितम्बर को अपना पदभार ग्रहण कर लिया है। डॉ. कमल किशोर गोयनका 'हिन्दी चेतना' के परामर्श मंडल में भी हैं। हिन्दी चेतना परिवार की ओर से उन्हें बहुत-बहुत शुभकामनाएँ एवं बधाई।

लेखकों से अनुरोध

बहुत अधिक लम्बे पत्र तथा लम्बे आलेख न भेजें। अपनी सामग्री यूनीकोड अथवा चाणक्य फॉण्ट में वर्डपेड की टैक्स्ट फाइल अथवा वर्ड की फाइल के द्वारा ही भेजें। पीडीएफ़ या स्कैन की हुई जेपीजी फ़ाइल में नहीं भेजें। रचना के साथ पूरा नाम व पता, ई मेल आदि लिखा होना ज़रूरी है। आलेख, कहानी के साथ अपना चित्र तथा संक्षिप्त सा परिचय भी भेजें। चित्र की गुणवत्ता अच्छी हो तथा चित्र को अपने नाम से भेजें। पुस्तक समीक्षा के साथ पुस्तक आवरण का चित्र, रचनाकार का चित्र अवश्य भेजें।

-सम्पादक

सूचना

'हिन्दी चेतना' पत्रिका अब कैनेडा के साथ-साथ भारत से भी प्रकाशित हो रही है। पत्रिका के सदस्य बनना चाहते हैं या पत्रिका के एक-दो अंक पढ़ने के लिए मँगवाना चाहते हैं तो आप संपर्क कर सकते हैं-

रामेश्वर काम्बोज 'हिमांशु'
मोबाइल : 9313727493
पंकज सुबीर
मोबाइल : 9977855399

Beacon Signs

1985 Inc.

7040 Torbram Rd.Unit # 4, Mississauga, ONT.L4T3Z4

Specializing In :

Illuminated Signs Awnings & Pylons
Channel & Neon Letters

Banners
Silk Screen

Arthitectural Signs
Vehicle Graphics
Engraving

Design Services

Precision CNC Cutout Letters
(Plastic, Wood, Metal & Logos)
Large Format Full Colour Imaging System
Sales - Service - Rentals

Manjit Dubey

दुबे परिवार की ओर से हिन्दी चेतना को बहुत बहुत शुभकामनायें

Tel:(905) 678-2859 Fax :(905) 678-1271

Email: beaconsigns@bellnet.ca

अतिथि सम्पादकीय

कथा-आलोचना विशेषांक

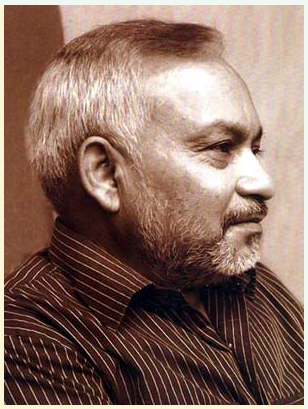

डॉ. सुशील सिद्धार्थ

जन्म : २ जुलाई, १९५८, सीतापुर (उत्तर प्रदेश)।

शिक्षा : हिन्दी साहित्य में पीएॅच.डी (लखनऊ)। पीएॅच.डी हेतु विश्वविद्यालय अनुदान आयोग से फेलोशिप प्राप्त हुई।

प्रकाशित पुस्तकें : नारद की चिन्ता, प्रीति न करियो कोय, मो सम कौन (व्यंग्य संग्रह), बागन बागन कहै चिरैया, एका (अवधी कविताएँ), श्रीलाल शुक्ल संचयिता (डॉ. नामवर सिंह के साथ सम्पादन), मेरे साक्षात्कार (शिवमूर्ति के साक्षात्कार), हिन्दी कहानी का युवा परिदृश्य (३खंड, सम्पादन)

पत्र-पत्रिकाओं में : प्रमुख पत्र पत्रिकाओं में व्यंग्य, आलोचना-लेख आदि का प्रकाशन। आईना (सहारा समय), आदाब अर्ज है (राष्ट्रीय सहारा), चुटकी (दस्तक), पढ़ते-लिखते (नया ज्ञानोदय), स्तंभों का लेखन। फिलहाल, राग लन्तरानी (कथाक्रम) व वक्र दृष्टि (लोक स्वामी) स्तम्भ जारी।

सम्पादन : 'तद्भव' व 'कथाक्रम' पत्रिकाओं में सम्पादन सहयोग। 'नया ज्ञानोदय' (भारतीय ज्ञानपीठ) में २ वर्ष सह सम्पादन। उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान की पत्रिका 'साहित्य भारती' का सह सम्पादन। 'लमही' के तीन अंकों का अतिथि सम्पादन। उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान से प्रकाशित मुंशी प्रेमचन्द की १० कहानियों का चित्रोपयोगी सम्पादन। फिलहाल, त्रैमासिक पत्रिका 'दूसरी परम्परा' का सम्पादन।

अन्य : लखनऊ विश्वविद्यालय के पत्रकारिता विभाग में ३ वर्ष अतिथि अध्यापक। महात्मा गाँधी अन्तरराष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय, वर्धा में कुछ समय मीडिया लेखन का अध्यापन। कथाकार कमलेश्वर के साथ 'युग', 'विराट' आदि धारावाहिकों का लेखन। दूरदर्शन के लिए बीस वृत्तचित्रों और तीन धारावाहिकों का लेखन। दूरदर्शन के दिल्ली व लखनऊ केन्द्रों के साहित्यिक कार्यक्रमों में लेखन और संचालन। 'राग दरबारी' का ५२ एपीसोडों में रेडियो रूपांतर।

सम्मान/पुरस्कार/फेलोशिप : पीएॅच.डी. हेतु विश्वविद्यालय अनुदान आयोग से शोधवृत्ति। बी.ए. ऑनर्स और एम.ए. स्पेशल में प्रथम स्थान के साथ प्रथम श्रेणी प्राप्त करने पर स्वर्ण पदक और छात्रवृत्ति। उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान द्वारा व्यंग्य लेखन पर २ बार 'पंडित श्रीनारायण चतुर्वेदी नामित पुरस्कार'। उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान द्वारा अवधी कविता पर २ बार 'जायसी नामित पुरस्कार। कुछ अन्य संस्थाओं द्वारा सम्मानित।

इससे पूर्व : पाँच वर्ष तक 'भारतीय ज्ञानपीठ', नई दिल्ली में वरिष्ठ प्रकाशन अधिकारी।

संप्रति : सम्पादक दूसरी परंपरा।

अभिरुचि : साहित्य, संस्कृति, पत्रकारिता, रंगमंच और सिनेमा।

सम्पर्क : किताबघर प्रकाशन, ४८५५-५६/२४, अंसारी रोड
दरियागंज, नई दिल्ली ११०००२

मोबाइल: ०९८६८०७६१८२,

ईमेल : sushilsiddharth@gmail.com

सरे राह चलते-चलते

'जिज्ञासा' संस्था की कहानी केन्द्रित गोष्ठी में बोलते हुए आलोचक पुरुषोत्तम अग्रवाल ने कुछ इस तरह कहा था कि मौजूदा दौर में हिन्दी आलोचना समृद्ध नहीं है। आज सारी दुनिया में विमर्शों की भरमार है, पर रचना के मूल पाठ पर चर्चा बहुत कम होती है। आलोचना के समृद्ध होने में लेखकों की ओर से भी रुकावटें हैं। वे अपनी कृतियों की सिर्फ प्रशंसा सुनने की ही अपेक्षा रखते हैं। वे आलोचकों की खरी-खोटी टिप्पणी को सहन नहीं कर पाते।

मैं कई बार पुरुषोत्तम अग्रवाल के इन शब्दों को याद करते करते कहीं खो जाता हूँ। खो इसलिए जाता हूँ कि इन शब्दों के आसपास जाने कितने शब्द आकर खड़े हो जाते हैं। एक घना जंगल सा बन जाता है। इसमें मेरे जैसा सामान्य पाठक खो जाता है। यह लिख रहा हूँ, इसी जंगल में सरे राह चलते-चलते आए कुछ बेहतरीन विचार हैं। मैं बहुत शास्त्रीय और सर्वे भवन्तु सुखिनः शैली में लिख भी नहीं पाता। इसलिए बहुतेरे पाठक मेरे लिखने की लेकर हैरान परेशान रहते हैं। यह कहने को तो सम्पादकीय के स्तंभ में छप रहा है, पर यह एक मन की मौज है।

कहने को तो रचना और आलोचना का एक अनिवार्य रिश्ता है। सहधर्मिता हैं। पूर्वापर संबंध है। बहुत कुछ है। ..... लेकिन रचना के आदि समय से आज तक दोनों में शायद ही कभी संतोषप्रद रिश्ते रहे हों। समानधर्मा न मिलने पर ही भवभूति ने अपना प्रसिद्ध श्लोक कहा होगा। समझदार न मिलने पर ही ग़ालिब दुखी हुए होंगे,' न सही गर मेरे अशआर में मानी न सही।' प्रेमचंद, निराला, प्रसाद किसको सही विश्लेषक की कमी महसूस न हुई। रचनाकार को शिकायत है कि मैंने जो लिखा उसे आलोचक समझ नहीं सका। आलोचक का कहना है कि समझने लायक कुछ था ही नहीं। कहने को बार-बार कहा जाता है कि समाज में साहित्य का स्पेस सिकुड़ रहा है। इस सिकुड़ते स्पेस में रचना और आलोचना के बीच का मुकाबला दिलचस्प है। छोटे से स्पेस में एक छोटी सी तथाकथित सत्ता है। जिसपर कब्ज़ा करने की लड़ाई चलती रहती है। सभा में एक ओर से गर्वोन्नत रचनाकार और दूसरी ओर से आतुर आलोचक का प्रवेश। सिंहासन पर दोनों की नज़र।

रचनाकार कहे कुछ, मगर वह हमेशा अपने को नंबर वन, सही और अग्रगामी मानकर चलता है। अब रचनाकार क्या बड़ा क्या छोटा। शंकर जी की बटिया चाहे बड़ी हो चाहे छोटी। चेखव ने आलोचक को घोड़े की पूँछ पर बैठी मक्खी कह दिया तो गर्भस्थ रचनाकार को भी हक प्राप्त है कि बड़े से बड़े आलोचक पर ऐसे कमेन्ट करे 'अब वे चुक गए हैं, वे अपने चमचों की ही तारीफ करते हैं, उन्होंने बरसों से कुछ नया नहीं पढ़ा, वे ऽ ऽ ऽ हा हा हा, वे छोड़ो यार।'

निर्माणाधीन मनीषा कुलश्रेष्ठ ने नामवर सिंह को सलाह दी थी कि वे अपने चश्मे का नंबर बदल लें। एक बार विश्वनाथ त्रिपाठी ने नए कथाकारों को साहस करके एक सलाह दे डाली थी तो एक उदीयमान ने उनके बोलने, खाने और खड़े होने पर शोकप्रस्ताव सा जारी कर दिया था। 'पहल' सम्पादक, लेखक और रचनाशीलता के अचूक मर्मज्ञ ज्ञानरंजन ने इधर की कहानियों में एक कमी की ओर इशारा किया था तो तत्कालीन ज्ञानपीठ की परिक्रमा करने वाले अल्पकालीन लेखकों ने उनपर हमला सा बोल दिया गया। ..इसके बावजूद लेखकों की सबसे बड़ी इच्छा, कि नामवर सिंह, विश्वनाथ त्रिपाठी, ज्ञानरंजन और तमाम लोग उनके कथा साहित्य की नोटिस लें, लिखें (मतलब अच्छा लिखें)। भई, ऐसी इच्छा क्यों !

'कथाक्रम' लखनऊ में काशीनाथ सिंह ने कहा कि हमें आलोचक की ज़रूरत नहीं है। काशीनाथ जी जब मंच से आलोचक की ऐसी तैसी करते हैं तो श्रोता उसे 'बड़े भैया' से जोड़कर खूब तालियाँ ठोकते हैं। इसे उनका रचनात्मक साहस बताते हैं। बहरहाल, मैंने पूछा था कि क्या एक दिन आपको पाठकों की भी ज़रूरत नहीं रहेगी। 'आलोचक ' शब्द प्रयोगकर्ताओं की लोकतांत्रिक कृपा से इस गति को प्राप्त है कि उसका अर्थ प्राय: निदंक ही लिया जाता है। कहीं भी कोई कहे कि उसने मेरी आलोचना की तो सामने वाला एकदम अदबदाकर कबीर को याद करेगा, 'अरे, निदंक नियरे राखिए आँगन कुटी छवाय।' शाबाश !!

तो निन्दक या आलोचक के बारे में कमोबेश यही माहौल है। लेकिन मामला एकतरफा शिकायत का नहीं है। 'समकालीन साहित्य समाचार' के दिसंबर 2013 विशेषांक में मदन कश्यप के साथ बातचीत में डॉ. विश्वनाथ त्रिपाठी के वाक्य हैं, 'हाँ इधर की एक चीज़ मुझे परेशान करती है। आज के रचनाकार आलोचना के घटियापन की शिकायत करते हैं। .... यह तरीका सही नहीं है। रचनाकारों को अपनी कमियों पर भी बात करनी चाहिए। बल्कि आलोचना से यह शिकायत की जा सकती है कि वहाँ आज की रचना की गड़बड़ियों पर बात नहीं हो रही है। ..... आलोचना का मुख्य कर्म है अपने समय की रचना और रचनाशीलता का विवेचन और इसी क्रम में परंपरा का पुनर्मूल्यांकन। ..... इन दिनों गाँव की जो कहानियाँ लिखी जा रही हैं, उनमें भूमि का संघर्ष भी सास-ननद, देवरानी-जेठानी की लड़ाइयों जैसा है। गाँव, लठैती क़त्ल सब कुछ सिनेमा और टीवी सीरियलों जैसा। शिवमूर्ति की कहानियाँ बेहद पठनीय हैं लेकिन दिशाहीन।..... इधर के नए कहानीकारों में कथानक की रूढ़ियाँ बहुत जल्दी बन गईं। लोकजीवन का मतलब लोक शब्दों की समझ तक सीमित हो गया। जीवन बटोरा तो बहुत गया लेकिन ठीक से संयोजित नहीं हुआ। कहानी के केन्द्र में कोई एक ही बात होनी चाहिए। .... कथानक में बिखराव से कहानी की कला भी नष्ट होती है।' यह एक खिड़की है जिससे हिन्दी कथा आलोचना के घर आँगन की सक्रियता की थोड़ी सी झलक मिलती है।

000

इस बात से कौन इन्कार करेगा कि पिछले ढाई तीन दशक में अनेक उल्लेखनीय कहानियाँ सामने आईं, कई महत्त्वपूर्ण उपन्यास प्रकाशित हुए और इनको केन्द्र में रखकर पर्याप्त आलोचना लिखी गई। फिर भी यह एक चिन्तनीय समय है। ज़रा दूसरे तरीके से सोचें तो इन दशकों में भारतीय समाज (विशेषकर वह वर्ग जो हिन्दी पढ़ता लिखता है, जिसका कई तरह का नाता हिन्दी कथा साहित्य से है) क्या वही रह गया है जो इससे पहले था। क्या समाजिक रिश्तों में वही आत्मीयता, गहराई, ऊष्मा, ज़िम्मेदारी, भागीदारी, वफ़ा बची है! क्या पैसे ने नए सिरे से शब्दकर्मियों, बुद्धिजीवियों की 'अस्मिता' को परिभाषित नहीं किया है! क्या कैरियरिस्ट होना एक अनिवार्य बुराई की तरह स्वीकृत नहीं हुआ! क्या जीवन के तमाम क्षेत्रों में योग्य पदों पर अयोग्य व्यक्तियों के आसीन होने की रफ़्तार नहीं बढ़ी! क्या प्रकाशकों के सामने लेखकों के भूलुंठित होने का प्रतिशत नहीं बढ़ा! क्या पुरस्कारों की सूची जनगणना सूची से मुकाबला नहीं कर रही! क्या सम्मानों-पुरस्कारों की इतनी छीछालेदर पहले थी! और क्या इन्हें प्राप्त करने की इच्छा में हिंसा,षड्यन्त्र, संगठित प्रहार इस तरह शामिल थे ! आदि-आदि! इन सबका प्रत्यक्ष -अप्रत्यक्ष रिश्ता हिन्दी कथालोचना से है।

....इसके बावजूद विजयमोहन सिंह, रविभूषण, अर्चना वर्मा, श्रीराम त्रिपाठी, रोहिणी अग्रवाल, विभास वर्मा, वैभव सिंह, राहुल सिंह, बलवंत कौर, विजय शर्मा, अनीता भारती, बजरंग बिहारी तिवारी, साधना अग्रवाल, वीरेन्द्र यादव, नलिन रंजन सिंह, प्रज्ञा, रामजी तिवारी, अविनाश मिश्र, प्रीति चौधरी, प्रियम अंकित, राकेश बिहारी, पंकज पराशर आदि कथा आलोचक अपना काम मुस्तैदी से कर रहे हैं। नामवर सिंह, मैनेजर पांडेय, विश्वनाथ त्रिपाठी अब अध्यक्षता करते हुए शुभकामनाएँ दे रहे हैं। वे अपने हिस्से का महत्त्वपूर्ण काम कर चुके। मूलत: कथाकार होने के बावजूद रमेश उपाध्याय और ज्ञानरंजन की पैनी दृष्टि कथा-सक्रियता पर है। हमें इनकी निष्पक्षता, तार्किकता और विश्लेषण पद्धति पर भरोसा है। यहाँ नाम किसी अनुक्रम में नहीं लिए गए हैं, यह बताने की ज़रूरत शायद न हो।

ये कथालोचक यदि कहानियों और उपन्यासों को इस कठिन समय में भलीभाँति परख रहे हैं तो इस बात का आदर करना चाहिए। ...वरना समय की विचित्रता पर मदन कश्यप की कविता 'मध्यवर्ग का कोरस' इस अंश के साथ याद आती है-

'आप क्रांति करना नहीं चाहते
मगर क्रांति होते देखना चाहते हैं
आपके बारे में सिर्फ यह तय है
कि कुछ भी तय नहीं है

इस एक बात से कितना फर्क पड़ जाता है
कि आपको कोई फर्क नहीं पड़ता।'

कठिन समय का ज़िक्र इसलिए किया कि इसके चक्रपुराण के कारण सच कहने का साहस घटा है। लेखक छवियों में जन-पक्षधर दिखाना चाहते हैं, जीवन में नहीं। आत्मालोचन की आदत बहुत चतुराई से निरस्त हुई है। कोई दूसरा कहता है तो बुरा लगने में देर नहीं लगती। पिछले दिनों अतिवादी विष्णु खरे ने कवियों के संदर्भ में कहा कि सुअरिया के बच्चों की तरह छह-छह कविता संग्रह आए जा रहे हैं। ज़ाहिर है, यह कोई भाषा नहीं है। इसकी निंदा हुई और आगे भी होगी। भाषा यह न हो, मगर नित्यकर्म की भाँति जिस तरह कहानियों, कविताओं का कुछ लोग 'त्याग' कर रहे हैं, उसे सभ्य भाषा में क्या कहेंगे! आलोचक इसीलिए होता है कि वह रचनाकार से (रचनाओं के माध्यम से) संवाद करके कुछ ज़रूरी बातें सामने रख सके। कई बार रचनाकार संवाद के लिए तैयार ही नहीं होता। उसे संपादकों, संपादकों के लगुए-भगुए टिप्पणीकारों और कुछ उद्दंड प्रकाशकों का 'नैतिक समर्थन' हासिल होता है।

रचनाकार ध्यान देने से कई बार चूक जाते हैं तभी उनका ध्यान ज्ञानरंजन की इन बेहद ज़रूरी बातों पर नहीं जाता जो उन्होंने इधर के रचनाकारों को ध्यान में रखकर कही थीं- ''....कहानी में चमत्कारी प्लाट और मूसलाधार बारिश जैसी भाषा के अस्तित्त्व को आज भी मानने के लिए तैयार नहीं हूँ। आज शत प्रतिशत विपुल भरमारी वाक्यों की कहानी लिखी जा रही है। वे सफल उद्दीप्त और भव्य शुभकामनाएँ भी पा रही हैं। संरक्षक भी हैं पर वे अंततः उपयोग संस्कृति का बड़ा हिस्सा हैं। एक गहरी उथल-पुथल के साथ जब कहानी शुरू होती है तो कई बार लगता है कि वह एक अर्थहीन हास्यास्पद-सी बात को संगीन बनाने जैसा काम कर रही है। लेकिन फिर स्याही फैलने लगती है, चमकने लगती है धीरे-धीरे। एक विह्वलता-भरा स्वप्न हमें खरोंचने लगता है। लगता है कहीं सब बरबाद न हो जाए इसलिए बेहतर है कि स्वप्न देखें। स्वप्न और खुली दुनिया के बीच अपनी कहने लायक बात को और पुख़्ता करें, काबू में लाएँ। इधर-उधर भागते, टूटते मंज़रों का गुरुत्वाकर्षण सही करके अपनी कहानी को दृष्टि के सामने लटका दिया जाए साफ-साफ देखने के लिए। वास्तविकताओं को पकड़ने के लिए एक धुंध में छुप जाना होता है। यह एक तरह से जंगल में सबसे चपल पशु का शिकार है। जैसा लोर्का ने लिखा है कि सच्चाई अत्यंत नृंशस मुखौटों और भीषण अशांति के बीच दुबकी रहती है। अगर हम पराजित हो गए, आत्मसमर्पण कर दिया तो कविता कभी नहीं हो सकती। मैं जोड़ना चाहूँगा कि कहानी कभी नहीं हो सकती।''

'हिन्दी चेतना ' के इस अंक को सम्पादित करने का ज़िम्मा जब सुधा ओम ढींगरा ने मुझे दिया तब धीरे-धीरे बहुत सारी बातें मन में आईं। पंकज सुबीर से खूब बातचीत हुई। लेखकों से फोन, फेसबुक इनबॉक्स और मेल के ज़रिए विचार विमर्श हुआ। यह सुख-संतोष की बात है कि ज़्यादातर लेखकों ने समय पर लेख दे दिए। अस्वस्थ होने के कारण संजीव कुमार, प्रियम अंकित, भालचंद्र जोशी अपना काम पूरा न सके। वे भी इस अंक में रहते तो बहुत अच्छा लगता। नामवर जी अनमने लगे और विश्वनाथ त्रिपाठी अन्यमनस्क, इसलिए बातचीत नहीं जा रही है। मेरा यह भी मानना है कि साक्षात्कार में अगर कोई नई बात नहीं निकलती तो केवल 'अनुक्रम की गरिमा' बढ़ाने से क्या लाभ। या यह संदेश देने में क्या सार्थकता कि देखो हमने इनसे भी बात की। हाँ, मैत्रेयी पुष्पा बातचीत के लिए तैयार थीं, मगर उनसे एक दूसरा रास्ता निकला। किताबघर प्रकाशन 'मैत्रेयी पुष्पा रचना संचयन' प्रकाशित कर रहा है। इसका सम्पादन मैं कर रहा हूँ। मैत्रेयी पुष्पा से 'कथालोचना अंक' से ज़्यादा 'संचयन' की अनुकूलता लगी।

इस अंक में प्रवासी कथा साहित्य को केन्द्र में रखकर कई आलेख हैं। कोशिश यही है कि प्रवासी कथा लेखन को 'समग्र हिन्दी कथा लेखन' की तरह पढ़ा परखा जाए।

000

इस मन की मौज में मैं कथा आलोचना पर कोई बात इसलिए नहीं करूँगा क्योंकि अंक में मौजूद सामग्री से मेरी ज़्यादातर सहमति है। बेवजह ज्ञान बघारने का कोई मतलब नहीं। एक पाठक की हैसियत से इतना कहना है कि संजीव, मैत्रेयी पुष्पा, अखिलेश, असग़र वजाहत, अल्पना मिश्र, आकांक्षा पारे, पंकज सुबीर, मनोज रूपड़ा,नीलेश रघुवंशी, विमलचंद्र पांडेय, विवेक मिश्र, किरन सिंह, प्रज्ञा पांडेय, सुदर्शन प्रियदर्शिनी, अर्चना पेन्यूली, सुषम बेदी, सुधा ओम ढींगरा, तेजेन्द्र शर्मा जैसे अनेक रचनाकार लगातार आलोचकों को चुनौती दे रहे है। इनकी चुनौती और कथा आलोचकों की अंतर्दृष्टि के द्वन्द्व में ही सार्थक रचनाशीलता विकसित हो रही है।

विश्वनाथ प्रसाद तिवारी को उद्धृत करने की इच्छा हो रही है कि आलोचना को, 'शक्ल बदलने की ज़रूरत है। उसे नए रूप में अर्थात टिप्पणी के रूप में, डायरी, पत्र आदि अनेक रचनात्मक रूपों में आने की ज़रूरत है। आलोचना यदि रचनात्मक होगी और उसकी शब्दवाली समकालीन प्रचलित शब्दावली से भिन्न होगी तभी आलोचना का परिदृश्य बदलेगा।'....परिदृश्य बदल रहा है, इसका प्रमाण है 'हिन्दी चेतना' का यह अंक। अब अंक पाठकों की सम्पत्ति है। अंक को संभव करने वाले सारे व्यक्तियों का आभार!

सुधा ओम ढींगरा

सुशील सिद्धार्थ

''ढींगरा फ़ाउण्डेशन-हिन्दी चेतना अंतर्राष्ट्रीय सम्मान'' हेतु पुस्तकें आमंत्रित

''ढींगरा फ़ाउण्डेशन-हिन्दी चेतना अंतर्राष्ट्रीय सम्मान''

वर्ष-2014 हेतु चयन प्रक्रिया प्रारंभ हो चुकी है। इस प्रक्रिया में वर्ष 2014 में प्रकाशित हिन्दी उपन्यासों तथा हिन्दी कहानी संग्रहों पर विचार किया जाएगा तथा वर्ष 2015 में सम्मान समारोह कैनेडा /अमेरिका में आयोजित किया जाएगा। इस हेतु पुस्तकें आमंत्रित हैं। पुस्तक पर लिखें

''ढींगरा फ़ाउण्डेशन-हिन्दी चेतना अंतर्राष्ट्रीय सम्मान वर्ष-2014 हेतु''

31 दिसम्बर 2014 तक प्राप्त पुस्तकें चयन प्रक्रिया में शामिल की जाएँगीं। सम्मान हेतु पुस्तक की दो प्रतियाँ इस पते पर भेजें-

पंकज सुबीर (समन्वयक-भारत)
हिन्दी चेतना, पी. सी. लैब
शॉप नं. 3-4-5-6
सम्राट कॉम्प्लैक्स बेसमेंट
बस स्टैंड के सामने
सीहोर 466001, मध्य प्रदेश
दूरभाष 07562-405545
मोबाइल 09977855399
ईमेल subeerin@gmail.com

इस देश का लेखक और बौद्धिक कभी भी घुटने नहीं टेकता, न हारता है

डॉ. विजय बहादुर सिंह

यों अब प्रेमचन्द की परम्परा को याद करने का सप्रयोजन और घिसा-पिटा चलन चर्चा से बाहर है फिर भी मैं अपने इस आलेख की शुरुआत उन्हीं की चर्चा से करना चाहता हूँ। प्रयोजन यह कि प्रेमचन्द ने वह क्या किया जिससे अब भी उनके पाठक प्रचुर संख्या में हैं और जैनेन्द्र, अज्ञेय की तुलना में वे छप और बिक भी ज़्यादा रहे हैं। कारण यही कि प्रेमचन्द में यथेष्ट कथा-रस है। किन्तु इससे भी बड़ा जो कारण है वह उनके द्वारा आनीत जीवन-यथार्थ और जीवन-बोध है जो पूर्व के कथाकारों से प्रेमचन्द्र का अलगाव और ऐतिहासिक दृष्टि से एक नया कथा-प्रस्थान सूचित करता है जो सिर्फ लेखक और पाठक के बीच का आपसी मामला नहीं है। वह एक राष्ट्रीय जीवन यथार्थ है और इसे चित्रित करते हुए उनकी वैचारिक सजगता तो सक्रिय रहती ही है, उनकी गहरी सहानुभूति, करुणा और उदात्त संवेदना भी अपना प्रभाव छोड़ती रहती है। मेरी अपनी दृष्टि में यही प्रेमचन्द की अपनी परम्परा है। न कि कुछ और। प्रेमचन्द्र समाज में व्याप्त असंगतियों और उसके ढाँचे के केन्द्र में बैठे जर्जर सामंतवाद को तो लक्ष्य कर ही रहे थे, उस व्यवस्था की सड़ाँध और बदबू को जीते भोले-भाले किसानों को आगाह भी करना चाहते थे। उस समय के ब्रिटिश साम्राज्यवाद के प्रति तो उनके मन में स्थायी कोप था और वे इसीलिए उस राष्ट्रीय आन्दोलन के साथ थे जो साम्राज्यवाद विरोधी था और उससे मुक्ति के लिए संघर्ष कर रहा था।

इन्हीं स्थितियों में, बल्कि कहना चाहिए उनसे भी अधिक गम्भीर, भयावह और जटिल नव-साम्राज्यवाद इस देश को अपनी चपेट में ले चुका है। इसके मूल में अगर याद करें तो राजीव गाँधी के ज़माने में अवतरित हुआ डंकल प्रस्ताव, उदारीकरण, ग्लोबल अन्तरराष्ट्रीयता और विकास की वे नई नीतियाँ और सिद्धान्त हैं, जिन्हें एक रूपक में बाँधते हुए साथी लेखक काशीनाथ सिंह ने 'काशी का अस्सी' में गया सिंह नामक पात्र के मुँह से कहलवाया है-''गया सिंह हँसे, क्या हो रहा है गलियों में देखा है कभी ? डालर का धंधा ! दीन बन्धु, डॉलर अमरीका की जीभ है। वह शुरू में ऐसे ही किसी मुल्क को चाटना शुरू करता है जैसे गाय बछड़े को चाटती है-प्यार के साथ। बाद में जब चमड़ी छिलने लगती है, खाल उघड़ने लगती है, दर्द शुरू हो जाता है, जीभ पर काँटे उभरते दिखाई पड़ने लगते हैं, जबड़े चलने की आवाज़ सुनाती है तब पता चलता है कि यह जीभ गाय की नहीं; किसी और जानवर की है। और क्या समझते हो, जो देखते-देखते देश का देश

डॉ. विजय बहादुर सिंह
२९, निराला नगर
दुष्यंत कुमार मार्ग
भोपाल ४६२००३ मप्र
मोबाइल ९४२५०३०३९२

चला गया हो और उसमें भी सोवियत रूस जैसा देश-उसके लिए नगर का मुहल्ला क्या चीज़ है ?''

इस सन्दर्भ में मुझे उदय प्रकाश की दो कहानियाँ भी याद आ रही हैं-'पॉल गोमरा का स्कूटर' और 'वारेन हेस्टिंग का साँड'। वस्तुत: अपने शिल्प और संरचना में लेखक के विकास की दृष्टि से मुझे निराला की दो कालजयी कविताओं की याद दिला रही हैं-'सरोज स्मृति' और 'राम की शक्ति पूजा' की। पहली में एक जीवन-योद्धा की असफलता, दुख और वेदना का चीत्कार है तो दूसरी में उसके संकल्पों की दृढ़ता, अविचलता, उसका पौरुष और उसकी अपराजेयता और जय का विधान है। उदय की इन दोनों कहानियों में वह याद किया जा सकता है। उदासी, थकान और पराजय-बोध के आगे भी हम भारत के लोगों की अनथक संघर्षजीविता, जिजीविषा, प्रतिरोध, प्रतिकार और पराजय को जय में बदल डालने वाली हमारी जीवन-आस्था यहाँ महसूस की जा सकती है। मैं मानता हूँ कि इस देश का लेखक और बौद्धिक कभी भी घुटने नहीं टेकता, न हारता है। उसके अनथक अटूट सपने हमेशा अपने लोगों का प्रकाश-स्तम्भ बन उन्हें अँधेरे में रास्ता दिखाते रहते हैं। आज भी वे खामोश बैठे हुए नहीं हैं। इस सन्दर्भ में मुझे उन्नीस सौ सत्तानबे में प्रकाशित भगवान सिंह का विडम्बनात्मक उपन्यास 'परमगति' याद आता है जिसकी प्रारम्भिक पंक्तियाँ हैं ''दुनिया लट्टू की तरह एक धुरीय हो गई है। इसकी-डोर बटने, करने, लपेटने, खींचने और नचाने की जगह सिमट आई है। उसके प्रवक्ता बता रहे हैं कि इतिहास खत्म हो गया है।''

''विश्व-पूँजीवाद का नया चेहरा पुराने से अधिक कोमल और चरित्र उससे कई गुना अमानवीय है। माउंटबैटन ने एक बार चर्चिल से कहा था ''जनाब, कोई ऐसा काम है ही नहीं जो मैं न कर सकूँ।'' उस कारनामे को देश कई रूपों में देख चुका है। इसके बाद भी यह बात पूरी तरह नवपूँजीवाद पर लागू होती है जो अपने लाभ के लिए जघन्यतम कृत्य कर सकता है।''

इस सन्दर्भ में अगर हम पत्रकार राम बहादुर राय द्वारा प्रस्तुत 'मंजिल से ज्यादा सफर' जैसी प्रामणिक बातचीत वाली पुस्तक के पन्ने पलटें तो इससे जान सकेंगे कि कॉरपोरेट सेक्टर, विश्व-बैंक, अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा कोष, अमेरिका की अगुवाई में वस्तुत: क्या क्या कारनामे करते हैं। पुस्तक में यह भी दर्शाया गया है, विश्वनाथ प्रसाद सिंह, जो भारत के वित्त मंत्री रह चुके थे-कि अमेरिका अपनी नीतियाँ मनवाने के लिए पहले तो दबाव बनाता है फिर भी विश्वनाथ प्रसाद सिंह जैसे मंत्रियों से बात नहीं बनती तो भारत में बैठी अमेरिकन लाबी के दबाव से उसका मंत्रालय या तो बदलवा देती है या फिर छिनवा। भारत में यह सब प्रधानमंत्री राजीव गाँधी के जमाने से होता चला आ रहा है और यूपीए एक और दो में तो उसके दलाल लोग ही सर्वेसर्वा बने बैठे एकसूत्र जैसा कार्यक्रम चला रहे थे। संप्रभुता और राष्ट्रीयता का कोई अर्थ नहीं बचा रह सका था। किसानों को सब्सिडी देने के मुद्दे पर अभी भी भारत और अमरीका में ठनी हुई है। वह अब इस देश की रीढ़ पर ही प्रहार कर हमारी स्वाधीनता की कमर तोड़ डालना चाहता है। उसे ऐसी कोई भी स्वाधीनता अपने साम्राज्य प्रसार के लिए बाधक और अपराधपूर्ण लगती है। मेरा सोचना है कि साहित्य अगर सचमुच राजनीति के आगे चलने वाली मशाल है तो राजनीति अगर घुटने टेक भी दे तो साहित्य को घुटने और रीढ़ को बचाकर इस देश की अस्मिता की रक्षा करना लेखक और उसके लेखन की राष्ट्रीयता है। यहीं प्रेमचन्द फिर हमारे लिए बार-बार प्रासंगिक हो उठते हैं और याद दिलाते हैं।

भगवान सिंह, उदय प्रकाश, काशीनाथ सिंह को दरकिनार करके भी हमारी सचेतनता अगर चलना चाहे तो लेखकों की एक पूरी कतार हमें इस युद्ध के लिए तत्पर तैयार दिखती है। आदिवासी जीवन की कथाओं को सामने रखकर हम खास तौर से इसे समझ सकते हैं। कानुपर से प्रियंवद की पत्रिका अकार में शायद राजेन्द्र प्रसाद सिंह ने इसकी एक लंबी सूची जारी की है। मेरे पढ़ने में जो कृतियाँ आ सकीं वे मानमोहन पाठक (धनबाद) की कृति 'गगन घटा घहरानी' , महुआ माजी की 'मरंगगोड़ा नीलकंठ हुआ' रणेन्द्र के दोनों उपन्यास 'ग्लोबल गाँव के देवता' और 'गायब होता देश' हैं। पर इस चिन्ता को अलका सरावगी ने भी 'कलि कथा वाया बाइपास' और 'एक ब्रेक के बाद' में इशारों-इशारों में उठाया है। बाज़ार किस तरह हमारे जीने-रहने को भी बदलने ओर उखाड़ने में लगा है, कॉरपोरेट विकास किस तरह हमारे संसाधनों पर कब्जा करने और हमारी जीवन-बुनियादों को ध्वस्त करने के लिए योजनाबद्ध है, इसकी दुखद झाँकी इन उपन्यासों में है। मैंने पुष्पा के उपन्यास 'कही ईसुरी फाग' में भी इसका एक प्रसंग आया है कि हमारी कलाओं को भी बाज़ार और मुनाफे की चीज़ बनाने की रणनीतियाँ और साजिशें चल रही हैं।

रणेन्द्र का तो जब तक का लेखन प्रतिज्ञाबद्ध होकर इसमें वैसा ही लगा है जैसे ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरुद्ध कमर कस कर महान लेखक जयशंकर प्रसाद अपने नाटकों और एक और सूक्ष्म-गंभीर स्तर पर 'कामायनी' में उतरे थे। 'कामायनी' की प्रतिज्ञाओं और चिन्ताओं को गाँधी के 'हिन्द स्वराज' के सन्दर्भ में देखे जाने की आवश्यकता है। प्रसाद के समूचे सचमुच, सेकुलर लेखन में एक तरफ गहरी राष्ट्रीयता और सांस्कृतिक बोध है तो दूसरी तरह दुर्धर्ष साम्रज्यवाद प्रतिरोध है।

यों यह सब लिखते हुए एक लंबी ऐतिहासिक-राजनीतिक परम्परा भी याद आती है। 1857 के मंगल पाण्डे से लेकर उससे पहले के दयानंद सरस्वती आदि की जिसमें गाँधी, अरविन्द और विवेकानंद भी याद आते है। इस सबमें स्त्री-दलित और पिछड़ों की आज़ादी तो अपनी जगह है ही स्थानीयता का परदेशीयता से मुकाबला और मोर्चाबंदी भी है। एक आत्मचेतस लेखक को क्यों नहीं इस भास्कर चेतना परंपरा की याद आनी चाहिए ? क्या इसे भुलाकर सचमुच कोई राष्ट्रीय लेखन संभव है ?

हिन्दी आलोचना में खास तौर से आचार्य रामचन्द्र शुक्ल उनके शिष्य आचार्य नन्द दुलारे वाजपेयी, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी और परवर्तियों में रामविलास शर्मा इस सन्दर्भ में याद आते हैं।

अन्तत: आचार्य नन्द दुलारे वाजपेयी के इन वाक्यों से इस संक्षिप्त से आलेख का समापन कर रहा हूँ कि 'अपने केन्द्र में स्थित रहकर, एक सचेतन प्राणी के समान उसे आत्मसात कर ही हम उसका उचित और स्वस्थ उपयोग कर सकते है।' वेद और उपनिषद से लेकर बुद्ध और गाँधी तक यह चिन्तन और जीवन दर्शन हमारी अपनी विरासत है। इसका सम्मान और उपयोग कर ही हम अपनी भाषा और साहित्य की पहचान और उसका सुसंस्कार कर सकेंगे। **(12 अगस्त 2015)**

❐

('आलोचना का अंतरंग' के बहाने समकालीन कथा आलोचना को जानने, समझने का ये एक प्रयास है। कथा आलोचना की एक समृद्ध परंपरा हिन्दी कथा साहित्य में है। उसी परंपरा में से कुछ नाम यहाँ शामिल किये जा रहे हैं। -संपादक)

असग़र वजाहत
जे 1/4, पार्श्वनाथ प्रेस्टीज
सेक्टर 93 ए, जी बी नगर
नोएडा 4

ज़रूरी है उपन्यास लिखना

असग़र वजाहत

ज़रूरी नहीं कि उपन्यास लिखा ही जाए। डॉक्टर बता दे तब भी नहीं, क्योंकि उपन्यास लिखना किसी मर्ज़ की दवा नहीं है। हो सकता है उपन्यास पढ़ना किसी मर्ज़ की दवा हो जो मुझे नहीं मालूम। तो बात तो मैं वही कर सकता हूँ जो मुझे पता है। हिंदी में बहुत से लेखक उपन्यास नहीं लिखते। इससे उनके लेखन पर क्या फ़र्क़ पड़ता है? शायद कुछ नहीं। सआदत हसन मंटो ने उपन्यास नहीं लिखे तो क्या महान् लेखक नहीं हैं? निर्मल वर्मा ने यदि उपन्यास न लिखे होते तब भी वे वैसे ही लेखक रहते जैसे हैं। तो मतलब यह कि उपन्यास लिखने न लिखने से कुछ नहीं होता। इधर हिंदी में कहानी क़िस्म के उपन्यास आने लगे हैं। लगता है बेचारी कहानी को पीट-पीटकर उपन्यास बना दिया गया है। तो कहानीनुमा उपन्यास लिखकर भी क्या अंतर पड़ता है?

पर यह तो माना ही जाना चाहिए कि लगभग सभी कहानीकारों की इच्छा होती है कि उपन्यास लिखा जाए। इसलिए नहीं कि कहानियाँ लिखते-लिखते दिल भर जाता है या तबीयत ऊब जाती है और मन-बहलाव के लिए उपन्यास लिखने का ख़याल आता है। बात यह है कि लगता है कहानी में बात बन नहीं पा रही। क्यों? क्या आपने कभी सोचा है कि एकदिवसीय क्रिकेट मैचों के इतने लोकप्रिय और लाभप्रद होने के बाद भी पाँच दिवसीय क्रिकेट मैच क्यों होते हैं? अगर आप खिलाड़ियों से कहें कि पाँच दिवसीय मैच न हुआ करेंगे तो वे इसका विरोध करेंगे। क्यों? दोनों में ही क्रिकेट खेला जाता है। रन बनते हैं, बालिंग होती है, खिलाड़ी आउट होते हैं। मैच हारे या जीते जाते हैं। तब? बहुत से शाट्स ऐसे हैं जो एकदिवसीय मैचों में नहीं या बहुत कम खेले जाते हैं। एकदिवसीय मैचों में जीतने का 'प्रेशर' इतना अधिक और समय की ऐसी पाबंदी इतनी ज़्यादा होती है कि खिलाड़ी अपना 'श्रेष्ठ' दे पाने में पूरी तरह सफल नहीं हो पाता। वह धुआँधार बैटिंग करते हैं। कहीं-कहीं अशास्त्रीय भी हो जाते हैं। पर उसका कोई बुरा नहीं मानता क्योंकि उद्देश्य सिर्फ़ जीतना होता है।

कलाकार की सबसे बड़ी इच्छा क्या होती है? मेरे विचार से अपनी कला की सर्वोत्तम प्रस्तुति। अब वह चाहे सर्वोत्तम हो या न हो, इससे कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता। हम लोगों ने, जिन्होंने थोड़ा-बहुत गद्य लिखना सीखा है, चाहते हैं कि अपना एक ऐसा सर्वोत्तम रूप दिखा सकें कि लोगों को लगे कि हाँ ये 'कुछ' है। तो यह प्रस्तुति जल्दी में तो नहीं हो सकती? यह आकार की तो पाबंद नहीं हो सकती। यह तो अपने तर्क और सिद्धांत पर ही काम करेगी। मैं कभी-कभी फिल्मों आदि के संवाद लिखने का भी काम करता हूँ। निर्देशक चाहते हैं कि हर संवाद ऐसा तगड़ा हो कि कुर्सियाँ टूट जाएँ। मैं उनसे यह कहता हूँ कि आप लोग क्रिकेट के स्टेडियम में खड़े उन नौजवानों की तरह हो जो

बैट्समैन को हर 'बॉल' पर छक्के का कार्ड दिखाते हैं। बैट्समैन जानता है कि हर 'बॉल' पर छक्का नहीं लगा सकता। अगर ग़लत 'बॉल' पर छक्का लग गया तो बैट्समैन के बारह बज जाएँगे। तो कहने का मतलब यह कि रचनाकार हर तरह का 'स्पेस' चाहता है। कहीं उसे यह 'स्पेस' कहानी में मिलता है, कहीं उपन्यास में और कहीं मेरे जैसे 'कुटिल खल-कामी' लेखकों को नाटकों में।

यार, हर चीज़ में एक सिलसिला होता है। फुटबाल के मैदान में 'हमला' सिर्फ़ 'सिलसिलेवार' हो सकता है। जब तक खिलाड़ी एक-दूसरे को पास न देंगे तब तक गेंद गोल तक ही नहीं पहुँच पाएगी। इसी तरह जब हम जीवन को एक सिलसिले से पकड़ने की कोशिश करते हैं, यथार्थ को उसकी गत्यात्मकता और जटिलता के साथ ऐतिहासिक संदर्भों से पड़तालना चाहते हैं तो एक क्रम की आवश्यकता पड़ती है। कुछ भी कहीं समाप्त नहीं होता। न प्रेम, न घृणा, न दयालुता, न ईर्ष्या। एक बार फिर से अजनबी बन जाने की कोशिश भी अजनबी नहीं बना पाती। तो जीवन की अनवरत धारा और समय की किताब के उड़ते अनगिनत पन्ने इतने-इतने अधिक हैं, सतरंगी हैं, आकर्षक हैं कि पलटकर देखने का मोह छोड़ा नहीं जा सकता। और जब आप चीज़ों को पलटाकर देखते हैं तो क्रमबद्धता आ ही जाती है। लंबा कालखंड चला ही आता है, अपने साथ न जाने क्या-क्या सँजोए और लपेटे। आज कल से जुड़ा हुआ है, कल परसों से और परसों नरसों और अतरसों से और फिर न जाने कब तक का समय इस 'आज' से जुड़ा हुआ है।

एक चीज़ कहलाती है 'कलेक्टिव एक्सपीरियंस', हो सकता है ऐसी कोई चीज़ न होती हो और यह केवल मेरे ख़ुराफ़ाती ज़ेहन की पैदावार हो। लेकिन मुझे लगता है कि ऐसी या इससे मिलती-जुलती कोई न कोई चीज़ होती ज़रूर होगी। मैं कहना यह चाहता हूँ कि हमारे अनुभव केवल हमारे अर्जित अनुभव नहीं हैं। हमने हर बार आग में हाथ जला-जलाकर नहीं देखा है कि हाथ कैसे जलते हैं। और जीवन है कितना फैला हुआ, विराट्, अनंत, निस्सीम। कभी-कभी इच्छा होती है कि पूरे संसार में जितने भी लोग रहते हैं सबसे मिला जाए। जितनी भी जगहें हैं सबको देखा जाए। इतिहास में जाया जाए। उस समय में जिया जाए

जब मनुष्य पाषाण युग में था, उस समय में भी जब मनुष्य ने खेती करना नया-नया सीखा था। काश, ऐसा हो सकता होता। पर उन युगों की यादें भी तो नहीं हैं हमारे पास। या यादें होंगी भी तो इस रूप में हमें उन युगों का स्मरण नहीं करा पातीं। क्या ऐसा नहीं हो सकता कि कोई शताब्दियों पुराना बूढ़ा आ जाए, लंबा सा लबादा ओढ़े, पीठ पर बड़ा सा थैला लादे, लंबी सफेद दाढ़ी में चेहरा छिपाए और माथे की झुर्रियों में पसीने की बूँदें समेटे और कहे कि बच्चो आओ तुम्हें उन युगों की कहानियाँ सुनाऊँ जो तुमने न देखे हैं और न तुमने उसके बारे में सुना है। है कोई ऐसा उपन्यासकार? दरअसल यह मैं चाहता था या कोई भी लेखक चाहता है एक ऐसी दास्तान सुनाना जो जीवन की परतें खोलती चली जाए। कभी न खत्म होने वाली कहानी।

मनुष्य होने के नाते हमारी सबसे ज़्यादा दिलचस्पी मनुष्य में ही है। यही दिलचस्पी 'कलेक्टिव एक्सपीरियंस' की जड़ों तक ले जाती है। क्यों, वहाँ हमें क्या मिलता है? वहाँ हम अपने आप को एक क्रम में समझने की कोशिश करते हैं। हमारी जिज्ञासाएँ बढ़ती हैं। हमें लगता है कि वह सब हमारा विस्तार है या हम उस सिलसिले की एक कड़ी हैं। अकेले नहीं हैं।

गाथाएँ, दास्तानें, महाकाव्य क्यों लिखे जाते थे

वो जो शायरी का सबब हुआ, वो मामला भी अजब हुआ

मैं ग़ज़ल सुनाऊँ हूँ इसलिए के ज़माना उसको भुला न दे

कुछ मत भूलो। सब याद रखो। पता नहीं कब यादों के खंडहरों से चमकता हुआ हीरा निकल आए और लगे कि बस इसी की तलाश थी। मनुष्य का हर्ष और विषाद भूल जाने की चीज़ नहीं है। वह तो हमारे सीनों को इस तरह दहकाती है कि हमें सार्थकता प्रदान करती है।

'देखो, मेरे पास एक अनुभव है' सबके पास यह वाक्य है। सब इसे पसंद करते हैं क्योंकि सबकी रुचि है इसमें। हम ही हैं जो हर अनुभव के केंद्र में हैं। हम सब एक ही कहानी और एक ही कविता शताब्दियों से लिखते चले आ रहे हैं और शताब्दियों तक लिखते रहेंगे क्योंकि यदि मज़ाक़ में कहना चाहें तो कहा जा सकता है कि अपनी शक्ल देखने से कौन ऊब सकता है। अपना चेहरा जो हमारे साथ निरंतर रहता है, कैसे उबाऊ हो सकता है?

उपन्यास का सबसे बड़ा गुण महाकाव्यात्मकता को मानना बिलकुल वाजिब है क्योंकि महा-काव्यात्मक चेतना के बिना जीवन को समझना शायद संभव ही नहीं है। दुर्भाग्य की बात है कि इधर महाकाव्यात्मक चेतना से संपन्न उपन्यास शायद कम ही लिखे जा रहे हैं। हिंदी में तो काम जल्दबाज़ी के चक्कर में बिगड़ जाता है। इधर ज़ोर दिया जाने लगा है विषय पर। आदिवासियों पर उपन्यास। दलितों पर उपन्यास। अंचलों पर उपन्यास। अर्थात् उपन्यास न हुआ कोई समाजशास्त्रीय अध्ययन हो गया। मैं तो बिलकुल नहीं कहना चाहता कि उपन्यास समाजशास्त्रीय अध्ययन नहीं होता। लेकिन अवश्य ज़ोर देकर कहना चाहता हूँ कि समाजशास्त्रीय अध्ययन उपन्यास नहीं होता। जहाँ जीवन का ताप न हो, न कला, जहाँ सहजता और जटिलता न हो, जहाँ जीवन की भट्ठी में पके विचार न हों, जहाँ व्यापक जीवन की गतिशीलता न हो, जहाँ उत्कृष्ट प्रतिभा न हो, न अबाध गति से भाषा अपना रास्ता बनाती हो, जहाँ व्यक्ति और समाज के मर्म तक पहुँचकर वापस लौट आने की कला न हो, व्यक्त और अव्यक्त के बीच की दूरी न मिट गई हो, वहाँ उपन्यास नहीं हो सकता।

❐

(असग़र वजाहत की किताबघर प्रकाशन से प्रकाशनाधीन पुस्तक 'ताकि देश में नमक रहे' से साभार।)

कहानी-अब और आलोचना कहानी की

अर्चना वर्मा

जिन दिनों हम विद्यार्थी हुआ करते थे उन दिनों पहले से, पता नहीं कितना पहले से, शायद कथालोचन के शुरू-दिन से, चली आती कथा-आलोचना 'तत्त्वदर्शिनी' हुआ करती थी और गिनती में पंचतत्त्वों से भी एक बढ़ाकर, छह तत्त्वों मे विहार करती थी-कथावस्तु, पात्रयोजना और चरित्र चित्रण, कथोपकथन, देशकाल और वातावरण, भाषा-शैली, उद्देश्य।

वह तत्त्वदर्शिता तभी यानी हमारे विद्यार्थी काल में हास्यास्पद होने लगी थी। उसके चुटकुले बनने लगे थे। हालाँकि आज सोचती हूँ तो लगता है कि संयोजन-कौशल की नापजोख और विश्लेषण के नज़रिये से देखा जाए तो बात उतनी हास्यास्पद थी नहीं जितनी तब प्रतीत होती थी, क्योंकि तब छात्रोचित (अधिकांशत: अध्यापकोचित भी) व्यवहार में आलोचना को तथाकथित तत्त्वों के सपाट विवरण-वर्णन में विघटित कर दिया जाता था और छह के छह तत्त्वों के मौजूद होने या एकाध के घट-बढ़ जाने को मूल्यांकन की कसौटी मान लिया जाता था। लेकिन आज सचमुच गंभीरता से लगता है कि उस 'तत्त्वदर्शन' को उस वर्णन-शैली से मुक्त करके विश्लेषण-शैली में अवतरित किया जाए और एक बार फिर कम से कम आजमा कर तो देखा जाए। (१) 'कथानक' में वस्तु और कथा का तालमेल, (२) 'पात्रयोजना और चरित्र-चित्रण' में वस्तु के अनुकूल पात्रों के चुनाव का औचित्य, व्यक्ति और परिस्थिति के घात-प्रतिघात से चरित्र की कार्यान्विति, (३) 'कथोपकथन' में पात्र की अपनी आन्तरिक लय और अन्यों के साथ सम्बन्ध की टोन, (४) 'देशकाल और वातावरण' में कहानी के भीतर और बाहर के 'समय' की पकड़ के समीकरण, (५) 'भाषा-शैली' में वृत्तान्त की टोन और वृत्तान्तकार के खड़े होने की जगह का समीकरण और (६) 'उद्देश्य' में वस्तु और अन्तर्वस्तु की जोड़-बटोर और निर्वाह-यूँ इन पुराकालीन परम्परागत छह के छह तत्त्वों के भीतर अब तरल और अमूर्त होती जाती आलोचना को टाँगने के लिये शायद ज़्यादा ठोस और मज़बूत खूँटियाँ मिलेंगी जो लिखन्त यानी कहानी के भीतर के फैलावों को समेटने के लिये 'पढ़न्त' यानी समीक्षा को शीर्षक दे पायेंगी। उनके संयोजन और अनुपात में 'संरचना' भी ढूँढ निकाली जा सकती है। नई समीक्षा के 'संरचना' वाले अर्थ में भी यानी कहानी के भीतर उसके अपने घटक 'तत्त्वों' का सम्बन्धजाल और देशकाल वातावरण वाले तत्त्व के अन्तर्गत समाजशास्त्रीय अर्थ में भी 'संरचना' यानी कथा-समय के विन्यास में कहानी के बाहर के सामाजिक-राजनीतिक समय का अनुगुंजित बिम्ब। इस तरह संरचनावाद तक की आलोचनात्मक अवधारणाओं को कहानी की लिखन्त के साथ बहुत ठोस और पाठक के अनुकूल ढंग से जोड़ा जा सकता है।

लेकिन जब तक आजमा कर देखा न जाए तब तक के लिये उस तत्त्वदर्शिता की संभावनाएँ यहीं स्थगित।

बात मैं अपने विद्यार्थी काल की कर रही थी। वे नयी कहानी के दिन थे, 'छात्रोपयोगी' और 'अध्यापकीय' के प्रति उपयुक्त वितृष्णा और अवमानना के दिन। 'विचारधारा' के शिकंजे का पहला दौर भी बीत चला था। अब कहानी की आलोचना में 'अनुभव की प्रामाणिकता',

अर्चना वर्मा
जे-९०१ हाई-बर्ड, निहो स्कॉटिश गार्डन,
अहिंसा खण्ड-२, इन्दिरापुरम, ग़ाज़ियाबाद,
पिन-२०१०१४

'अजनबीपन' और 'संत्रास' की शब्दावली जगह बना रही थी। शहरी अनुभव, चौखट और चौखटे के बाहर निकली स्त्री, पारिवारिक सम्बन्धों के जाने पहचाने समीकरणों में उथल पुथल की अपेक्षाकृत अपरिचित वस्तु-नगरों, महानगरों की ओर प्रस्थान का वह पहला दौर था हालाँकि मानसिक स्तर पर विस्थापन का उतना नहीं। तत्त्वों की बहार छोड़ कर कहानी का विश्लेषण 'वस्तु और निर्वाह' के विन्यास में जा पहुँचा था। फिर अजनबीपन और संत्रास की भी हद हो गई। नई कहानी के बाद की ज्ञानरंजन और दूधनाथ सिंह वाली पीढ़ी ने थोड़ी ऊब-डूब के बाद उस हद को लाँघकर 'विचारधारा' का सृजनात्मक पुन: आविष्कार किया। इस बार वह शिकंजा तो नहीं थी लेकिन... मेरे जैसी रुचि के पाठक के लिये उसमें जकड़न अभी बाकी थी.....।

विचारधारा के इस नये सृजनात्मक अवतार में कहानी के कलेवर में देशकाल, पक्षधरता, प्रतिपक्षता, दृष्टिकोण, सन्देश वगैरह की निर्मितियों में 'प्रगतिशील' की कसौटियों की निशानदेही कर ली जाने के बाद आलोचना अपनी कदकाठी सँभाल कर खड़ी ही हुई है कि कहानी ने अपना चोला बदल डाला है। उस कलेवर और इस चोले के बीच का फासला खासा लम्बा चौड़ा है और एक के औज़ारों से दूसरे की सर्जरी करना, जाहिर है, सम्भव नहीं है। इस स्थिति में वह वाली आलोचना और यह वाली कहानी एक दूसरे से नाखुश और शिकायत के रिश्तों में बँधी नज़र आती है।

आज की कहानी की समय-सीमा अगर इस वाली शताब्दी के ये डेढ़ दशक मानें तो इतने ही दिनों में तीस पैंतीस या शायद कुछ ज़्यादा ही कथाकारों ने अपनी पहचान बनाई है। बहुत सारी पत्रिकाएँ निकल रही हैं, बहुत सारा लिखा जा रहा है, बहुत सारा छप रहा है। उतना सब विधिवत् पढ़ कर, व्यवस्थित रूप से तो जानने का दावा तो नहीं है लेकिन एक पत्रिका के सम्पादन से जुड़ी हूँ, विचारार्थ आई हुई रचनाओं से, समीक्षार्थ आई हुई किताबों से परिचय का एक घेरा सा बनता है। अनायास भी याद करूँ तो बहुत से नाम लिये जा सकते हैं, गीत चतुर्वेदी, गौरव सोलंकी, अनिल यादव, प्रत्यक्षा, नीलाक्षी सिंह, मनीषा कुलश्रेष्ठ, अल्पना मिश्र, गीताश्री,चंदन पाण्डेय, पंकज मित्र, पंखुरी सिन्हा, योगिता यादव, इन्दिरा दांगी, सोनाली

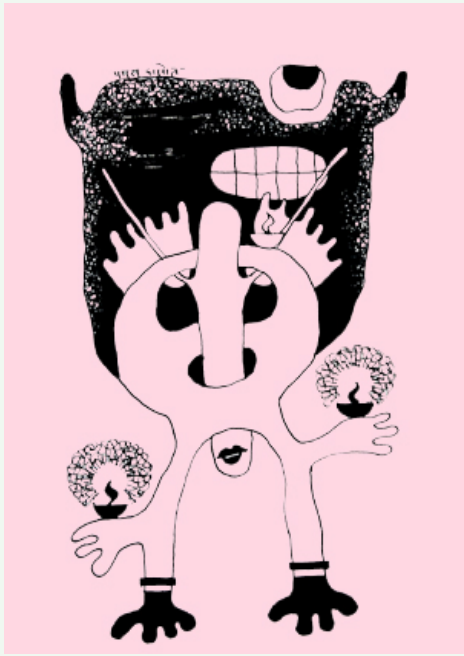

सिंह, सोनी सिंह, राजीव कुमार, उमाशंकर चौधरी, कविता, जयश्री रॉय, दिनेश कर्णाटक, पंकज सुबीर, गौरीनाथ, राकेश बिहारी, आकांक्षा पारे, अनुज, रणविजय सिंह सांकृत, विवेक मिश्र, अजय नावरिया, रणेन्द्र, कुणाल सिंह, हरेप्रकाश, रजनी दिसोदिया, टेकचंद, यह बरबस याद आने के क्रम में लिखे गये नाम हैं, उसके अलावा कोई अन्य पूर्वापर नहीं।

इतना सारा सब का सब लेखन शायद इन टिप्पणियों के दायरे में न समाता हो। बहुत सारा लेखन पिछले का विस्तार या पुनरावृत्ति भी होगा, परिचय की आश्वस्ति वाला। लेकिन बहुत सा झकझोरने और विचलित करने वाला भी।

मुझे लगता है कि ('लगता है' कह रही हूँ क्योंकि फिर कोई विधिवत्, व्यवस्थित निरीक्षण-परीक्षण नहीं, एक पत्रिका से जुड़े रहने से बने इम्प्रेशन या आभास ही समझिये) कहानी के इस चोला-बदल की शुरुआत इस पीढ़ी की शुरुआत के पहले ही, पिछली सदी के अस्सी-नब्बे के दशक में हो चुकी थी। 'हंस' में रहते हुए, कहानियों के चुनाव से गुजरते हुए ये आभास उभरने लगे थे, आज की तरह तब अन्य बहुत सारी पत्रिकाएँ नहीं थीं, लेकिन उसी बीच 'हंस' विमर्शों की राजनीति का पैरोकार हुआ, कहानी के बारे में विचार-विमर्श का मुहावरा बदल गया, बल्कि कहानी स्वयं भी विमर्शों का महज़ माध्यम बन कर रह गई और इस पीढ़ी के उभार तक वही बनी रही। कहने का मतलब यह बिल्कुल नहीं कि विमर्श महत्त्वपूर्ण नहीं थे या उनके तहत अच्छी या महत्त्वपूर्ण कहानियाँ लिखी नहीं गयीं। कहना मैं यह चाहती हूँ कि इस वजह से एक साहित्यरूप या विधा की तरह कहानी की ओर से ध्यान हट गया और वे लेखक कथा चर्चा और आलोचना में अपना प्राप्य पाने से रह गये। यहाँ तक कि वस्तु के रूप में जो विमर्श-केन्द्रित कहानियाँ भी नये विन्यासों का आविष्कार कर रही थीं वे एक किनारे पड़ गईं और एक धूम-धड़ाका धाँय-धाँय किस्म के शोर-शराबे ने परिदृश्य को व्याप्त कर लिया। पुन:, कहने का मतलब यह नहीं कि उसका अपना औचित्य नहीं था। बल्कि यह कि बाद में कहानी के जिस 'चोला-बदल' को नई सदी के आरम्भ के साथ रेखांकित और लक्षित किया गया उसका सूत्रपात एक डेढ़ दशक पहले, १९८५ से २००० तक के बीच शुरू करने वाली पीढ़ी कर चुकी थी और उदयप्रकाश के बाद अखिलेश, आनन्द हर्षुल, प्रियम्वद, शशांक वगैरह ये सब अपनी अपनी तरह से अच्छे लेखकों के रूप में स्थापित होने के बावजूद एक नये सूत्रपात के श्रेय से वंचित रह गये कथाकार हैं।

लेकिन बात कहानी के इस नये अवतार के साथ कथालोचना के रिश्ते की हो रही थी। इन नये बदलावों में हम कहानी के वस्तु-विन्यास और अन्तर्वस्तु में स्त्री, दलित, आदिवासी, अल्पसंख्यक आदि आदि विमर्शों के साथ, स्त्री-विमर्श खास तौर से, आने वाली नई नैतिकताओं और ध्वस्त होते पुराने मूल्यों को गिन सकते हैं, नई जीवन-पद्धतियों को कन्टेन करने के लिये नये विन्यासों की गढ़न्त की तरफ़ देख सकते हैं, 'मान्य' और 'श्रद्धेय' और उसकी संभावना तक की अन्त्येष्टि और 'उपरान्त गोष्ठी' का जायज़ा ले सकते हैं, चाहें तो रसातल को जाती दुनिया के लिये हाहाकार मचा सकते हैं, चाहें तो नई आती दुनिया को समझने की कोशिश में सिर खपा सकते हैं।

कथालोचना अपने अब तक के उपलब्ध औज़ारों से इस कहानी का जो थोड़ा बहुत पकड़ या समझ में आये, मूल्यांकन के नाम पर उसके पैराफ्रेज़ से काम चला रही है या फिर सिरे से इसको लक्ष्यभ्रष्ट या दिशाहारा बता कर उपराम हो जा रही है। ज़रूरत है इस नई रचना की लिखन्त को पढ़ने पकड़ने वाले औज़ारों को विकसित करने की। वहाँ अभी दृश्य पूरा नवोद्भवशील न सही,

पूरा शून्य भी नहीं। होता हुई सुगबुग महसूस की जा सकती है, होने को कुछ बाकी भी है इसलिये मुझे तो माहौल अभी बहुत उत्तेजनापूर्ण और संभावनाशील महसूस होता है। रोहिणी अग्रवाल, संजीव कुमार, जितेन्द्र श्रीवास्तव, प्रियम अंकित, विनोद तिवारी, वैभव सिंह, पल्लव, राहुल सिंह, राकेश बिहारी, पंकज पराशर, अमिताभ राय, विभास वर्मा, बलवन्त कौर, निशा नाग, कुछ और भी नाम जो छूट रहे होंगे–इस नई कथा के आलोचकों की भी एक पीढ़ी तैयार हो रही है।

ऊपर मैंने इस कहानी से नाखुश आलोचना की शिकायतों की बात की है। एक शिकायत यह है कि यह साहित्य के पवित्र उद्देश्य को भूल चुकी लक्ष्य भ्रष्ट, कथा पीढ़ी है। दूसरी शायद यह, कि बहुत जल्दी में है, यथार्थ को पकड़ कर उसकी गहराई तक नहीं जाती, तीसरी, सूचनाओं की भरमार से काम चलाती है। वगैरह वगैरह।

इस पीढ़ी की तरफ़ से सोचूँ तो मुझे लगता है कि ये बच्चे एक अलग समय और अलग संसार की पैदाइश है और एक बहुत तोड़-फोड़ से भरे खूँखार समय का सामना कर रहे हैं। यह अवसरों और संभावनाओं का समय भी है और मूल्यों, संस्थाओं, सुरक्षाओं के ध्वंस का भी। और वही उनका यथार्थ है, उसी यथार्थ वे दर्ज करने की युक्तियाँ भी निकाल रहे हैं, उसी को दर्ज भी कर रहे हैं। जैसा कहा, अब तक एक अच्छी खासी परिपक्व पीढ़ी तैयार खड़ी हो चुकी है।

कथा का मौजूदा परिदृश्य बहुत हलचल, बहुत गहमागहमी से भरा हुआ है। रचना-शैली में नये नये प्रयोग, नई संरचनाएँ भी नज़र आ रही हैं। विमर्शों के माध्यम से यथार्थ अधिक विभाजित, अधिक परिभाषित, अधिक स्पष्ट और ठोस बन कर प्रकट हुआ है। हिन्दी के सामान्य मध्यवर्गीय पाठक की मनोवृत्ति को धक्का देने और झकझोरने वाला यथार्थ।

कहते हैं, नई पीढ़ी बहुत जल्दी में है, शायद है भी, पर हालात ही ऐसे है। इस जल्दी का एक पक्ष तो बाज़ार है। जैसा पहले भी कहा जा चुका है, पत्र पत्रिकाएँ बहुत सारी हैं, बाज़ार का मामला डिमाण्ड और सप्लाई का होता है और गुणवत्ता जितनी महत्त्वपूर्ण है उतनी ही डिलीवरी ऑन टाइम भी। बल्कि शायद ज़्यादा ही। किसी लेखक को छपने के लिये आई उसकी कहानी के बारे में कोई सुझाव देकर देखिये तो सही, शायद कोई ऐसा भी होगा जो सुनेगा और मानेगा लेकिन ज़्यादातर तो किंचित गर्व और विजेता भाव से बताते मिलेंगे कि आप ने यहाँ ऐसा कहा था लेकिन वहाँ जैसी की तैसी छप भी गई। तो डिमाण्ड इतनी है कि ज़रा सी भी ठीक ठाक हो सप्लाई, तो खप ही जाएगी।

जल्दी का दूसरा पक्ष ज़्यादा गंभीर है। आज समय की संरचना बदल गई है। फ़िलहाल जीवन की गति ही तेज़, बहुत तेज़ हो चुकी है। सर्वाइवल ऑफ़ द फ़िटेस्ट का मुहावरा सर्वाइवल ऑफ़ द फ़ास्टेस्ट का पर्याय बन गया है। कृषिकाल के ग्राम-समाज के मुकाबले औद्योगीकरण-काल के शहरी-समाज के समय की संरचना तीव्रतर हुई थी। आज के समय की संरचना तो संचार-काल की है। घण्टों का तो सवाल ही नहीं, मिनट और सेकेण्ड में, उसके भी शतांश में समय की नाप होती है। इस पीढ़ी के ज़्यादातर लेखक पूर्णकालिक रचना-व्यवसाय में नहीं हैं। उनके पास बार-बार दुहराने माँजने घिसने का समय भी नहीं। रचना का समय उनके लिये चुराया हुआ समय है। एक बार जो कलम से निकल छूटा वह निकल ही छूटा। उसी मन:स्थिति को फिर पकड़ना, उसी में बने रहना, वाकई शायद ज़रा भारी असाइनमेण्ट है, नहीं होता। जो जल्दी में नहीं रहा, उसका पीछे छूट जाना तय है। तो नये लेखक भी करें तो क्या करें?

उनके पास शायद और कोई चारा भी नहीं।

यथार्थ की गहराई तक न जाने की बात कुछ हद तक सच भी हो सकती है लेकिन हर रचना मास्टरपीस नहीं होती, इस रचनाबहुल, प्रकाशनबहुल समय में तो बिल्कुल नहीं। फिर यथार्थ का बहुत सा हिस्सा ऐसा भी है जिसे लेखक भी खुद भुगत भले रहे हों, शायद पकड़ नहीं पा रहे हैं तो कहानी जिस कनफ़्यूज़न को अभिव्यक्त कर रही है हम शायद उसे उससे किसी भिन्न अपेक्षा के साथ पढ़कर निराश हो रहे होते हैं। सूचनाओं के आधार पर कहानियाँ लिखी जा रही हैं तो ताज्जुब की क्या बात है, सूचनाओं के विस्फोट का युग है। और सूचना हो या समाचार, कौन कौन सी सामग्री किस रासायनिक प्रक्रिया से गुज़र कर संवेदना में ढल जाती है, इसका लेखा-जोखा असंभव ही है।

रही बात जीवन से, मूल्य जगत से 'श्रद्धेय' और 'मान्य' के, ध्रुवताओं के पूर्ण विसर्जन की, इस पीढ़ी को यह इतिहास की विरासत है। संचार-समय, सूचना-समय और आभासी-समय में आँख खोलती और पंख पसारती इस पीढ़ी के बारे में इस जगह खड़े होकर सोचिये कि उसने विरासत में कौन सी ध्रुवताएँ पाई हैं? और कौन सी ध्रुवताओं की वैधता उनके लिये बाकी बची है? मूल्यों के सत्यापन और वैधता के जो जरिये परम्परागत तौर से हमारे पास थे, धर्म और परिवार जिसे हम खानदान की इज्ज़त या कुल-मर्यादा के नाम से जानते थे वे खुद अपनी वैधता खो चुके हैं। शायद उचित ही। अपने हिस्से की पर्याप्त बलि वे ले चुके हैं और जहाँ बाकी हैं वहाँ अभी तक लेते चले जा रहे हैं। वेस्ट एशिया का पूरा परिदृश्य हमारे सामने है।

तो मूल्यों के सत्यापन और वैधता का वह जिम्मा अब सोशल मीडिया ने सँभाला तो है लेकिन पूरी तरह से सँभाल लिया है या नहीं, अभी कहना मुश्किल है क्योंकि मूल्यहीनता और उसके दुष्परिणामों के वैश्वी करण का जिम्मा भी उसी के पास है।

हम अपने विश्वासों से उनके मूल्यों या हमारे हिसाब से मूल्यहीनताओं को तोल रहे हैं लेकिन हमारे और हमारी ऐन अगली नई पीढ़ी के बीच तारीखों की निरन्तरता के बावजूद इतिहास का टेटल ब्रेक देखा जा सकता है जो नई सूचना प्रोद्योगिकी का पैदा किया हुआ है। आधुनिकता की वैज्ञानिक दृष्टिकोण और तर्कसंगत विवेक वाली परियोजना ने धर्म और ईश्वर को विदा किया और बीसवीं सदी में आकर एक के बाद एक दो पीढ़यों को दो महायुद्धों में झोंक दिया, लौह-प्राचीरों के पार का दृश्य प्रकट हुआ तो १९९२ में साम्यवादी संसार के स्वप्न का बण्टाधार कर गया। ज्ञान की नई वृत्तियाँ और बहुलताएँ उन्हें बताती है कि ध्रुवता नाम का सब कुछ आदमी का अपने हाथों, अपनी भाषा और अपने पर्सेप्शन के सहारे खुद गढ़ा हुआ है। इसलिये 'मान्य' या 'श्रद्धेय' की संभावना फ़िलहाल धूमिल दिखाई देती है।

इस शून्य में से उन्हें अपनी ध्रुवताएँ खुद गढ़नी हैं। शायद वे फिर उन्हीं मूल्यों के पास फिर लौटें जिन्हें हम अभी 'उपरान्त' देख रहे हैं लेकिन निश्चय ही वह लौटना सचमुच मूल्य के रूप में उनके पुन:आविष्कार के बाद होगा, केवल एक मानसिक आदत की पुनरावृत्ति मात्र नहीं।

मेरी शुभाशंसा तो यही है।

❐

कथावृत्त : सर्जना और सम्प्रेषण की परिधि में

राजी सेठ

राजी सेठ
एम 16, साकेत
नई दिल्ली 17

कथा रचना

मेरे पास एक घटना है-निहायत सच्ची जीवन्त और आँखों देखी। क्या उसकी रचना बन सकती है ? हो सकता है कुछ-न-कुछ बन जाए पर कहानी नहीं भी बन सकती हैं। हालाँकि कहानी को मूल रूप से किसी घटना का ब्यौरा ही माना जाता है। यह सुनना अटपटा लग सकता है कि केन्द्र में किसी घटना का एकदम सच होना कहानी नहीं बन सकता। कहानी को अपना सच स्वयं अर्जित करना पड़ता है। स्वयं ढूँढ़ना पड़ता है और अपनी सृजनशक्ति से उसमें ऐसी अर्थवत्ता भरनी पड़ती है कि वह सच भी लगे और विश्वसनीय भी। कहानी में विश्वसनीयता घटना के सच होने मात्र से पैदा नहीं होती उसे भी कथा-रचना में संरचना के एक ज़रूरी तत्व की तरह कमाना पड़ता है। वह जीवन के प्रति हमारी व्यावहारिक समझ और उस क्षेत्र में हमारे संवेदनात्मक विस्तार से हाथ लगती है। सच यह है कि घटना या घटनाओं का समूह रचना नहीं है बल्कि घटना के सृजनात्मक इस्तेमाल का नाम रचना है, जिसे हम रच कर ही अर्जित कर सकते हैं।

मुनष्य की नियति से हर पल हाथ डाले बैठे रहने वाले साहित्य के जमे-जमाए तयशुदा आधार नहीं होते। वह किन्हीं नपे-तुले मापदण्डों पर नहीं तुलता। जीवन की सभ्यता में वह अपना तर्क-वितर्क खुद गढ़ता है, जीवन का इच्छित क्रम रचता है। जीवन में सब कुछ आगे-पीछे क्रमहीन गति से घटता है, रचना में ऐसा नहीं होता। रचना में हम अपनी इच्छा का, योग्यता का, अपने दृष्टिकोण का, अपने जीवन दर्शन का उपयोग करते हैं। किसी भी घटना या घटना-समूह को किसी क्रम में रख कर एक कलात्मक अन्विति बनाते हैं। कभी-कभी यह अन्विति बहुत-सी स्मृत घटित, अपनी-परायी घटनाओं का कोलाज भी बन जाता है। असली शब्द हैं -बनाना, रचना, गढ़ना। दूसरे शब्दों में किसी आकार को बनाने, रचने या गढ़ने की क्षमता। कुछ चीज़ों या उपकरणों को इकट्ठा करके रख देने से कोई आकार नहीं बनता। उसमें प्राण-प्रतिष्ठा नहीं होती। रचना के लिए हम घटना की दृश्यमानता में अपनी अनुभूत अदृश्यता शामिल करते हैं।

जब यह स्पष्ट हो जाता है कि घटना कहानी नहीं है, घटना का सृजनात्मक इस्तेमाल कहानी है तो हमारे सामने यथार्थ की परिभाषा और अवधारणा भी बदल जाती है। लिखते समय हम उस यथार्थ को छोड़ भी सकते हैं जो जीवन में घट रहा है।

हम यथार्थ की उस काट को लेते हैं जो हमारे काम की होती है। रूपान्तरित होकर ही यथार्थ हमारे अर्थ को वहन करने में सक्षम होता है। हमारी रचनात्मक मंशा को प्रकट करता है। हमें दूसरों तक पहुँचाता है। ऐसा नहीं हो सकता कि दूसरों की कहानी मेरे अर्थ को वहन करे याकि मैं दूसरों का अर्थ वहन करूँ। अपना अर्थ देने या पाने के लिए ही कोई रचना कर्म में प्रवृत्त होता है। यही कारण है कि घटना या कथावस्तु चाहे एक ही हों, अपने-अपने अर्थ और रचना-व्यवहार के कारण रचनाएँ अलग-अलग हो जाती हैं।

हर लेखक कहानी को अपनी तरह लिखता है! अपनी तरह लिखने के कारण भी अपने ही भीतर होते हैं। युगों-युगों से जीवन के ताने-बाने, घटित-अघटित के बारे में लिखा जा रहा है फिर भी यह प्रक्रिया नहीं थकती। कितनी सदियों से कितने ही साहित्यकर्मी अभिव्यक्ति की इस परम्परा की अग्रसरता में संलग्न हैं फिर भी यह वैसी की वैसी अटूट फिर भी सदा अधूरी है। इसका कारण जीवन की परिवर्तनशीलता और निरन्तरता है। मनुष्य की मनुष्यता है जो सृजन की क्षमता को सदा चुनौती देती और आमन्त्रित करती रहती है जीवन में घटती घटनाओं की स्थानीयता और साधारणता रचना में अन्तहीनता और विशेषता का प्रतिस्थापन बन जाती है।

रचना की अन्तहीनता की बात हमारे सामने फिर कुछ नए सवाल खड़े कर देती है -क्या रचना कालजयी या अनन्त होती है? यदि नहीं तो कौन-सी रचना उस कोटि में आती है ? इतना तो मानना होगा कि जिस काग़ज़ पर रचना लिखी गई हो उसे फाड़ देने से रचना का अन्त नहीं हो जाता। रचना के अन्त के मायने दूसरे हैं। उस रचना का अन्त मान लिया जाता है जो अपने समय से आगे नहीं जाती। आने वाली पीढ़ी उसे अपने चित और विचार में धारण नहीं करती। यदि कोई रचना जीवित रहती है तो पाठकों के मन में जीवित रहने के कारण जीवित रहती है। उनकी संवेदना, सोच और प्रेरणा का हिस्सा बन जाने के कारण, पाठक के निर्माण में एक तत्व बनकर आत्मसात हो जाने के कारण बचती है। वह पठन-पाठन की क्रिया से बढ़ कर एक रचनात्मक संस्कार बन जाने के कारण जीवित रहती है।

''संस्कार'' एक ऐसा शब्द है जिसका हम पोस्टमार्टम नहीं कर सकते। उसका रेशा-रेशा खोलकर दिखा नहीं सकते कि वह किन विशेषज्ञ तत्वों से बना है। उसमें हमारी कितनी पुश्तों का योगदान है। एक तरह से वह हमारे मानसिक डी.एन.ए. की तरह है। कितने युगों, साधनों, स्मृतियों, परम्पराओं के रासायनिक मिश्रण का योगफल। हमने उसे कब और कैसे पाया, उसमें से कितना अर्जित किया, कितना पुरखों के अनुग्रह से मिला इसे जानना भी आसान नहीं। हमारे लिए यह जानना ज़्यादा आसान है कि वही चीज़ें बचती हैं जो प्राणवान बनी रहें। सप्राण और निष्प्राण की पहचान हम चीज़ों के बढ़ने-पनपने की ताकत से करते हैं। इस ताकत का होना या न होना ही विकसने-गिरने का कारक कारण है। बढ़ने की तरह चीज़ें घटती भी हैं। विकृत भी होती हैं। इस क्रिया की पहचान की महादेवी जी ने सुन्दर व्याख्या की है। उनका कहना है परिवर्तन हर चीज़ का नियम है। उसे तो हर हाल होना ही है पर परिवर्तन के दो रूप हैं - एक रूप है विकास, दूसरा रूप है विकृति। परिवर्तन दोनों दशाओं में होता है पर दोनों को एक श्रेणी में नहीं रखा जा सकता। एक उन्नति का परिचायक है। दूसरा अवनति का। संस्कार को हम इसी तुला पर तौलते हैं - कौन-कौन-सी चीज़ें, कौन-कौन-से अनुभव, कौन से दृश्य, कौन-सी सूचनाएँ हमें या हमारे व्यक्तित्व को आगे ले जाती हैं कौन-सी पीछे। किन चीज़ों का फलयोग हमारे जीवन में उत्कर्ष की तरह सामने आता है। किन का अपकर्ष की तरह। रास्तों के चुनाव और अपनी संवेदना के इस्तेमाल के लिए यह समझ कारगर हो सकती है।

"रचना की अन्तहीनता की बात हमारे सामने फिर कुछ नए सवाल खड़े कर देती है -क्या रचना कालजयी या अनन्त होती है? यदि नहीं तो कौन-सी रचना उस कोटि में आती है ? इतना तो मानना होगा कि जिस काग़ज़ पर रचना लिखी गई हो उसे फाड़ देने से रचना का अन्त नहीं हो जाता। रचना के अन्त के मायने दूसरे हैं। उस रचना का अन्त मान लिया जाता है जो अपने समय से आगे नहीं जाती। आने वाली पीढ़ी उसे अपने चित और विचार में धारण नहीं करती। यदि कोई रचना जीवित रहती है तो पाठकों के मन में जीवित रहने के कारण जीवित रहती है।"

कोई किसी को बता नहीं सकता कि वह अपनी कहानी कैसे लिखे। लिखने के लिए कौन-सी घटना, कौन-से अर्थ और कौन-से शब्द चुने। वे सब चीज़ें हर किसी की अपनी, अपने जीवन और अपने बृहत व्यक्तित्व से जुड़ी होती हैं। किसके अन्दर किस बात को कहने-सुनने आजमाने की प्रेरणा बन रही है उसे केवल वह ही जानता है। वह ही जानता है कि उसके भीतर कौन-सी घटना केन्द्र में आने को तैयार है, जिसे ऐसे देखने की ज़रूरत पड़ रही है जैसे अर्जुन ने मछली की आँख को देखा था, अपने को एकाग्र करके। घटना के, स्थिति के हर एक पहलू हो जाँचते हुए। सारे अन्तर्विरोधों और अन्तर्द्वंद्वों का सामना करते हुए। यदि घटना के अपने अन्तर्द्वंद्व नहीं भी हैं तो भी सामान्य रूप से उस स्थिति में जितने भी सम्भावित अन्तर्द्वन्द्व हो सकते हैं, उन्हें जगह देकर, उसका सामना करते हुए रचना को साधारण विवरण से ऊपर उठा लिया जा सकता है। हम अपनी कल्पना और व्यावहारिक अनुभव द्वारा ऐसी बहुत सी दशाओं की अन्तर्रचना कर सकते हैं जिनसे ऐसे केन्द्रों पर प्रकाश पड़े जो मनुष्य के वृहत्तर नैतिक पक्ष का निर्माण करते हों और पढ़ने वाले के लिए किसी जीवन विकल्प या समाधान की शोध-दृष्टि भी दे सकें।

यह बात तो जानी हुई है कि जीवन हमारे हाथ में नहीं है पर रचना हमारे हाथ में है। उसके माध्यम से हम उदात्त मूल्योन्मुखी कलारूपों की रचना कर सकते हैं, जिनका प्रभाव साहित्य का संस्कार बनाने में दूर तक सक्रिय रहता है। इसका यह अर्थ नहीं कि रचना को उदात्त और मूल्योन्मुखी बनाने के लिए हम यथार्थ का त्याग करें। यथार्थ तो साहित्य-रचना का भोजन है। यथार्थ को हम छोड़ नहीं सकते क्योंकि जीवन तत्त्व को प्रकाशित करने का वही आधार है पर हम उसे इस तरह से प्रस्तुत ज़रूर कर सकते हैं कि हमारी दृष्टि और मूल चेतना का निर्माण करे और हमारी इच्छा के अनुसार परिणाम निकलें। लेखक का मनचाहा प्रभाव बन सके। इस बात का उल्लेख करना ज़रूरी

है कि प्रभाव-सिद्धि भी रचना के अन्य उपादानों की तरह रचना कर्म का एक उपादान है वह भी लेखक के नियन्त्रण के अन्दर की चीज़ है अच्छा लेखक ज़्यादा बोलने की बजाय संयम से इसका उपार्जन करता है। संकेतों, ध्वनियों, चुप्पियों, अन्तरालों से काम लेने की कोशिश करता है। साहित्य की व्यंजक शक्ति का इस्तेमाल करता है। यह इस्तेमाल बड़े लेखकों के रचनाकर्म में आसानी से देखा जा सकता है। लेखक से ज़्यादा पाठक बनकर इसकी ज़्यादा तीखी प्रतीती होती है।

यह भी सच है कि हर पाठक के मन में एक उत्सुक लेखक बैठा होता है। पाठक उसी प्रक्रिया में से गुज़रते-गुज़रते बहुत कुछ सीखता है। दूसरों के अनुभवों को पढ़ते समय हम अपने आपको पढ़ रहे होते हैं। अपने तादात्म के बिन्दु ढूँढ़ रहे होत हैं। शब्दों,ध्वनियों, मुद्राओं के अर्थ सीख रहे होते हैं। हमें पता नहीं कौन-सा क्षण,कौन -सी स्थिति, कौन-सी स्मृति या दीप्ति हमारे अन्दर सोए हिस्से को जाग देगी कि हम स्वयं रचना में प्रस्तुत हो जाएँगे।

यह बातें सुनने में अजीब लगेंगी पर ख़ासी व्यवहार-सम्मत है कि कैसे कभी-कभी कोई बुरी तरह लिखी हुई कहानी हमारे रचना-विवेक को झकझोर सकती है और लिखने का कारण बन सकती है। हमें लगने लगता है, इसी यथार्थ को हम प्रस्तुत लेखक से ज़्यादा अच्छी तरह लिख सकते हैं और एक नया रचनात्मक सिलसिला चल निकलता है। रचने के क्षण ऐसे ही अयाचित, अन्दर की ऊर्जा से प्राणवान होते हैं। वे रचनाएँ हमें ज़्यादा अच्छी लगती हैं जो किसी रूप में हमें छेड़ती या छूती हैं। हमें कौन से और किस स्तर के संवेदन झकझोरते हैं -इसे जान लेने से हमारी अपने बारे में जानकारी बढ़ती है। हम अपने रचनात्मक क्षमता के मर्म को पहचानने लगते हैं। ज़्यादातर तो हमें अपनी समझ और व्यक्तित्व के समतोल की चीज़ें अच्छी लगती हैं या वे दिशाएँ प्रेरित करती हैं जिनका सम्बन्ध हमारे अपने चेतन-अचेतन से हो। अपने चेतन को तो हम रोजमर्रा के जीवन में जानते रहते हैं, अचेतन को नहीं जानते। अचेतन के बारे में हमारी धारणा साफ हो जाए तो वह क्षेत्र भी हमारे यथार्थ का हिस्सा बन जाता है। मोटे तौर पर कहा जा सकता है कि हमारा अचेतन उन चीज़ों से बना होता है जो अभी पूरी नहीं हुई। पर जिनके पूरा होने या करने की हमारे मन में जबरदस्त आकांक्षा है। इस आकांक्षा में हमारी बहुत-सी अधूरी इच्छाएँ, अभिलाषाएँ, प्रेरणाएँ और सपने शामिल हैं। वे एक खामोश तरीके से हमारे अन्दर दुबके बैठे होते हैं और हमें संचालित नियन्त्रित करते हैं। रचनाकर्म के इतिहास में ऐसा होता रहा है कि कभी भीतरी विस्फोट या बाहरी प्रेरणा से वे वृत्त जाग जाएँ और कोई अचानक लिखने लगे जैसा मेरे साथ हुआ। इससे एक और बात साफ हो जाती है कि लिखने का मतलब शब्दों द्वारा अभिव्यक्ति करना मात्र है जबकि जिस बारे में लिखा जाता है वह हमारे मन में, हमारे जीवन में बरसों पुराना हो सकता है, इसीलिए कथावस्तु का क्षेत्र अपार है। वह भूत, भविष्य, वर्तमान कहीं से भी ली जा सकती है। लिखने को एक तरह से हम अभिव्यक्ति की कला मान सकते हैं जबकि हमारे सोच, बोध, चिन्तन और अनुभव का एक अरोक सिलसिला है। जिसका थोड़ा ही हिस्सा हमारी रचनाओं में आ पाता है। कोई भी लेखक यह दावा नहीं कर सकता कि वह जो कुछ सोचता रहा है लिखा चुका है या अपने जीवनकाल में लिख लेगा। यह असन्तोष हर लेखक के मन में सदा बना रहता है। हम जिस विधा में लिखते हैं उसकी अपनी भी कुछ कलात्मक शर्तें होती हैं जिसके चलते हमें अनुभव की निरन्तरता में से उस कलारूप के अनुरूप अलग-अलग चौखटे काटने पड़ते हैं। इस प्रक्रिया में भी बहुत कुछ घटता-बढ़ता-छूटता है। यह सब कुछ हम लिखते-लिखते सीखते हैं। उसका कोई तैयार फार्मूला नहीं होता।

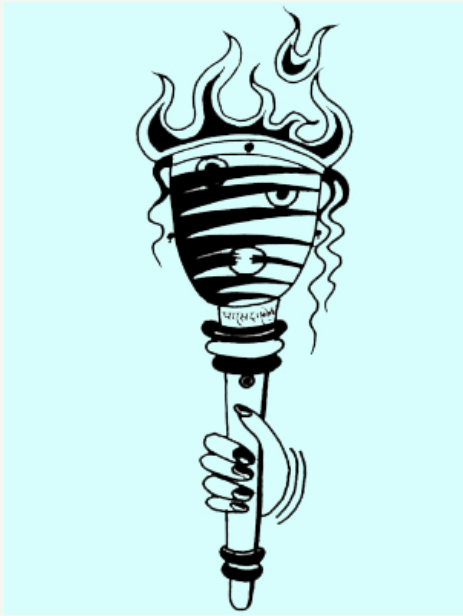

साहित्य की खूबी यही है कि वहाँ हम घटनाओं के नहीं, संवेदन के भागीदार होते हैं। घटनाएँ तो हरेक के जीवन की अलग-अलग अपनी-अपनी होती हैं। उनका होना या घटित होना हमारे भीतर कोई साँझापन पैदा नहीं करता। संवेदन द्वारा पाटा-बाँटा हुआ रास्ता ही साँझे की अनुभूति पैदा कर सकता है इसी से साहित्य के सार्वजनीन या सार्वभौमिक होने की प्रतीती होती है। पढ़ते समय रचना से तादात्मय हमारे संवेदनतन्त्र को उकसाता ज़रूर है पर हम लेखक से मुक्त होते जाते हैं, और अपने साथ जुड़ते जाते हैं। अपनी स्थितियों और क्षमताओं को तौलने लगते हैं। साहित्य हमारे सोचने की अन्तर्भूत ऊर्जा को उकसाता है। यह ऊर्जा हमारे अपने ही अन्दर होती है बाहर से नहीं आती है। भीतर ही कहीं रखी होती हैं। दूसरों के अनुभव हमें उकसाते ज़रूर हैं पर पहुँचना तो हमें अपने तक ही होता है। साहित्य का सत्य हमें वहाँ तक पहुँचाता है जहाँ हम अपने आपको समृद्ध और सक्षम महसूस कर सकें।

अन्ततः तो लेखन चेतना का क्षेत्र है। दूसरे लेखक हमें प्रभावित या प्रेरित कर सकते हैं पर लेखन का रास्ता तो आत्मान्वेषण और अपनी आकांक्षा और प्रेरणा की पहचान से बनता है। यह रास्ता आसान नहीं है। श्रम, नियम, साधना, निष्ठा, ईमानदारी ही नहीं असफल होने का साहस भी माँगता है। इस क्षेत्र में सक्रिय रह कर यश पा जाने की बात बड़ी उत्तेजक और लालसा भरी लगती है पर होती नहीं। यह रास्ता एक बेहद निर्मम संसार का सामना करने और कड़े प्रतिमानों पर पूरा उतरने के इम्तहान जैसा है क्योंकि यहाँ निजी कर्म सामाजिक कर्म की तरह प्रस्तुत होता है उसे दूसरों के सामने लाना पड़ता है और वह परीक्षणीय भी होता है। ऐसी किसी चीज़ की रचना के लिए हमें सबसे पहले खुद सक्षम होना पड़ता है। अपने को साधना पड़ता है, क्योंकि हम ही वह पात्र या यन्त्र हैं जिसमें रचना सम्भव होती है और समाज के अन्तः करण का खाद्यान्न होती है।

यश की कामना यदि लिखने की प्रेरणा का कारण हो तो लिखने से विरत रहना ही अच्छा है। लेखन आम का ऐसा कोई पेड़ नहीं जिस पर हर साल रसीले फल लगते हों और हम तभी का तभी उन्हें तृप्ति भर खा भी सकते हों। वैसे भी यह

ज़रूरी नहीं जो पेड़ रोपे वह फल खाने की इच्छा रखे। ज़्यादातर लेखक सारा जीवन श्रम करने के बाद भी यश-धन या उल्लेखनीय मान्यता के बिना ही मर जाते हैं। यश की कामना से मुक्त हों और असफल होने की तैयारी मन में हो तो ही लिखने में प्रवृत्त होना चाहिए। लिखना स्वैच्छिक कर्म है, उसे छोड़ा या अपनाया जा सकता है। उसके चुनाव के कारण व्यक्ति की अपनी प्रवृत्ति और प्रकृति में होते हैं। व्यक्तित्व में वैसी अनुकूलता, वैसी प्रतिभा, वैसे उपकरण हों तो ही साहित्य रचना सध सकती है। लेखन के साथ उच्चता या यशस्विता की उपलब्धि का रुमानी विचार जोड़ना ठीक नहीं। इसे धीरज और श्रम की आद्यन्त परीक्षा कहना ही ज़्यादा श्रेयस्कर है।

कथादृष्टि

हमारे सामने दो सवाल हैं। पहला कथा-दृष्टि का सवाल,दूसरा कथा-विधा पर आरोपण के आतंक का सवाल।

इसमें सन्देह नहीं कि गद्य में लिखी जानेवाली, जीवन-सादृश्यता को पाने के लिए सचेष्ट रहनेवाली, परिवेश की स्थूलता को साथ लेकर चलने वाली कहानी विधा ने अपने लिए सरलीकरण के सैकड़ों खतरे मोल ले रखें हैं। उसकी सहज सरल विवरणात्मकता के पीछे साहित्यिक कृतित्व के लिए ज़रूरी संश्लिष्टता छिपी है, यह बात अनदेखी रह जाती है, क्योंकि तैयार रचनारूप ने अपने सब आड़े-तिरछे कोने अन्दर ही साथ लिए होते हैं। यह अपनी क्रियाशील सतह पर हर तरह के विपरीत (समकालीनता और दृष्टि) का सन्धान करके ही व्यक्त रूप में बाहर आई होती है, अत: यह मानकर चलना चाहिए कि परिणाम के स्तर पर कहानी की सादगी भ्रामक है। अथाह को नापकर एक मुट्ठी में खिंचकर जानेवाले जाल से उसकी तुलना की जा सकती है।

विचारधारा के आरोपण का मुद्दा बरसों से कहानी के साथ-साथ चल रहा है क्योंकि एक ऐतिहासिक दौर में कथा-विधा के विकास और विचारधारा के बौद्धिक आत्मसातीकरण का तथ्य सहवर्ती होकर चले हैं इसलिए कथाकारों की बहुत बड़ी पीढ़ी को एकदम बनी-बनाई, एकदम सामायिक -जैसी दीखती कथावस्तु के एकाएक उपलब्ध हो जाने का प्रलोभन बुरी तरह जकड़े रहा। दोनों के बीच जबरदस्त आवाजाही रही, इतनी कि इस बीच फूहड़, सपाट और निस्तेज किस्म की ढेरों रचनाएँ अस्तित्व में आई। यह थोक उत्पादन छँटाई के संकट को सामने रखता वहाँ तक तो ठीक था, पर इस स्थिति में उसी-उसी अनुभव से गुज़रने की ऊब और विरसता भी पैदा की, जो कहानी के बहुलांश को पढ़े जाने के विरुद्ध पड़ता है। यों नए बनते पाठकों के लिए सपाट भाषा और सरलीकरण से बनते ये फ़ार्मूले सुविधाजनक भी रहे, पर क्या कहानी विधा की समझ, गम्भीरता और संस्कार का दायरा भी विस्तृत हुआ?

कहने का यह अर्थ नहीं कि यह स्थिति मात्र आकर्षण और प्रलोभन की ही स्थिति थी, इसके पीछे विशेष जीवन-दर्शन की टेक, वैचारिक कमिटमेंट और फलकामिता की सुचिन्तित इच्छा भी सक्रिय रही, इसलिए तब से अब तक कथा के फलक पर यह कथाकार की रचना मंशा की तरह परिभाषित होती रही और अपनी समूहगत प्रवृत्तियों को 'जनवाद' के नाम से परिभाषित करने का इसरार भी करती रही, (इस बात को भूलकर कि साहित्य सदा से जन का ही हिमायती है। उसकी संवदेना का जल उधर ही बहता है जहाँ गड्ढे होते हैं।) इस वैचारिकी के उत्साह में विचारधारा ही कथावस्तु,अन्तर्वस्तु, रचनामंशा के पर्याय की तरह परिभाषित होने लगी, जबकि यह सब रचना के स्तर पर अलग-अलग और विभेदक तत्त्व हैं। रचना तभी फलकामी और फलगामी हो सकती है, जब वह अपने क्षेत्र के अनुशासन को माने।

इसका दूसरा परिणाम ये हुआ कि जो कुछ जितना कुछ -निजी-अनिजी-क्रम विचारधारा के बाहर का था, उसे कलावाद नाम की गठरी में समेट दिया गया, जबकि कलावाद नाम का कोई विचार, वाद या पद्धति है ही नहीं। वह एक प्रकार के साहित्य से दूसरे प्रकार के साहित्य को अलगाने के क्षोभ का नाम है। इस प्रकार की असहिष्णुता साहित्य-जैसी मत-असहमत के लिए समावेशी ज़मीन और साहित्यिक आचरण के विरुद्ध पड़ती है। साहित्य एक जनतान्त्रिक स्वचेतन फलक है, वहाँ विचार की स्वतन्त्रता को सदा से एक मूल्य के स्तर तक ले जाकर प्रतिष्ठित किया जाता है।

यों कथा की ज़मीन पर विचारधारा के इस्तेमाल की बात कोई अछूत किस्त की बात नहीं मानी जा सकती, पर यह नहीं भूलना चाहिए कि कहानी विचारधारा का मंच नहीं, बल्कि विधा के आन्तरिक विवेक द्वारा कहानी को उपार्जित करने का रचना - कौशल है, जिसे कहानी के सभी अवयवों के विभाजन की चेतना को उत्सर्जित करके ही पाया जा सकता है। कहानी - जैसी रचनात्मक विधा में विचारधारा का दर्जा मात्र किसी कथावस्तु की प्राप्ति से ज़रा भी ज़्यादा नहीं है और कथावस्तु कहानी के इतने अवयवों में से महज़ एक अवयव है -वह भी आधार रूप होने के कारण सबसे ज़्यादा अनगढ़ और स्थूल अवयव, जिसे अन्तर्वस्तु के मर्म और रूपाकार को पाने के लिए अपने आपको पूरी तरह त्यागना पड़ता है।

यहाँ शायद इस बात का उल्लेख ज़रूरी हो कि कहानी में अन्तर्वस्तु (थीम) और कथावस्तु एक ही चीज़ नहीं है। कथावस्तु तो स्थिति, स्थान, पात्रों का चुनाव करती है, जबकि अन्तर्वस्तु रचनाकार की अन्दरूनी रचना मंशा को उद्घाटित करती है, जो कथा के रचने का प्रेरक कारण बनी। वह रचना के पीछे काम करती कथाकार की इच्छाशक्ति का काम है। वस्तुत: कथावस्तु के रचनात्मक क्रियान्वयन में से अन्तर्वस्तु उपार्जित की जाती है। दोनों में गुणात्मक भेद है। एक सूक्ष्म है, दूसरी स्थूल। कहानी के स्तर पर वह उपलब्ध स्थल में से अनुपलब्ध को पाने की कला है। इसी स्थल पर हर कथाकार की निजता, मौलिकता, नवीनता, आत्मबोध, सौन्दर्य-सृष्टि की सब सम्भावनाएँ सक्रिय होती हैं।

तो फिर कथा-दृष्टि क्या है ? कहानी में इसकी क्या स्थिति और स्थान है ? क्या वह कथावस्तु की तरह पहले से प्रसूत या उपलब्ध कोई चीज़ है, जिसे दूसरे कथा-अवयवों की तरह नापकर किसी रचना-रसायन में ढालना होता है?

कहानी के कार्यपक्ष तक आते ही कथा-परिवेश का प्रश्न पहले उठाना पड़ता है, क्योंकि ज़्यादातर वही कथा के विस्तार का, आकार का आधार बनता है। यह दिक्कत दूसरी विधाओं के साथ उतनी नहीं है। कविता उड़ान ले सकती है। अपने अर्थ के लिए (पड़ावों की पहचान दिए बिना) एक शिखर से दूसरे शिखर तक पहुँच सकती है। इसके पास अपना एक अयाचित स्पेस है, जिसे लिखनेवाला और पढ़नेवाला बहुअर्थी स्तरों से पाट सकता है, पर कहानी को अपनी विश्वसनीयता पाने के लिए अपना अर्थ और व्यर्थ (परिवेश) साथ-साथ ढोना पड़ता है।

परिवेश एक बहुत बड़ा क्षेत्र है। उसमें कथावस्तु विषयवस्तु, स्थान, समय, चरित्र और नियति (इस सन्दर्भ से मनुष्य मात्र की नियति) सब कुछ शामिल हैं। कथाकार को परिवेश के इतने बड़े विस्तार और अन्तर्वस्तु के इतने केन्द्रित सरोकार को एक ही समय, एक ही स्थान पर संयोजित करना पड़ता है। कथा-अवयवों की इस बहुलता को वह एक संश्लेष की तरह अर्जित करता है, जो एक आन्तरिक और जटिल प्रक्रिया है। जटिलता का अर्थ रचना की क्रियाशील स्तर पर एक साथ दिखाई देते बहुत से आशयों, संकेतों, विपरीत की (पहले तो) पहचान, फिर एक समुचित प्रभाव के हक़ में इन सब पृथकताओं का विलयन है। तब जाकर कोई रचनात्मक अन्विति सधती है।

कहानी का कर्म है - अनुभव को कला में परिणत कर पाना। उसे ऐसे संयोजन में बाँधना कि रचना किसी वाद्ययन्त्र की तरह बजे। (यह मानक स्थिति का विवरण है। इसमें विचलन तो होते ही रहते हैं, जो अच्छी-बुरी कहानी की श्रेणी को निर्धारित करते हैं।) कहानी मूलत: एक कसी हुई मितव्ययी विधा है, इसलिए कथाकार के रचना-विवेक को बहुत बड़ी चुनौती फेंकती है कि वह 'स्मृत-अनुभूत-आत्मसात' के इतने बड़े हिस्से में से किसे चुने, किसे छोड़े ताकि कहानी के प्रभाव की समग्रता खण्डित न हो और कहानी एक समूचे अनुभव के आस्वाद की तरह पाठक में संवेदित हो, सहवेदन पैदा करे। संवेदन में ही यह क्षमता होती है कि वह दूसरे तक जा सके, क्योंकि वह चेतनागत है। तथ्य तो अपनी तथ्यात्मकता के कारण ही निष्क्रिय और तटस्थ होते हैं, इसलिए कथा का वाहक विवरण नहीं, संवेदन होता है। कहानी में संवेदन द्वारा पाए अन्वेषित सत्य की तुलना हम उस बल्ब से कर सकते हैं जिस एक के जल उठने से प्रकोष्ठ में सारे आकार-प्रकार प्रकाशित हो उठते हैं। कहानी को इसीलिए उपन्यास की तरह 'उत्तरोत्तर विकास की नहीं एकाएक उद्घाटन (मार्क शोर) की विधा कहा गया है।'

उद्घाटित होता सत्य सत्य होने के कारण ही विश्वसनीय और दृष्टिवान होता है। दृष्टि का गुण विस्तृत और प्रकाशित होना है, किसी ऐसे बिन्दु को खोज पाना, जहाँ खड़े होकर भूत,भविष्य,वर्तमान सभी प्रकाशित हो सकते हों। अपने सृजनात्मक उत्कर्ष तक पहुँची ऐसी रचना दृष्टिसम्पन्न और स्वायत्त होती है, इसीलिए अपने समय के अलावा हर देशकाल को संदर्भित कर सकती है। उसका सार कथावस्तु में नहीं, उसके परे देखने की अर्थवत्ता में है, जो अपने सृजनात्मक आवेश और उन्मेष में से ही अन्वेषित और उद्भूत हो सकती है। अच्छी रचना एक समूचे अनुभव के आस्वाद की तरह पाठक में संवेदित होती है और अपना अचूक प्रभाव छोड़ती है। प्रभाव अचूक ही इस अर्थ में है कि उसे पाठक में सहवेदन जगाकर अपनी परिधि का विस्तार किया है और उसके मन को एक नए भावबोध से समृद्ध किया है।

दृष्टि एक अमूर्त और चेतनागत चीज़ है इसलिए कहानी के दूसरे अवयवों से गुणात्मक रूप से अलग है। दूसरे अवयव-घटित, पात्र, चरित्र-चित्रण, संवाद, स्थान-सब दिखाई देते हैं, पर यह दिखाई नहीं देती, केवल प्रभाव की समग्रता के स्तर पर हाथ लगती है और सच तो यह है कि कहानी का प्रभाव-पक्ष कहानी के अन्त से पहले कभी दिखाई नहीं देता। रचना की आवयविक पूर्णता से पैदा होती दृष्टि इसलिए कहानी के कलेवर में सदा संचित हुई रहती है। उसे अपने काल में या हर काल में खोला या संदर्भित किया जा सकता है। लेखक के लिए यह एक कार्यन्विति है, पाठक के लिए एक प्राप्ति। यह प्राप्ति विविध रूपा है। यह कभी संवेदन के विस्तार के रूप में हाथ लगती है, कभी नए भाव-बोध, कभी सत्य की कोई काट, कभी किसी अछूते दृष्टिकोण की उपलब्धि का अहसास जगाकर, कभी पाठक की सोच में नई प्रश्नाकुलता,नया सौन्दर्यबोध पैदा करके। इसे किसी भी रूप में देखा जा सकता है। वह उत्कृष्ट रचना का ही एक आत्मसम्पन्न अंग है। उसका कोई सुनिश्चित रूप नहीं होगा। इतना भर तय होता है कि वह अपने समय से आगे जाती हुई प्रभावी, टिकाऊ और अच्छी रचना है।

"इधर की कहानी का नाम स्वत: ही 'समकालीन' होने लगा है, जैसे कहानियों को खेमों में बाँटते और उन पर टिप्पे चिपकाते जाने की व्यर्थता से थककर कहानी ने अन्तत: अपने विशद और व्यापक दीक्षाधर्म की शरण ले ली हो, वह अपने नामकरण से भी अपने स्वरूप और स्वधर्म के निकट चली गई हो। कहानी से अपेक्षा सदा यही होती है कि वह अपने समकालिक यथार्थ को सम्बोधित और प्रतिबिम्बित करे (चाहे समकालीनता का यह मिथ खुद धुँधलके में है।) समकालिकता में अपने समय के सामने खड़े होने का दबाव ज़रूर है पर कितनी ही कहानियाँ हैं जो समकालीन समय में लिखी जाने के बावजूद जन्म के क्षण के साथ ही पुरानी हो चुकीं।"

इस बात का यदि इस रूप में खुलासा किया जाए तो आश्चर्य होगा कि कथावस्तु को इतनी भिन्नता के बावजूद कहानी की वस्तुत: दो ही कोटियाँ हैं - अच्छी कहानी या खराब कहानी। प्रभावी कहानी या निष्प्रभाव कहानी। इनमें से किसी भी कहानी के रचना-विधान को खोलकर उसके अच्छे या बुरे होने की कार्यकारण- श्रृंखला तक पहुँचा जा सकता है और कथा-दृष्टि के सवाल को साफ किया जा सकता है।

कथा समय

इधर की कहानी का नाम स्वत: ही 'समकालीन' होने लगा है, जैसे कहानियों को खेमों में बाँटते और उन पर टिप्पे चिपकाते जाने की व्यर्थता से थककर कहानी ने अन्तत: अपने विशद और व्यापक दीक्षाधर्म की शरण ले ली हो, वह अपने नामकरण से भी अपने स्वरूप और स्वधर्म के निकट चली गई हो। कहानी से अपेक्षा सदा यही होती है कि वह अपने समकालिक यथार्थ को सम्बोधित और प्रतिबिम्बित करे (चाहे समकालीनता का यह मिथ खुद धुँधलके में है।) समकालिकता में अपने समय के सामने खड़े होने का दबाव ज़रूर है पर कितनी ही कहानियाँ हैं जो समकालीन समय में लिखी जाने के बावजूद जन्म के क्षण के साथ ही पुरानी हो चुकीं। इसका अर्थ है समकालीनता समय और रचना की टकराहट को इंगित करता एक नाम है और तो तत्त्व कथा की समकालीनता को रेखांकित और विस्तृत करते हैं वे कुछ और या कहीं और हैं।

रचना का अपना समय कहानी में पूरी तरह उपस्थित हो, यह माँग सत्य तो है पर सत्य का सरलीकरण भी। क्या ऐसा सम्भव है कि साहित्य की कोई एक विधा समाज जैसी बहुलतन्त्री, बहुदिशामधर्मी वास्तविकता का प्रतिनिधित्व करे

या कर सके? याकि क्या यह सम्भव है कि समय रचना की पकड़ में आ ही जाए ? क्या यह ज़रूरी है कि दोनों की प्रकृति एक दूसरे के अनुकूल ही हो ?

समय और रचना के सम्बन्ध के सवाल सनातन सवाल हैं जो हर काल में अपनी ज़रूरतों के अनुसार सुलझाए और समझे जाते हैं। इन चेष्टाओं के बावजूद सवाल बने रहते हैं। ये सवाल या तो सुलझाने से परे हैं या उन्हें जानबूझकर छोड़ दिया जाता है उन क्षेत्रों में दाखिल ही नहीं हुआ जाता जो इन तत्त्वों के सजातीय रूप को स्पष्ट करते हैं। समय हमारे समाने दो तरह से उपस्थित होता है या हम समय में दो तरह से उपस्थित रहते हैं। सार्वकालिक समय और समकालीन समय। सार्वकालिक समय सदा उपस्थित रहता है। वह हमारी सत्ता से निरपेक्ष और अरोक है। उसका काम अटल उपरामता में बीतते जाना है। इसमें भूत, भविष्य, वर्तमान, की श्रेणियाँ नहीं होतीं। ये श्रेणियाँ हमारी चेतना या दृष्टि की दी हुई हैं।

दूसरा समय समकालीन समय है जिसमें हम अपने अस्तित्व के सन्दर्भ से शामिल हैं। उसमें हमारे जातीय संस्कार और स्मृति का सार-तत्व भी शामिल है। यही समय हमारा वास्तविक समय है जिसके चलते हम उसके संघर्षों, आहटों, जटिलताओं, खुशियों और उद्वेलनों को जीवनगत रूप से झेलते हैं और अपनी नियतिगत विवशताओं से लड़ते हैं। यही समय वास्तविक समस्याओं को खड़ा करता और चुनौतियाँ फेंकता है। इन संघर्षों की कसमसाहट में घुटते हम विकल्पों को ढूँढ़ने का उपक्रम करते हैं। रचना एक ऐसा ही उपक्रम है, ऐसी ही तलाश। समस्याओं के घर्षण में एक प्रकार की रचनात्मक बौद्धिक सहचरता का प्रयास। अपनी रचनात्मक दीक्षा और दृष्टि के माध्यम से अपने समय में स्थित रहने की चेष्टा, चाहे यह सवाल भी इस क्रिया में निहित है कि रचना किस मुद्रा में अपने समय से जुड़े कि सार्वकालिक समय में भी अर्थ-सम्भव बनी रहे।

रचना अपने समय में रहे, यहाँ तक तो ठीक है पर दोनों की प्रकृति एक-दूसरे के विपरीत है। समय की सत्ता हमसे बाहर, निरपेक्ष और निरन्तर परिवर्तनशील है। यदि उसके परिवर्तनशील होने का हमें इतना तीखा एहसास न हो तो उसे बदल देने की हमारी इतनी जोश-खरोश भरी आकांक्षाएँ

"रचना करना इस प्रक्रिया, उस सम्भावना में शामिल होने का नाम है, जो अपने समय के साथ -साथ बीते हुए समय और आने वाले समय को साथ रचकर एक साथ देखने में समर्थ है। बेशक अलग-अलग समय के लिए रचना के पास अलग -अलग उपकरण हैं। वह अतीत के लिए 'स्मृति', वर्तमान के लिए 'दृष्टि' और भविष्य के लिए 'सम्भाव्यता ' का सहारा लेती है, जो कि मनुष्य के चेतनागत उपकरण हैं। उनका इस्तेमाल भी केवल चेतना के माध्यम से ही हो सकता है, मैदान में उतर कर नहीं। चेतना मनुष्य का लक्षण है, पदार्थ का नहीं। वह व्यक्ति की होती है, समूह की नहीं।"

एकाएक रद्द हो जाएँ। जबकि वे इतनी आशा और उत्साह भरी हैं कि पूरे मतवाद, पूरी आइडियोलॉजी को जन्म दे रही है- और तो और इस परिवर्तनशीलता की गति इतनी तेज़ है कि जब तक हम जीवन के बारे में अपने आशय और रचना में अपने उपकरण सिद्ध करते हैं, समय आगे निकल जाता है जिसके चलते हमारी जीवनगत समस्याओं का रंग-रूप, आधार-विचार ही बदल जाता है। हम अपने को सदा दौड़ते हुए परिदृश्य की विवशताओं के बीच महसूस करते हैं। उसे रचना में पकड़ पाना या न पकड़ पाना दोनों तनाव भरे हैं। इन सब कारकों के बावजूद रचना सम्भव होती है और अपने समय को झलकाते हुए होती है। इसका अर्थ है रचना के पास अपनी कोई नितान्त निजी एकदम अपूर्व, अ-स्थानान्तरणीय पद्धति तो ज़रूर होती होगी कि यह असम्भव सम्भव होता है। रचना समय से भिड़ने के लिए तैयार हो जाती है और सामने खड़ी चुनौतियों का सामना करने के लिए सन्नद्ध भी।

हालाँकि यह सोचना कि रचना जिस समस्या या घटना को लेकर समय से भिड़ रही है उसका कोई हल तुरन्त निकल आएगा या वस्तु का विधान बदल जाएगा, स्थिति का सरलीकरण करना है क्योंकि समस्याओं और समाधानों की पूरी श्रृंखला मनुष्य के पूरे जीवन को नियन्त्रित करते असंख्य कारण-समूहों में है, केवल हमारी सोच और संचालन में रहने वाली ज़मीन पर नहीं। वैसे भी यह ज़रूरी नहीं कि समस्याएँ हों और उनके उत्तर भी हमारे पास हों। यह भी ज़रूरी नहीं कि उन समस्याओं का उत्तर किन्हीं तयशुदा स्थानों पर हो। रचना के द्वारा हमारी चेष्टा उन सवालों को सामने लाने और प्रश्नाकुलता के उस अन्तरिक्ष में दाखिल होने की होती है जहाँ हम अपने उपकरणों पर दबाव डालने के लिए मजबूर हो सकें। सामने घटती घटनाओं के अंकन के लिए अपने दिमागी दायरों में सहवर्ती चरित्र तलाशने लगें। जीवन-यथार्थ के जिस हिस्से को रचना के लिए चुनें उसकी अन्दरूनी पेचीदगियाँ समझ पाएँ। जीवन -व्यवहार की सरहदें बढ़ाएँ।

रचना करना इस प्रक्रिया, उस सम्भावना में शामिल होने का नाम है, जो अपने समय के साथ -साथ बीते हुए समय और आने वाले समय को साथ रचकर एक साथ देखने में समर्थ है। बेशक अलग-अलग समय के लिए रचना के पास अलग -अलग उपकरण हैं। वह अतीत के लिए 'स्मृति', वर्तमान के लिए 'दृष्टि' और भविष्य के लिए 'सम्भाव्यता ' का सहारा लेती है, जो कि मनुष्य के चेतनागत उपकरण हैं। उनका इस्तेमाल भी केवल चेतना के माध्यम से ही हो सकता है, मैदान में उतर कर नहीं। चेतना मनुष्य का लक्षण है, पदार्थ का नहीं। वह व्यक्ति की होती है, समूह की नहीं। वह हर किसी की अपनी और अपूर्व होती है इसीलिए हर कहानी अपूर्व और जीवन अनुभव की भागीदारी और सम्प्रेषण के प्रसार में साझा होती है। अपने एकांतिक परसेप्शन के कारण वह उसी एक व्यक्ति द्वारा लिखी जाती है। इसीलिए हर कहानी अपूर्व, अकल्पित, अपनी मौलिक उद्भावनाओं से चकित भी करने वाली होती है। समय और समस्याओं के एक-सा होने के बावजूद उसका कोई सामूहिक या एक-सा फलित नहीं होता।

हेराक्लाइट्स ने कहा था - एक ही धारा में हम दोबारा पैर नहीं डाल सकते। हमारा अगला क्षण वह नहीं होता जो बीत चुकता है। वह कोई दूसरा क्षण होता है, यह कोई दार्शनिक उक्ति मात्र नहीं है। समय की सतत प्रवाहमानता को दर्शाता सत्य है। हमारा वास्तविक जीवन तो परिवर्तनशीलता के इस क्रम से हर पल संचालित होता है। इसे

स्वीकारते हुए, समोते हुए चलने का यत्न करता है पर रचना इस तर्क को नहीं मानती और दौड़ते हुए प्रवाह में अपनी एक धुरी स्थापित करती है। समय की सतत प्रवाहमानता में कहानी के रूप में किसी घटना और घटित की भँवर में आन टिकती है और उसके भीतर से रचनात्मक रूप से जीवन के अक्स और आशय को विस्तृत करती है। नया समय रचती है। जीवन के सहवर्ती चरित्र और स्थितियाँ खड़ी करती है। अनुभविक और विश्वसनीय शब्दों में जीवन की सानुरूपता दर्शाती है। पैदा की हुई इस सृष्टि को निजी सामाजिक, व्यावहारिक, नैतिक, ऐतिहासिक, राजनैतिक कोई भी ढाँचा दिया जा सकता है।

यह उल्लेखनीय है कि कहानी की संवेदनात्मक प्रस्तुति हमारे बौद्धिक और आत्मिक परिष्कार के साधन ज़रूर उपस्थित करती है पर हमारे सूचनात्मक तन्त्र में कोई खास इज़ाफ़ा नहीं करती। जिस वास्तविकता की हम बहुत दुहाई देते हैं वह हमें जीवन-यापन के दूसरे व्यवहारों,अखबारों और सूचना-तन्त्र के दूसरे औज़ारों के माध्यम से पहले से ज्ञात होती है। रचना का पहले या पीछे, रचना के बावजूद वह सब कुछ हमें उपलब्ध होता है यदि रचना इन सूचनाओं को कथा-वस्तु के रूप में उठाने का उपक्रम करती है तो वह उस वास्तविकता के चेतनागत आयामों,सम्भावनाओं और स्तरों की खोजबीन और पड़ताल के लिए करती है। उसकी प्रणाली वास्तविकता का यथातथ्य चित्रण नहीं संवेदना का चेतनागत फलित है। बाहरी घटित का तर्क वहाँ केवल भीतर शामिल होता है। कहानी की सारी बुनता अपने ही रचे हुए कला यथार्थ से होती है, बाहरी यथार्थ से नहीं उसकी उपलब्धि भी रचनात्मक तर्क से,भाषा शिल्प के रचनात्मक औज़ारों से, रचनात्मक ज़मीन पर ही चरितार्थ हो सकती है। वहाँ जीवन की बाहरी वास्तविकता नहीं बल्कि जीवन के बारे में हमारी संवेदनात्मक समझ उसे उपार्जित करती है। केवल उसी में यह विधायक दृष्टि होती है कि रचना को बनाए और अर्थवान दिशा दे। जीवन से रचना का रिश्ता तो खास विषमता से भरा है। जीवन ऊबड़-खाबड़, आगे-पीछे, क्रमहीन, अव्यवस्थित है। रचना क्रमवार, अर्थवान, व्यवस्थित है। रचने का अर्थ ही है व्यवस्था करना। रचना आदि-अन्त वाली है, जीवन का आदि अन्त हमारे हाथ में नहीं। जीवन का घटित हम पर चाहे-अनचाहे, जाने अनजाने झपटता है, हमें हतप्रभ-हैरान करता है। रचना में हम इस अपरिहार्यता, इस निश्चयता को तोड़ते हैं, रचना में नई और कई दिशाएँ, नई सम्भावनाएँ जोड़ते है। लम्बे समय तक प्रचलन में रहे शब्द और वो जो ज़िंदगी की धड़कन से छूटने लगते हैं, उन्हें नए और समकालीन समवायों में प्रस्तुत करते हैं। समय तेज़ी से बदले या अपने उपकरण असिद्ध होने लगें तो इतिहास, पुराण, समाजशास्त्र या अन्य दीक्षाओं को इस दिशा में समाविष्ट कर लेते हैं। पाठक समाज के चेतन-अचेतन पर इच्छित प्रभाव पैदा करने के लिए रचना एक दीक्षित और नियन्त्रित सृष्टि है, दूसरे शब्दों में एक साहित्यिक प्रविधि। कथा-यथार्थ इसीलिए जीवन का रूपात्मक, प्रतीकात्मक प्रतिनिधिक रूप है, जिसके माध्यम से समाज की सामूहिक चेतना में समस्याओं के प्रतिकार का बल पैदा करने की मंशा रहती है यह बल अपने चरित्र में सदा नैतिक होता है।

नैतिकता की बात चाहे समाज का नाभिक मामला है फिर भी इन दिनों अप्रासंगिक माना जाता है। वे दिन ज़रूर नहीं रहे जब समाजिक चिन्तन में नैतिक फैबरिक को कायम रखने की चिन्ता सर्वोपरि मानी जाती थी। यथार्थ और आदर्श की कटी-बँटी कैटगरीज़ होती थी। व्यवहार में यदि यह भेद-विभेद सम्भव न भी हो पाए पर विचार में इसकी परिनिष्ठता बनी रहती थी। पर ज्यों-ज्यों मूल्य बदले जीवन की जटिलता बढ़ी तो

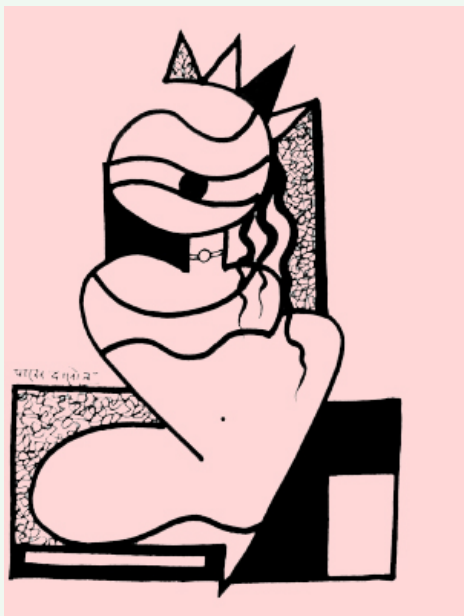

ऐसा विभाजन बौद्धिक या आत्मिक स्तर पर रख पाना कठिन होता गया और इन अवधारणाओं की सीमाएँ तरल होती गईं चाहे मनुष्य की इच्छा और मंशा में कोई बुनियादी फर्क न भी आया हो पर मेरी समझ में मनुष्य के सामाजिक चिन्तन में यह श्रेणियाँ अचल हैं चाहे इनका नाम कुछ भी रख दिया जाए इसे मनुष्य के 'जीवन' और मनुष्य के 'स्वप्न' की संज्ञा दी जा सकती है, इसे मनुष्य की 'स्थिति' और 'सम्भावना' की तरह समझा जाता है, इसे 'होने', और 'चाहने' के बीच के रचनात्मक फासले की तरह देखा जा सकता है, बौद्धिक विकास मानता के तर्क से इन दोनों अवधारणाओं का आशय संश्लिष्ट ज़रूर हो गया हैं पर इन्हें कथा यथार्थ और बाह्य-यथार्थ के बीच का भेद माना जा सकता है आदर्श की परिकल्पना मनुष्य के मन में बेहतर जीवन की परिकल्पना है, जिसके परिवृत्त में वह उन सब चिन्ताओं सम्भावनाओं उत्प्रेरकों को शामिल करना चाहता हैं जो उसकी बेहतरी के हक में हों यदि हम चिन्तन की पूरी परम्परा को समग्रता में रखकर देख सकें तो थोड़ा आश्चर्य तो ज़रूर होगा कि यह सारी उठा पटक चिन्तन मनन उत्तरोत्तर विकासमानता के स्वप्न को लेकर ही हैं साहित्य कर्म को समाज के अर्पण की यथातथ्यता में रिड्यूस कर देने के लिए नहीं।

कथा-यथार्थ यही नहीं जगह तलाशने के लिए जीवन से लड़ता है, बाह्य यथार्थ को ध्वस्त करता है, नए साँचे बनाता है, यथार्थ चित्रण के नए आयाम उकेरता है। सम्भावनाओं की ज़मीन खूँदता है, यदि उपलब्ध यथार्थ को कथा-यथार्थ में रूपान्तरित कर चुकने के बाद भी काम न चले तो मिथक की शरण में जाता है। फैंटैसी रचता है। प्रतीकार्थो में उतारता है। भाषा और अभिव्यक्ति के उपकरणों को आयरनी, अन्योक्ति, व्यंग्य, विद्रूप, वक्रोक्ति की ज़्यादा सुनी जा सकने वाली धार से माँजता है। अन्ततः कथा को कथा-वस्तु से परे ले जाकर एक ऐसा स्पेस रचता है जिसमें उसका स्वत्त्व और उपार्जित अर्थ एक साथ रह सकें और उसकी दृष्टि का सच फलीभूत हो सके जीवन को जीवन से ज़्यादा और आगे जाता हुआ अर्थ मिल सके।

हो सकता है कथा-यथार्थ की इसी नम्यता सम्भावनाशीलता और जीवन से सानुरूपता पैदा कर सकने के कौशल के कारण ही कहानी को जीवन की यथातथ्यता का सत्य मान लिया जाता

रहा हो, जहाँ संवेदना से नहीं विवरण से काम लिया जाता हैं। जितनी चेतनागत सम्भावनाएँ उसमें जन्म ले सकती हैं, उन्हें एकार्थी दिशाओं में धकेलते हुए रचनाक्रम को अपना अनुगत या माध्यम मान लिया जाता है, जबकि यह ज़रूरी है कि जीवन और रचना में कला यथार्थ और बाह्य यथार्थ में निश्चयात्मकता और सम्भावना में सार्वकालिक समय और समकालीन समय में भेद किया जाए, दूसरे लोगों को साहित्य की इन बुनियादी चिन्ताओं से दूर रखा जा सकता है क्योंकि यह नाटक के ग्रीन रूम या रचना की वर्कशाप के अन्दरूनी प्रश्न हैं पर रचनाकार के मन में इस सूक्ष्म भेद-विभेद और रचना प्रक्रिया की पद्धतियों का बोध ज़रूरी है, नहीं तो हमेशा ही ऐसा सरलीकरण होता रहेगा और समय को यथातथ्य, यथास्थिति के तर्क से चित्रित किया जाता रहेगा।

कहानी में समय की जिस रद्दो-बदल को लेकर हम इतने उत्साही होते हैं, उससे हमारा रिश्ता तो सदा चेतनागत स्तर पर तय होता है और इस बात को स्पष्ट करते हुए होता है कि हमारी धुरी जितनी ही मज़बूत होगी, हमारे उपकरण जितने ही दृष्टिगत होंगे, हमारी संवेद्यता जितनी ही रचनात्मकता सूक्ष्मता से संवर्द्धित होगी, वह आतंककारी समय उसे मिलने में असफल होगा। रचना सार्वकालिक प्रवाह में बह जाएगी। अतीत और भविष्य को अपने रचात्मक प्रयोजन में शामिल करेगी। दूसरी भाषा बनाएगी, अपना अलग परिवार जुटाएगी जिसमें कितने दूसरों के अनुभव शामिल होंगे। एक टिकाऊ कालातीत कहानी में जाने कितनी पीढ़ियाँ और कितने लोग शामिल हो चुकते हैं और हमारी चेतना का हिस्सा बन चुकते हैं। प्रेमचन्द, शरत, रेणु, अज्ञेय, हमेशा चेतना में शामिल हो चुके हैं उनसे हमारा संवेदनात्मक एकीकरण हो चुका है। अब आगे जो कुछ सोचा जाएगा उन्हें साथ रखकर सोचा जाएगा।

रचना में समय की अनासक्त सतता में से अतीत और भविष्य को साथ लेने की जो चेतनागत शक्ति है और स्थूलताओं से भरे जिस निस्सहाय निष्कारण संस्कार के लिए श्रेस्कर सम्भावनाओं वाला संसार रचने की जो क्षमता है, उसे सोचकर अकसर मन में थरथराहट पैदा होती है। यदि रचना कुछ और न भी करे मनुष्य की नियतिगत विवशताओं के सामने, विकल्पों, प्रारूपों, सम्भावनाओं का मानचित्र ही खड़ा कर सके तो प्रतिरोधक बल की सिद्धि होती है। हमारी धार्मिक, सांस्कृतिक चिति ने तो पुनर्जन्म जैसी संदेहास्पद बात को अच्छे -बुरे कर्मों की कल्पना से जोड़ रखा है ताकि मनुष्य जीवन की अंतिमता के विचार से पैदा हुए वैक्यूम का सामना हो सके। रचना का कौशल तो इसी संसार को सहज, सुन्दर, कल्पनाशील और बहुअर्थी बनाने का है। अँधेरे के अगाध में इतने आयामों वाली चित्तशक्ति और रचना शक्ति से सम्पृक्त होना और अपने आधारों की समझ को झाड़ना- पोंछना कोई छोटा काम नहीं है। एक ऐसे समय में जब हम संकट की पहचान के लिए किसी एक कारण पर हाथ न रख पा रहे हों अपने भीतर रखे शक्ति स्त्रोतों को स्मरण करना जरूरी तो है ही।

> **"हमारे कर्म में तो पहले से एक भयानक खतरा निहित है। अमरता के प्रलोभन का खतरा। अपने हर लिखित शब्द के साथ हमारे अचेतन में यह अनुगूँज प्रतिध्वनित होती रह सकती है, यह जाने बिना कि वह कौन-सा शब्द होगा, वह कौन-सा मंत्र होगा जो अपनी अर्थवत्ता और रेसोनेंस के कारण जिएगा। वह समाज के समकालिक कोलाहलों का इतिहास तो नहीं ही होगा।"**

वे दिन नहीं रहे जब हम चीज़ों के बारे में अलग-अलग सोच सकते थे। अब परिप्रेक्ष्य को पाने के लिए हमें अपनी दृष्टि के घेरों को बढ़ाना पड़ता है और एक ऐसे व्योम की रचना करनी पड़ती है जहाँ बहुत-सी चीज़ें एक साथ और एक सहवर्ती सत्ता में मौजूद देखी जा सकें। यह मानना पड़ेगा कि इस समय के समाज की समस्याएँ चौतरफा कारण -समूहों की उपज हैं, उसमें वैश्विक सन्दर्भ भी शामिल हैं। वह केवल हमारी भावुक कल्पना या संवेदना द्वारा उचके हुए प्रश्न नहीं हैं। जीवन को नियंत्रित, संवर्द्धित, दिशागत करने के लिए हमें रचना का ही नहीं सभ्यता, संस्कृति की चिन्तन परम्परा से विकसित हजारों दूसरे उपादानों का योगदान भी दृष्टिगत रखना होगा जैसे समाजशास्त्र, विज्ञान-प्रौद्योगिकी, संस्कृति -चिन्तन और ऐसे ही कितने ज्ञान-विज्ञान जो अनगिनत नियंत्रकों की श्रृंखला से उपजते हैं। समझ या संवेदना का कोई भी औज़ार हाथ में लिये हम एक बड़े समस्यामूलक विश्व में एक छोटी हैसियत से दाख़िल होते है। वहाँ हम केवल अपने कर्म में निष्ठा के चलते ही कायम कर सकते हैं नहीं तो कितने अनगिनत पहलुओं, अनुषंगों, तत्त्वों, कारको, माध्यमों से बना यह जटिल संसार है, उसकी अवगति किसी एक व्यक्ति, किसी एक विधा किसी एक दीक्षा के हाथ में नहीं मानी जा सकती। हम अपने स्वधर्म के सन्दर्भ में ही इस बड़े संसार की वैकल्पिक कल्पनाओं और समाधानात्मक भूमिकाओं में शामिल हैं। जिस संसार, समाज या जीवन की ओर हम अभिमुख होना चाहते हैं, उसका बड़ापन ही हमें अपने छोटेपन का एहसास कराता है, इसीलिए हमारे भीतर अपने लेखन की गहराइयों, तराइयों, अँधेरों, चुप्पियों, अन्तरालों को छू पाने की इच्छा बलवती होती है क्योंकि वह रास्ता हमारा अपना और जाना हुआ है। दूसरी दीक्षाओं के लोग वह रास्ता नहीं जानते। कथा-यथार्थ में अपने हिस्से का सच उकेरने का दाव केवल हमारा ही हो सकता है। उसका निभाव भी आत्मसत्ता को जानने की आश्वस्ति से होगा, दूसरों के अखाड़े में कूद जाने से नहीं।

रचना में कथा -यथार्थ के उपार्जन के अतिरिक्त मुझे यह सवाल गहरे आत्मान्वेषण के भी लगते हैं। रिश्ते का स्पष्टीकरण आदमी और आदमी के बीच ही ज़रूरी नहीं होता, अपने कर्म से भी उतना ही ज़रूरी होता है। हमारे कर्म में तो पहले से एक भयानक खतरा निहित है। अमरता के प्रलोभन का खतरा। अपने हर लिखित शब्द के साथ हमारे अचेतन में यह अनुगूँज प्रतिध्वनित होती रह सकती है, यह जाने बिना कि वह कौन-सा शब्द होगा, वह कौन-सा मंत्र होगा जो अपनी अर्थवत्ता और रेसोनेंस के कारण जिएगा। वह समाज के समकालिक कोलाहलों का इतिहास तो नहीं ही होगा। उसका भेद कहीं और है। जिन मूल्यवान चीज़ों को हमने बचा लिया होगा या जहाँ कहीं उसके बीच छितरे होंगे उन ठिकानों को ढूँढ़ना होगा। एक ऐसे समय में जब सूचना स्फीति ने हमारे सारे अकेले कोने और अन्तराल, हमारा स्पेस और अंतरिक्ष छीन लिया है तो हमें पुराने समवायों को त्यागकर नए विश्व के लिए अपने उपकरणों को ज़्यादा निष्ठा से लैस करना होगा।

❐

आलोचना : इस समय

श्रीराम त्रिपाठी

आलोचना और सर्जना एक-दूसरे के विरोधी होने पर भी एक-दूसरे के पूरक हैं। दोनों का अस्तित्व एक-दूसरे पर ही निर्भर है। आलोचना के बिना सर्जना अंधी और सर्जना के बिना आलोचना लूली है। आलोचना अगर आँख है, तो सर्जना हाथ। आँख के बिना हाथ और हाथ के बिना आँख की कोई अर्थवत्ता नहीं होती। यह सच है कि दोनों एक-दूसरे के विरोधी हैं, मगर ये एक-दूसरे से गुणकर, दोनों अपनी-अपनी अर्थवत्ता को बढ़ाते ही हैं, कम नहीं करते। इस प्रकार आलोचना और सर्जना को लाख विरोधों के बावजूद एक-दूसरे से संयोजित होना ही पड़ेगा। अन्यथा दोनों का बचना मुमकिन नहीं। आपसी संघर्षात्मक-संयोजना द्वारा ही वे एक-दूसरे से आगे बढ़ने की कोशिश में एक-दूसरे को ठेलते हुए ही आगे बढ़ते हैं। ऐसे में मुमकिन है कि कभी कविता पर ज़्यादा ज़ोर पड़े, तो कभी आलोचना पर। ऐसा करने में जिस पर ज़्यादा ज़ोर पड़ता है, उसका चीख़ना-चिल्लाना वाज़िब है। यही है साहित्य का संसार, जो जीवन-संसार से स्वायत्त होने पर भी उसके अंतर्गत है। उससे लगा होने पर भी अलग है। आकार में छोटा यह संसार, जिस वृहद संसार के अंतर्गत है, उसे इसे ही वहना भी है। उलटी लगती इस क्रिया को इसे ही सम्पन्न करना है। जीवन-संसार विविध और विभिन्न है। विविध और विभिन्न संसार को इसे ही अविधना और अभिन्नना भी है। अविधन और अभिन्नन की प्रक्रिया ही संघटन की प्रक्रिया है। भिन्नों का सम्मिश्रण ही संघटन और उसका गुण ही शील कहलाता है। जो लशे, वही शीलवान है। लोक में इसे लासा कहते हैं। इस तरह लोक-वेद एक-दूसरे के विरोधी होने पर भी एक-दूसरे से संयोजित होते हैं। लोक लसता है, जबकि वेद वदता। इन दोनों के संयोजन का ही नाम है, साहित्य। हमारी कोशिश होगी कि 'आलोचना : इस समय' को इस तरह विवादा जाये कि संवाद बन जाये। ध्यान रहे कि संवादना नहीं, विवादना। आजकल तो 'विवाद' शत्रु का पर्याय और 'विवादक' हिंसक मान लिया गया है। आज का दौर तो एकदम अहिंसक हो गया है। नित नई मिसाइलें और परमाणु हथियार बन रहे हैं, मगर दौर है अहिंसक। घनघोर अहिंसक। इनके निर्माताओं का कहना है कि रक्षा के लिए यह सब करना पड़ रहा है, मगर वे यह नहीं बतलाते कि रक्षा किससे करनी है। आपको कौन अरक्षित कर रहा है। पड़ोसियों में इतना बैर कभी न था, जितना आज है। कथनी-करनी में इतना बड़ा अंतर शायद ही कभी हुआ हो। इसीलिए आज हर शब्द अपने से जुड़े किसी भी अर्थ से बिलकुल अलग हो गया है। किसी भी शब्द का कोई भी अर्थ हो सकता है। पूरी स्वतंत्रता है। पूरी स्वछंदता है। जो चाहो करो, जैसे चाहो करो। एकदम बंधनहीन, उन्मुक्त। तभी तो जहाँ देखो वहाँ संवाद ही संवाद है। भिन्न-भिन्न संवाद है। सुर-सुरों की भरमार है। नहीं है तो केवल अभिन्न और असुर। तो झूठ काहे कहें, हम भी संवाद चाहते हैं, ख़ूब संवाद चाहते हैं, मगर जानते हैं कि यह तो बहुत कठिन काम है। इसके लिए शील चाहिए, जो अपने में है नहीं। इसलिए अपने तईं तो विवादेंगे ही, यह सोचकर कि विशेष नहीं बना, तो कम से कम विरोधी तो बनेगा ही। कुछ न करने से तो अच्छा है कि कुछ किया जाये। हाँ, इसके लिए भुगतने की तैयारी होनी चाहिए। तो दोस्तों, हम यहाँ जो कुछ कहेंगे, उसका नतीजा भुगतने को तैयार हैं। कुछ नहीं, तो कम से कम तजुर्बा तो हासिल होगा ही। चाहे अच्छा, चाहे बुरा। बुज़ुर्गों ने कहा है न कि तजुर्बा बहुत बड़ी चीज़ है। उसका कोई मोल नहीं। वह आगे के लिए बड़े काम का होगा। वह और किसी के काम का भले ही न हो, इतना ही नहीं, और किसी काम का भी न हो, परंतु ख़ुद के संशोधन-परिष्कार में तो बहुत मददगार होगा ही।

तो दोस्तो, सृजन-कर्म श्रेष्ठ है आलोचन-कर्म

श्रीराम त्रिपाठी
ए-६७, तेजेन्द्रप्रकाश-१,
खोडियार नगर, अहमदाबाद-३८२३५०
मोबाइल : ९४२७०७२७७२

से, इसे कोई इनकार नहीं सकता। मगर यह भी सही है कि आलोचन-कर्म की प्रौढ़ता ही सृजन-कर्म की बुनियाद है। मतलब कि आलोचना ही सर्जना का पहला पायदान है, जिसके बिना सर्जना के पायदान पर पहुँचना मुश्किल ही नहीं, नामुमकिन भी है। जिस तरह आठो डाँड़ी सीखे बिना लिखना मुमकिन नहीं, उसी तरह आलोचना के बिना सर्जना भी मुमकिन नहीं। रचना का बीज-तत्त्व है, आलोचना। एक सर्जक पहले तो आलोचक ही होता है, मगर एक आलोचक पहले सर्जक हो, ऐसा कहना अगर नामुमकिन नहीं, तो मुश्किल ज़रूर है। जो है, वह पर्याप्त और श्रेष्ठ है या उससे बेहतर भी हो सकता है, इसका बोध तो आलोचना ही कराती है। वह वर्तमान को संशोधित-परिष्कृत करने में इसी तरह मदद करती है। संशोधन-परिष्कार की क्षमता के अभाव में सर्जना कैसी! अनुकरण ही मुमकिन है। जो केवल आखे-चाले वह आलोचना और जो आखने-चालने के बाद बनाये भी, वो सर्जना है। मुक्तिबोध मूलत: कवि थे, मगर उनकी आलोचना किसी भी स्थापित आलोचक से कम नहीं, बल्कि बेहतर है। उसी मुक्तिबोध ने साहित्य के नेतृत्व का भार आलोचक को सौंपा था, सर्जक को नहीं। कारण कि सर्जक पहले से ही दुहरा भार वहता है। वह आखने-चालने के साथ-साथ बनाता भी है। उस पर और बोझ लादना ठीक नहीं। दूसरे, आलोचक तो केवल आखने का काम करता है। इसलिए उस पर एक तो कम बोझ होता है, दूसरे एक ही काम करने के कारण उसमें पटु हो जाता है। तो सवाल उठता है कि क्या आज की आलोचना साहित्य का नेतृत्व कर रही है? अगर हाँ, तो कैसे? और नहीं, तो क्यों? इन्हीं सवालों की छानबीन में शायद 'आलोचना : इस समय' की भी छानबीन हो जाये। 'छानबीन' पर ज़रा ग़ौर कीजिए। यह छानना-बीनना का लघुरूप है। ये दोनों क्रियाएँ न केवल आखना-चालना की समानधर्मा हैं, बल्कि उनसे ज़्यादा सूक्ष्म हैं। ये सभी क्रियाएँ वस्तुओं का परिष्कार करती हैं, इसीलिए समानधर्मा हैं। छानना-बीनना, आखने-चालने के बाद होता है। छाने-बीने हुए को छानना-बीनना। मतलब कि महीन से महीन करना। मतलब कि आलोचे हुए को फिर से आलोचना। यह पहले से अधिक कठिन और दुरूह है। फँसा दिया आयोजक मित्रों ने। बुरे फँसा दिया। जहाँ विवाद के अलावा कुछ मुमकिन ही नहीं। कहा जा चुका है कि आज के दौर में 'विवाद' तो पूरी तरह असामाजिक हो गया है। एक अश्लील शब्द। सामाजिक मान्यता तो 'संवाद' को मिली हुई है। जहाँ देखो वहाँ संवाद ही संवाद हो रहा है, जिसका नतीजा हैं नित नये पुरस्कार। विवादी स्वर गुम हैं। एकदम गुम। और जब विवादी स्वर ही गुम हों, तो आलोचना की स्थिति भला बेहतर कैसे हो सकती है! निंदक का अर्थ कभी आलोचक हुआ करता था और सर्जक उसको कितना ज़रूरी समझता था कि 'आँगन कुटी छवाने' की बात कहता था। वह आलोचक के क़रीब रहना चाहता था, जिससे उसकी हर क्रिया पर निंदक की नज़र बनी रहे। जिससे उसकी सर्जना ज़्यादा से ज़्यादा गुणात्मक बने। यहाँ ज़रा निंदक को समझते चलें। निंदक का सामान्य और थपा अर्थ है, बुराई करनेवाला। निंद शब्द नींद से नाभिनाल बद्ध है। दिन भर हम जीवन-व्यवहार के तहत घर से बाहर भटकते हैं और रात को नींद के लिए विस्तर पर ख़ुद को फैला देते हैं। अगर विस्तर हमारे फैलाव से छोटा होता है, तो हमें संतुलित नींद नहीं आती। इस तरह हमारा विस्तर हमारे शरीर के विस्तार से कम नहीं होना चाहिए। जिस तरह औरतें पकाने से पहले चावल को किसी छिछले बर्तन में फैलाकर उसके कंकड़-पत्थर को बीनकर साफ़ करती हैं, उसी तरह हमें भी दिनभर के बटोरे को फैलाकर साफ़ कर लेने के बाद बटोरकर रख लेने के उपरांत ही निंदना होता है। वही हमारी पूँजी है, जिसके द्वारा हमें दूसरे दिन का जीवन-व्यवहार चलाना होता है। ऐसा न करने-वाला भी निंदक ही है और ऐसा करनेवाला भी, क्योंकि निंदते तो दोनों हैं। स्पष्ट है कि ऊपर जिस निंदक के लिए कुटी छवाने की बात कही गई है, वह ऐसा करनेवाला ही है। इसे अगर आलोचक की ओर से देखें, तो आलोचक को इससे सृजन-प्रक्रिया को देखने तथा उससे गुज़रने का लाभ मिलता था। यह बात दीगर है कि तत्कालीन आलोचकों ने इससे लाभ उठाया कि नहीं। और उठाया, तो कितना और कैसे। आलोचना का विकास तब मुमकिन है, जब वह पाठक-सर्जक के ही नहीं, सर्जन के भी सम्मुख हो। मगर नहीं, हमारे आलोचक तो निष्कर्षक हैं। निरर्थक नहीं, द्वंद्वहीन निष्कर्षक। न द्वंद्वते हैं, न कृषते-कर्षते। सर्जन के सम्मुख कम और पाठक-सर्जक के सम्मुख अधिक होते हैं। या तो वे सर्जक के इतने पास स्थिर हो जाते हैं कि उसकी क्रिया को ठीक से देख ही नहीं सकते, या इतनी दूर कि देखने-दिखने का सवाल ही नहीं उठता। वे पास और दूर में आवन-जावन करते ही नहीं। इसीलिए वे आलोचना कम और संवाद अधिक करते हैं। इस तरह आलोचक-सर्जक के संवाद से हमारा साहित्य समृद्ध हो रहा है, विवाद से नहीं। जिस तरह विश्व बैंक के ऋण से हमारी सड़कें फिसल रही हैं, उसी तरह हमारी आलोचना दाय में प्राप्त हमारे बुज़ुर्गों द्वारा निर्मित पथ को दुरुस्त न करके पश्चिम के ऋण से निर्मित पथ पर फिसलती है। कहाँ और किधर जाना है, इसका पता जाने बिना। इससे आप समझ सकते हैं कि आज की आलोचना में साहित्य का नेतृत्व करने की कितनी क्षमता है। रही बात नेतृत्व कर रही है या नहीं की, तो इतना ही कहना मुनासिब है कि हमारा साहित्य इस समय नेतृत्वहीन है। छोटी-छोटी टुकड़ियों में बंद एक कुनबा, जिसमें द्वंद्व और संदेह का अभाव है। जहाँ भूलने-भालने की कोई गुंजाइश नहीं। यहाँ जो भी होता है, सही और श्रेष्ठ ही होता है। इसलिए सहर्ष स्वीकार लिया जाता है। समय से बड़ा आलोचक कोई नहीं। उसकी छननी-बिननी बहुत बारीक़ होती है। वह ज़रा भी मुरव्वत नहीं करती। सार को ही गहती है और थोथों को उड़ा देती है। देखने की बात यह है कि आज का वही साहित्य श्रेष्ठ है, जो जितना उड़ता है, न कि उठता है। उठनेवाले साहित्य की पहचान उसका ज़मीन से जुड़ाव है, जिससे उसका कोई वास्ता नहीं। ध्यान रहे कि उठनेवाला साहित्य टिकाऊ होता है, उड़नेवाला साहित्य नहीं।

हमारी दिक़्क़त यह है कि हम कार्य की जगह कर्ता को महत्त्व देते हैं। इसीलिए कृति से अधिक कृतिकार महत्त्वपूर्ण हो जाता है। कर्म की प्रधानता नहीं, कर्मक की प्रधानता। 'रामायण' से ज़्यादा वाल्मीकि, 'सबद' से ज़्यादा कबीर और 'रामचरित मानस' से ज़्यादा तुलसी महत्त्वपूर्ण हो जाते हैं। फिर आलोचना का विकास हो तो कैसे! जब रचना से बड़ा रचनाकार हो जाये, तो पूजा की प्रवृत्ति बढ़ती है, आलोचना की नहीं। आलोचना की प्रवृत्ति तभी बढ़ेगी, जब रचनाकार से बड़ी रचना मानी जाये। ध्यान रहे कि कोई भी कृति अकेले कृतिकार की ही निर्मिति नहीं होती। कृतिकार तो निमित्त और माध्यम होता है। वह जिस समय और परिवेश में रहता है, वह भी उस कृति का कारक होती है,

जिसे आलोचना की शब्दावली में समय और परिवेश का दबाव कहते हैं। कबीर की कुछ रचनाएँ उलटबाँसी कहलाती हैं। हजारीप्रसाद द्विवेदी ने कबीर की शब्दावली को सिद्धों-नाथों से तो जोड़ा, मगर सिद्ध-नाथों की शब्दावली उलटी होने का कारण क्या था, इसे नहीं बताया। तो क्या हमें इसका पता नहीं लगाना चाहिए! यह किनके उलट थी। तुलसी के हिसाब से तो वाल्मीकि भी उलटे थे। तब ही तो 'राम राम' की जगह 'मार मार' कहते थे। रामभक्त तुलसी भला क्यों कहने लगे कि 'रामायण' के राम वाल्मीकि के अनुसार मार ही हैं, क्योंकि मार-मार करते हैं। मारने में ही उन्हें मज़ा आता है। ब्राह्मण के बेटे को छोड़कर, अगर किसी को जीवन दिया हो, तो आपै बताइए। इस तरह हमारे यहाँ दो विरोधी दृष्टियाँ सतत रही हैं। कभी पहली का ज़ोर रहा, तो कभी दूसरी का। उदाहरण के रूप में हम सौ के अंक में शून्य को दाहिनी ओर लिखा मानते हैं। इसीलिए तो कहते हैं कि शून्य जब दाहिनी ओर आता है, तो संख्या का मान दस गुना बढ़ा देता है। हम भूल जाते हैं कि यह कथन द्रष्टा का है। जिस कागज़ पर हम लिखते हैं, हाशिये को बायीं ओर छोड़ते हैं। हाशिया द्रष्टा की बाँयीं ओर होता है, न कि कागज़ के। कागज़ की ओर से देखें तो दायीं ओर लगेगा। इसी तरह सौ के अंक की ओर से देखें, तो शून्य एक के दायीं ओर होगा। एक दृष्टि कृति-कर्ता की ओर से, तो दूसरी द्रष्टा की ओर से। सत्य इन दोनों के बीच है। लोगों को अकसर कहते सुनते हैं कि उलट-पलट कर देखो। वस्तु का पूरा पता तभी चलेगा। इस तरह उलट-पलट कर देखे बिना सत्य का पता नहीं चलता। कृतिकार रचना को उलट-पलट कर देखता-परखता है। वह उसे सर्वांग सुन्दर बनाना चाहता है, इसीलिए ऐसा करता है। आज हम अपने मकान के चेहरे को ख़ूब चमकाते हैं। पिछवाड़े का ख़याल ही नहीं रखते। इसे अवांतर न समझें और न अश्लील ही। याद आता है बचपन का एक प्रसंग। हमारे पटिदार के यहाँ कुछ बरदेखुआ आये थे। रस्म-रिवाज़ के मुताबिक़ ख़ातिरदारी हुई। बातचीत चल ही रही थी कि बरदेखुओं में से एक बुज़ुर्ग उठे तो पेशाब जाने के लिए, मगर मकान की परिक्रमा करने लगे। जानते हैं, वे क्या कर रहे थे?... पँड़ोह देख रहे थे। ज़रा भी रुचा नहीं न। अश्लील लगा होगा। मगर वे बुज़ुर्ग इसका पता लगा रहे थे कि यह घर खाता-पीता है, या फाँकाग्रस्त है। पँड़ोह में अगर सीलन ज़्यादा हो, तो समझना चाहिए कि घर खाता-पीता है। फाँकाग्रस्त नहीं है। द्रष्टा का लक्ष्य पँड़ोह नहीं, घर की समृद्धि का पता लगाना था। पँड़ोह तो समृद्धि जानने का माध्यम था। अब, अगर इस माध्यम पर हम नाक-भौं सिकोड़कर अलग हो जायेंगे, तो एक छिपे सत्य को जानने से वंचित रह जायेंगे। मालूम है कि इसे जानने के बाद हमारे गाँव के लोग बरदेखुवा आने पर पहले पँड़ोह में ख़ूब पानी बहाने लगे। बरदेखुवों की ख़ातिरदारी बाद में करते। क्या पता, कहीं वही बरदेखुवा भेष बदलकर न आ गया हो। तो कोई भी रचना सर्वांग सुन्दर तब कहलायेगी, जब उसका अगवाड़ा ही नहीं, पिछवाड़ा भी सुन्दर होगा। हर क्रिया अपना चिह्न छोड़ती है। अगर वह कुरुचिपूर्ण है तो दाग़ और सुरुचिपूर्ण है तो चिह्न अथवा टीका कहलाती है। टीका का एक मतलब आलोचना है, तो दूसरा सम्मानित करना। इस प्रकार आलोचना किये बिना किसी को कैसे टीक सकते हैं। परंतु जिधर देखिये उधर आलोचना किये बिना ही टीकने का रोज़गार चल रहा है, जिस तरह किसी कथा-वार्ता में पंडित जी यजमान के साथ-साथ अन्यों को भी टीक देते हैं, इस आस में कि दस-पाँच जो भी मिल जाएगा। बचपन में हम बॉलपेन अथवा फाउंटेनपेन से नहीं, सरकंडे की क़लम को शीशी की स्याही में डुबोकर लिखा करते थे। जिस दिन स्कूल में कुछ भी नहीं पढ़ते थे अथवा गुल्ली मारते थे, उस दिन होंठ और अँगुलियों पर स्याही ज़रूर पोतते थे। यह सोचकर कि इससे ज़्यादा पढ़ाई करना साबित होगा। अखाड़े में लड़ते न थे, मगर अखाड़े की मिट्टी पहलवानों से भी ज़्यादा लगाकर घर लौटते थे। तो भैया, आज की आलोचना में यह सब बहुत हो रहा है। ध्यान से देखने की ज़रूरत है। जितना हम बाहर का परिष्कार करते हैं, उतना ही भीतर का भी परिष्कार होना चाहिए। मगर आज की आलोचना गहरे उतरने से बचती है। उपरे-उपरे मिल जाता हो, तो गहरे कोई क्यों उतरे! कूप मंडूक हैं, जो गहरे उतरते हैं। कितनी चालाकी से उन्होंने ख़ुद को न केवल मंडूक, बल्कि विस्तृत मंडूक के रूप में स्थापित कर दिया। जो मंडन करे, वही मंडक और मंडूक है। 'कूप मंडूक' तिरस्कार और अप-मान वाची है। यह सम्मान वाची क्यों नहीं रहा, जबकि वह न केवल स्वच्छ जल में रहता है, बल्कि स्वच्छ करने में सहायक भी होता है। पीएँगे कुएँ का पानी और उसके मंडूक को अपमानित करेंगे। ख़ुद तो गंदगी करेंगे और उसे साफ़ करने वाले से दूरी बनाएँगे। वाह भाई, क्या दृष्टि है! कुल मिलाकर न छिछली गड़हिया का मंडूक विस्तृत है, न गहिरे कूप का मंडूक गहिरा। उनकी यह हदबंदी आलोचना और जीवन, दोनों के लिए घातक है। दोनों को एक-दूसरे में आना-जाना पड़ेगा, तभी उनका 'मंडूक' नाम सार्थक होगा। आज की आलोचना की सबसे बड़ी कमज़ोरी है, उसकी निश्चिंतता। वह चिंता कम, चिंता करने का दिखावा ज़्यादा करती है। चिंता की पहचान है एकाग्रता, जो आज की आलोचना से लगभग सिरे से ही ग़ायब है। सभी जानते हैं कि किसी भी समस्या का मूल अतीत में होता है। वर्तमान तो उसका फल है। निदान फल का ही नहीं, समस्या का भी किया जाता है। अगर यह कहें कि समस्या का निदान करने के बाद ही फल का निदान किया जाता है। मगर हम तो केवल फल के निदान में ही जुटे रहते हैं। कबीर इसीलिए सर्जक भी हैं और आलोचक भी। वे द्रष्टा की तरह भी देखते हैं और भोक्ता की तरह भी। वे बाहर से भी देखते हैं और भीतर से भी। उन्होंने दुनिया-जहान को दुनिया-जहान से ही गुणा-गोड़ा है। उन्होंने जितना और जैसे पाया उसे अपने स्व से गुणा तो सगुण बन गये। मतलब कि गुणवान हो गये। फिर वे इसी गुण को बाहर निकालते हैं, तो ख़ुद तो निर्गुण और निर्मान हो जाते हैं और अपनी निर्मिति को सगुण कर देते हैं। वे बाहर को गुणने के लिए ही ख़ुद को निर्गुणते हैं। भीतरी गुण बाहर नहीं निकला, तो भीतर नया गुण कैसे आयेगा! सर्जक तो प्रकृत को संस्कृत और प्रकार का संस्कार करता है। प्रकृत यह है कि हम ऑक्सीजन को भीतर लाते हैं और कार्बन डाई ऑक्साइड को बाहर करते हैं। जो प्रकृत है, वही सामान्य है। सर्जक इसे अमान्य करने के उपरांत ही विमानता है। वह कार्बन डाई ऑक्साइड को बाहर नहीं करता, बल्कि ऑक्सीजन को बाहर करके मनुष्य जाति का कल्याण करता है। इसी अर्थ में सर्जक वृक्ष ही नहीं, शिव भी है। बाहर से रूखा, मगर भीतर से रसपूर्ण। निर्माण का मतलब ही है, अपने मान को निः करके ख़ुद को मानहीन कर देना। जिस मान से भरपूर था, उसे निकालकर एक ओर वह ख़ुद निर्माण हो गया, तो दूसरी ओर समाज का सामान (गुणवान वस्तु) बन गया। सगुण को क्या सगुणना। सगुणना तो

निर्गुण को होता है। भरे पेट खाना नहीं होता। ख़ाली पेट खाना होता है। इस तरह कबीर निर्गुण से सगुण और सगुण से निर्गुण में रचते-राचते हैं। आज की आलोचना फलधर्मी न होकर फलवादी है। फलधर्मी आलोचना ही प्रक्रियाधर्मी होती है। जिसकी नज़र केवल फल पर होती है, वही फलवादी और जिसकी नज़र फल से लेकर जड़ तक होती है, वही फलधर्मी अथवा प्रक्रियाधर्मी कहलाता है। उसकी नज़र एक छोर से दूसरे छोर तक सतत गतिशील रहती है। मतलब कि पूरे वृक्ष को गुणती है। सिर्फ़ फल खाना उपभोक्तावाद है और फल खाने के बाद वृक्ष को गणना-गुणना भोक्तावाद। हमारी आलोचना जब प्रक्रियाधर्मी होगी, तभी साहित्य का नेतृत्व करने में समर्थ होगी। इसके अभाव में वह साहित्य का नेतृत्व नहीं कर सकती। ऐसा करने पर उसकी नज़र रचना की पूरी प्रक्रिया से गुज़रेगी। मतलब कि संरचना से गुज़रने के कारण वह विकसित होकर सर्जना बन जायेगी। आलोचना इसी तरह सर्जना का विकास करती है। यह कहना असंगत न होगा कि आलोचना के विकास के बिना सृजन का विकास मुमकिन नहीं।

एक बात और। अकसर कहा जाता है कि सर्जक को लोक के क़रीब होना चाहिए। विविध और विभिन्न अनुभवों से गुज़रना चाहिए। ऐसी सलाह हमारे आलोचक अकसर सर्जकों को दिया करते हैं और ख़ुद को इससे बचा लेते हैं। जैसे 'चाहिए' शब्द उन पर लागू होने के लिए बना ही नहीं है। दूसरी बात यह कि आलोचक में सर्जक बनने की लालसा ज़ोर मारेगी, तभी श्रेष्ठ आलोचना मुमकिन होगी। सर्जक बनने का प्रयासी ही श्रेष्ठ आलोचक भी बन सकता है और श्रेष्ठ सर्जक भी। सर्जक के लिए शून्य बाँए होता है, दायें नहीं। शून्य ही आधार है। मतलब कि ज़मीन। स्त्री को वामांगी कहते हैं। इंसान का वाम ही धड़कता है। सृजन-कर्म स्त्री-कर्म है। स्त्री सिरजती है, पुरुष नहीं। स्त्री अपने पुरुष को सिरजती है। स्त्री शक्ति है और शक्ति सूक्ष्म और अमूर्त होती है। वह रूप के भीतर रहती है और क्रिया के वक़्त ही प्रकट होती है, जिसे पौरुष कहते हैं। तो पुरुष अमूर्त शक्ति का ही प्रकट रूप है। सूक्ष्म और अमूर्त को प्रकट करना ही सर्जना-सिरजना है, मूर्त को प्रकट करना नहीं। दृष्ट को दिखाना सर्जना-सिरजना नहीं है, अदृष्ट को दिखाना सर्जना-सिरजना है। इस प्रकार आलोचना को रूप के भीतर के अदृष्ट, मतलब कि सूक्ष्म को उद्घाटित करना होगा। मान और निर्माण की प्रक्रिया को उद्घाटित करना होगा। हमें यह कहने में ज़रा भी हिचक नहीं है कि आज की आलोचना ऐसा नहीं कर रही। यहाँ 'नहीं कर पा रही' भी कहा जा सकता था, परंतु नहीं कहा गया। कारण कि ऐसा करने की कोशिश कहीं-कहीं ही दिखती है। अधपठ या कचपठ, जो भी चाहें कह लें, प्रवृत्ति के रूप में कम से कम हमें तो नहीं दिखती। जुगनू निराशा से हमें सिर्फ़ बचा सकते हैं, प्रकाशित करके हमारी आशा की पूर्ति नहीं कर सकते। कहीं-कहीं की इस कोशिश को अपनी गहनता के साथ विस्तृत होकर प्रवृत्ति का रूप लेना होगा। तभी उसके प्रकाश में सत्य को स्पष्ट रूप से देखा जा सकेगा। सत्ताधारियों को हर वर्तमान सुखता और जनता को दुखता है। इसीलिए सत्ताधारी परिवर्तन-विरोधी और जनता परिवर्तन-कामी होती है। कहने की ज़रूरत नहीं कि आलोचना का यह वर्तमान हमें असंतुष्टत ज़्यादा करता है और संतुष्टत बहुत कम। ❐

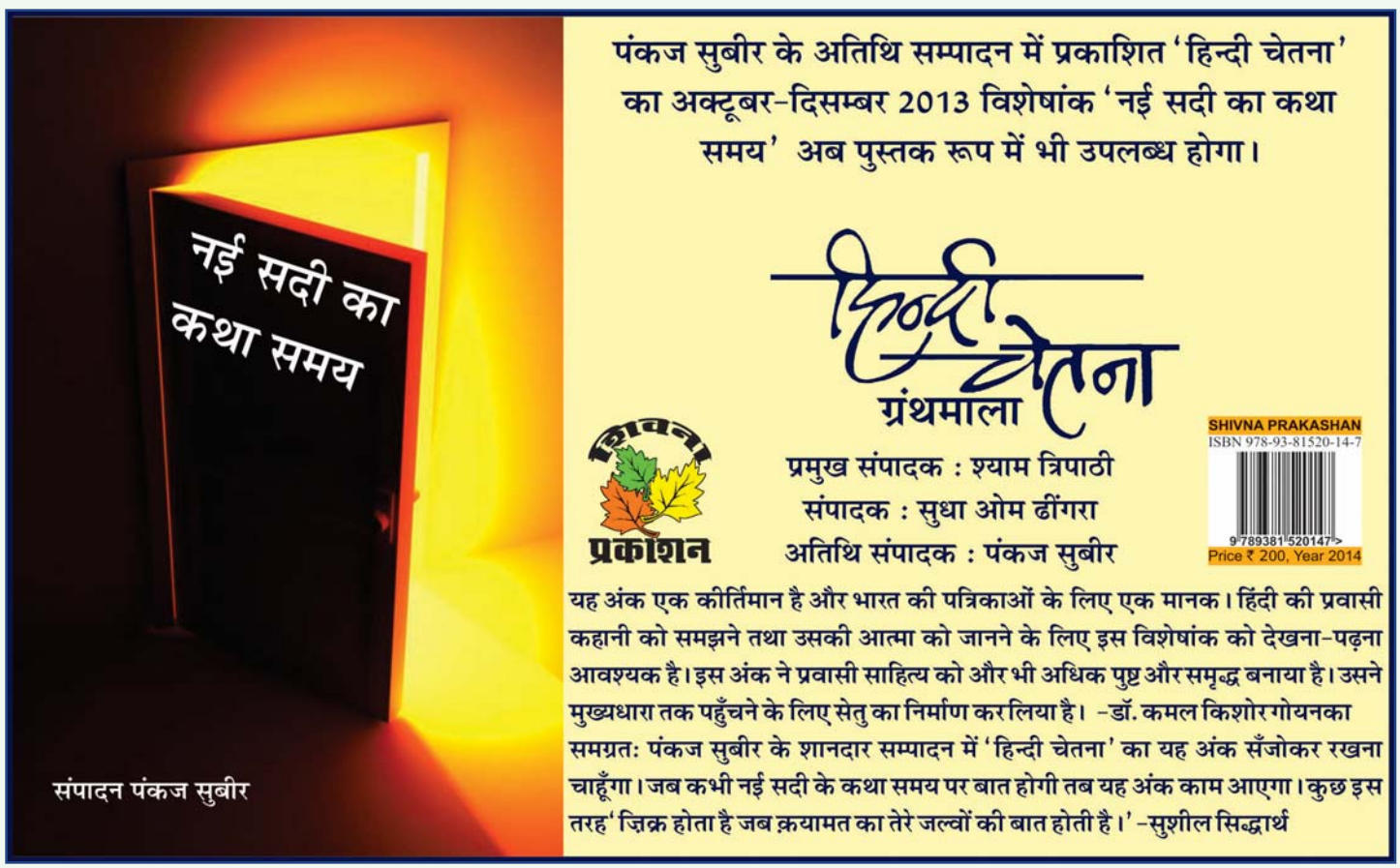

पंकज सुबीर के अतिथि सम्पादन में प्रकाशित 'हिन्दी चेतना' का अक्टूबर-दिसम्बर 2013 विशेषांक 'नई सदी का कथा समय' अब पुस्तक रूप में भी उपलब्ध होगा।

हिन्दी चेतना ग्रंथमाला

शिवना प्रकाशन

प्रमुख संपादक : श्याम त्रिपाठी
संपादक : सुधा ओम ढींगरा
अतिथि संपादक : पंकज सुबीर

SHIVNA PRAKASHAN
ISBN 978-93-81520-14-7
9 789381 520147
Price ₹ 200, Year 2014

यह अंक एक कीर्तिमान है और भारत की पत्रिकाओं के लिए एक मानक। हिंदी की प्रवासी कहानी को समझने तथा उसकी आत्मा को जानने के लिए इस विशेषांक को देखना-पढ़ना आवश्यक है। इस अंक ने प्रवासी साहित्य को और भी अधिक पुष्ट और समृद्ध बनाया है। उसने मुख्यधारा तक पहुँचने के लिए सेतु का निर्माण कर लिया है। -डॉ. कमल किशोर गोयनका

समग्रत: पंकज सुबीर के शानदार सम्पादन में 'हिन्दी चेतना' का यह अंक सँजोकर रखना चाहूँगा। जब कभी नई सदी के कथा समय पर बात होगी तब यह अंक काम आएगा। कुछ इस तरह 'ज़िक्र होता है जब क़यामत का तेरे जल्वों की बात होती है।' -सुशील सिद्धार्थ

समकालीन हिंदी कहानी के बीस बरस

डॉ. रोहिणी अग्रवाल

परिवर्तन और नवीनता-ज़िंदा रहने की साध है मनुष्य की। तभी तो मृत्यु से बच कर जीवन के अछोर सीमांतों को छू पाता है वह। 'सनातन' जिए हुए बेहतर को चिह्नित कर बचाए रखने की बुज़ुर्ग ज़िम्मेदारी है तो 'परिवर्तन' जिए जा रहे विडम्बनापूर्ण यथार्थ की ज़मीन पर आशाओं की फसल उगाने का जोशीला सपना। 'सनातन' और 'परिवर्तन' के बीच प्रवाहमय है जीवन, वक्त, मनुष्य और मूल्य। एक-दूसरे के साथ गहरे संश्लिष्ट रिश्ते में जुड़े-गुंथे। एक इकाई बन कर बेशक किसी एक को खारिज करने के हठपूर्ण अभियान में जुट जाए व्यक्ति-'मनुष्य' बन कर उसे अविच्छिन्नता के अन्योन्याश्रित सूत्र को स्वीकार करना ही पड़ेगा। वक्त के भीतर उगती ज़िंदगी में 'मनुष्य' और मूल्य के परस्पर सम्बन्ध पर विचार करते हुए। दरअसल साहित्य को पढ़ने-समझने और रचने का यही एकमात्र मंत्र है। इसलिए साहित्य की बात करते हुए नए और सनातन के द्वंद्व और दिशा को पहचानना बेहद ज़रूरी हो जाता है। हालाँकि यह सवाल भी उतना ही ज़रूरी और मानीखेज है कि क्यों उँगली पकड़ कर चुपचाप साथ चलती एक पीढ़ी अचानक उँगली छुड़ा कर सधी चाल चलने लगती है तो उसकी भाषा 'बेगानी' हो जाती है?

लेकिन यह आरोप अकेला तो नहीं। इसके भीतर सवालों की एक पूरी श्रृंखला मौजूद है कि यदि तथाकथित रूप से नई पीढ़ी उद्दण्ड और भ्रमित है तो क्या दोष सिर्फ उसी का है? या उसे 'ऐसा' बनाने की कोशिश में मीडिया और अपसंस्कृति का? यदि मीडिया और ग्लोबल अपसंस्कृति के कीटाणु इतने ही विषाक्त हैं तो क्यों नहीं एक सा मारक असर नई-पुरानी पीढ़ी पर होता? जिन मूल्यों पर इतरा कर नई पीढ़ी के लिए नाक-भौं सिकोड़ती है पुरानी पीढ़ी, वे मूल्य आगे हस्तांतरित करने की ज़िम्मेदारी आख़िर थी किसकी? मूल्य सम्पत्ति की तरह घोषणा करके लिए-दिए नहीं जाते, दुलार और विश्वास की तरह पोर-पोर में संचारित किए जाते हैं। तो क्या नई पीढ़ी की तथाकथित उद्दण्डता, आत्मलिप्सा और खुदगर्जी में पुरानी पीढ़ी के कुचले सपनों की धमक है जहाँ अपनी इच्छाओं का दमन करते-करते और बड़ों के सामने आँख उठा कर बात करने का मौका तलाशते-तलाशते खुद बूढ़ी हो गई पुरानी पीढ़ी? अपने सपनों और आकांक्षाओं को अपनी ही संतान में रोप कर उनके साथ पुनः अपने बचपन को जीने की अभिलाषी पुरानी पीढ़ी क्या कहीं भी कसूरवार नहीं? यदि पूत कपूत निकले तो करुणा और सहानुभूति की ज़द में सुरक्षित कर क्या आत्मप्रवंचना में हम अपनी ही राहें बीहड़ नहीं कर लेते?

जाहिर है यह लम्बी भूमिका इसलिए नहीं कि पीढ़ियों के वैचारिक मतभेद को फतवों में बाँध कर हार-जीत की घोषणा करूँ, बल्कि वैचारिक मतभेद से असहमतियाँ होते हुए भी उन सनातन बिंदुओं को रेखांकित करूँ जो 'मनुष्य' की गरिमा की रक्षा के लिए संघर्षरत हैं। मेरा यह पाठ इसी 'आदर्श' (यदि आप इसे पूर्वाग्रह मानना चाहें तो मान सकते हैं) से संचालित है कि साहित्य आत्मान्वेषण (एक्सप्लोरेशन) की समुन्नत यात्रा है, अनावरण (एक्सपोज) की क्षणिक मरीचिका नहीं।

१

'बेहूदा बात! सब गढ़ी हुई संरचनाएँ!'

'आत्मान्वेषण और अनावरण! माई फुट! आदर्शवाद की आड़ में कपट जाल फैलाती बुढ़ाती पीढ़ी!' हिकारत से तीव्रतर होता स्वर। मानो फतह की गई ज़मीन की रक्षा के लिए बारूद का जखीरा खड़ा कर लिया हो किसी ने। लेकिन धमका कर अपने विवेक को तो चुप नहीं करा सकते आप, आँख भले ही चुरा लें मेरे सामने फैले हैं कुछ सवाल! चिंताएँ! आशंकाएँ कि विचार और व्यवहार की एकता वांछनीय है, लेकिन यदि वह मानव की गरिमा की रक्षा न कर पाए तो क्या उसे नए युग के नए मूल्य के रूप में स्वीकृत किया जा सकता है?

डॉ. रोहिणी अग्रवाल
विभागाध्यक्ष एवं डीन
मानविकी संकाय
महर्षि दयानंद विश्वविद्यालय
रोहतक
मोबाइल ९४१६०५३८४७

वक्त को रचने की आकांक्षा में नवलेखन क्या वर्तमान को अतीत और भविष्य के साथ एक सीध में रख कर देख पा रहा है? वर्तमान की कोख से निकल कर जिस भविष्य का अभिषेक वह करना चाह रहा है, उसका स्वरूप क्या है?

''इस माध्यम में अगर बड़ा बनना है तो ब्लैक एंड व्हाइट को ब्लैक एंड व्हाइट नहीं, 'मोनोक्रोम' कहना चाहिए।'' (प्रभात रंजन, मोनोक्राम)

''वह रातों रात सब कुछ पा लेना चाहता था। वह सब जो बाज़ार में दिखाई देता।'' (प्रभात रंजन, सोप ऑपेरा)

''मध्यमवर्गीय उत्सुकताएँ, जिनमें कुछ भी गहरा नहीं होता, बस रोजमर्रा की चीज़ें जानने की सतही सी इच्छा होती है। रोज़ जो घट रहा है। जिसे हमेशा जाना है। बस उन्हीं चीज़ों को लेकर उपजी उत्सुकताएँ उन उत्सुकताओं में कोई विशेष बात न थी।''(तरुण भटनागर, कौन सी मौत)

बेशक नवलेखन इस संकटापन्न चुनौतीपूर्ण समय में 'युगांत' के लिए तत्पर जिस नई पीढ़ी के नायक की रचना कर रहा है, वह बेहद तनाव, अनिश्चय और घुटन में जी रहा है। सूचनाओं का अंबार है उसके पास और तेज़ी से भाग कर अतीत में विलीन होते वक्त के कतरे। नहीं है तो अवकाश और धीरज कि ढेरों ढेर सूचनाओं के भीतर छिपे सच-झूठ की शिनाख्त के साथ उसकी ऐतिहासिक परंपरा की खोज भी कर ले; कि खबर को अखबार के टुकड़े से अलग कर व्यक्ति तक जाए तो उसके अंतर्मन की संशिलष्ट परतों के साथ होने वाली टकराहट को सुन-गूँथ सके। हाँ, तथ्य से राई-रत्ती भी नहीं बिचलता आज का युवा कथाकार। उसकी ताकत ही है तथ्यात्मकता लेकिन फैक्ट को फिक्शन बनाने के लिए जिस गहरी संलग्नता, संवेदना, अंतर्दृष्टि और आस्था (बेहद बूर्जुआ शब्द?) की ज़रूरत है, वह तो वहाँ है ही नहीं। अखबार में छपी खबर पढ़ कर अचानक खबर बन गए किसी परिचित की याद आती है उसे और सतह पर डोलती घटनाओं के जरिए वह जिसे कहानी में लाता है, वह जमाने भर की विकृतियों और विडम्बनाओं का लुंजपुंज रूप ज़रूर होता है, अपनी हस्ती को बचाने और पाने के लिए अपनी ही हदों को तोड़ता-बनाता मनुष्य नहीं बन पाता। इसलिए खबरों की तरह आज के युवा लेखन में पेज थ्री की दुनिया है, स्टिंग आपरेशन हैं, दहशतगर्दी है, माल से ठसाठस ठुँसे मॉल हैं, और चौड़ी-चिकनी सड़कों पर भागती महँगी कारें हैं। मैं इनमें दिलचस्पी लेना चाहती हूँ, लेकिन 'मैं' इनमें कहीं नहीं। यह दुनिया चौंकाती है, थर्राती है; सम्मोहित भी कर लेती है और तृष्णाओं के मरुस्थल में तपती रेत पर तड़पने को अकेला छोड़ देती है। तेज़ दौड़ती दृश्यावली की तरह बिना छुए फिसल जाती है, नज़र के घेरे से बाहर-दूर। बह कर भीतर तक नहीं समोती कि 'मैं' और 'वह' 'दो' न रह कर 'एक' हो जाएँ; कि 'मेरे' भीतर की दुनिया अपने तमाम विस्मयों और रहस्यों के साथ 'उसकी' दुनिया के तमाम आश्चर्यों और भेदों के साथ एकाकार हो जाए-अभिन्न और अविच्छिन्न जैसे 'तीसरी कसम' का बाई जी से बतियाता हीरामन बैलगाड़ी सहित मन के किसी कोने को मीठी टीस में भिगोता चलता है। आज मीडिया में चेहरे हैं ही नहीं, न नाम और पहचान। हैं तो पोशाकें, आउटकट, सिसकारियाँ और सरसराहटें, बम-बंदूकों के धमाके, नकाबपोश आतंकवादी, कटे-फटे शव, गूँगी चुप्पियाँ, उकताता खौफ, ठहरी हुई अफरा-तफरी और सायरन बजा-बजा कर दौड़ती कारों के बीच घटे हुए को 'स्टोरी' बना कर बार-बार एक कोण से घटित किए जाने की 'मौलिकता'। सनसनी फैला कर युगीन विकृतियों को नंगा करने की युक्ति। विकृतियों को बनाने वाली युगीन ताकतों की शिनाख्त की ज़रूरत नहीं। शिनाख्त की यह प्रक्रिया लम्बी ही नहीं, पेचीदा भी है क्योंकि वस्तु और घटना से होकर यह व्यक्ति और समुदाय को अपनी गिरफ्त में लेती है और फिर अनायास विकृति के पोषक के रूप में हमारी अपनी 'नगण्य' किंतु 'ठोस' भूमिका की ओर भी संकेत करती है। अवसाद और तृष्णा के हिंडोले पर सवार हम ज़मीन पर आना ही नहीं चाहते क्योंकि ज़मीन जड़ों की ओर खींचती है और जड़ें आत्मान्वेषण और एक्सप्लोरेशन की उर्ध्व प्रक्रिया की ओर। त्रिशंकु होकर बने रहने में जो अवसाद भरा सुख है, वह ज़मीनी ताकतों के प्रति प्रतिरोध की क्रांतिकारी भूमिका निभाने का शहादत भरा बड़प्पन देता है और स्वर्ग से धकेल दिए जाने वाली बूर्जुआ ताकतों से संधि न करने का बड़बोलापन भी। उदाहरण के लिए एक साँस में गिनाई जा सकती है कुणाल सिंह की कहानी 'शोकगीत', 'रोमियो जूलियट और अंधेरा' और 'इति गोंगेश पाल वृत्तांत', प्रभात रंजन की 'फ्लैश बैक' और 'डिप्टी साहेब'; रवि बुले की 'हीरो : एक लव स्टोरी' और 'एक असाहित्यिक की कथा', मो० आरिफ की 'लू'। 'शोकगीत', 'हीरो : एक लव स्टोरी' और 'एक असाहित्यिक की कथा' में लंपट दीखते नायक को लंपट नहीं कहना चाहता लेखक। वह तो तमाम नेकनीयती के साथ प्यार की पतंग आसमान में ऊँचे से ऊँचे उड़ाना चाहता है, लेकिन 'लूट' लिया जाता है अपने ही पक्केदोस्त सैफू द्वारा। उसके अनुभव चूँकि उसे ज़मीन से नहीं जोड़ते, इसलिए प्यार और हवस, लूट और अर्जन में फर्क वह जानता ही नहीं। एक दुर्निवार विडम्बना को झेलता है नई पीढ़ी का यह युवक कहानी का लेखक और नायक दोनों एक साथ हीरो बनना चाहता है लेकिन असफल हो जाने पर तुरंत दूसरे विकल्प पर विचार करने को भी उत्सुक है कि ''फिलहाल लिखने की छोड़ दे। पैसा बनाने की सोच। असली चीज़ वही है। पैसा कमाने का मौका कभी-कभी आता है वह निकल गया तो हाथ मलते रह जाएंगे। पैसा बनता है हाथ की सफाई से।'' (एक असाहित्यिक कथा, पृ० ९७) यानी रसातल को खुलती पगडंडियों पर कदम बढ़ाने की ललक। 'रसों में रस क्राइम रस' की दीक्षा लेकर वह 'हत्यारा' होकर भी निर्दोष घूम सकता है क्योंकि 'चरित्रा की हत्या' क्राइम नहीं और चरित्र हनन का सामान जुटाने की जुगत में बारबालाओं, वारवनिताओं को पेशे में झोंकती 'शराफतों' से लेकर उनका इस्तेमाल/दलाली करती 'नेकनीयती' उसे कहीं भी बेजा नहीं लगती। इस रपटती दुनिया में रपटने में जो आनंद है, वह कहीं पैर टिका कर सुस्ताने में कहाँ? कदम-कदम पर शराफत से ढँकी धूर्तताओं का पर्दाफाश-राजनीतिज्ञ बनने की ललक में भेड़ की खाल ओढ़ता भेड़िया कल्लू उस्ताद जिसने प्रतिद्वंद्वी लल्लू जी की 'चरित्र हत्या' (स्टिंग आपरेशन) की सुपारी देकर अपना मार्ग निष्कंटक करना चाहा है; साहित्यिक चोरी से साहित्य की चोटी पर पहुँचे लेखक लल्लू लाल जी और जानबूझ कर कपटजाल फैला प्यार को चुराता अपना ही यार सल्लू। यह युवक कहानी का नायक भले ही न बन पाया हो, नैरेटर ज़रूर बन गया है। इसलिए हमदम सल्लू के साथ रपटते चले जाने के अनोखे आनंद से कभी-कभी उकता भी जाता है-''हम ब्लैकमेलर नहीं है सल्लू। कवि, कहानीकार, साहित्यकार हैं। हम रंडियों के भड़ुवे, दलाल और झूठे नहीं हैं।'' लेखक उसकी उकताहट से खासा चिढ़ा हुआ है। उसके आदर्शवाद

को ठोंक-पीट कर देह से बाहर निकाल देना चाहता है-कभी सल्लू स्टाइल नसीहत देकर कि ''दुनिया हमें कभी कुछ नहीं देती। हम उससे वही हासिल कर पाते हैं जो हम उससे चुरा लेते हैं। यदि दुनिया में अपने ढंग से जीना है तो उससे चुराना सीखो। यदि दुनिया का मुँह टूँगते रहोगे तो वह तुम्हारी इच्छित चीज़ें दूसरों में बाँटती चली जाएगी।'' तो कभी नि:संग रहने की तोताचश्म शैली अपनाने का सुझाव देकर कि ''मैंने सोचा कथा के प्रवाह के विरुद्ध बहने के बजाय एक छोटा सा ब्रेक ले लूँ कथा की धार से बाहर निकल मैं टेबल पर सिर टिका कर सुस्ताने लगा। (फिर) मैंने खुद पर काबू पाया और अपने को समझाया, दिल की सुनेगा तो मरेगा जल्लू होश में आकर मैंने फिर कथा की धार में छलाँग लगाई।'' अलबत्ता अब वह उसके उद्‌बुद्ध रूप पर तुष्ट है कि ''दुनिया अब फिसड्डी लोगों को अपने कंधों पर लाद कर आगे नहीं बढ़ती। उल्टे उन्हें एक लात और जमा कर राह से परे पटक देती है। इसलिए आइए प्रिय पाठक, हम बेकार एक सी भावुकता में पड़ने की बजाय अपने समय के यथार्थ को स्वीकार करें और आगे बढ़ें''

अपने कैरियर को लेकर इतनी ही 'साफ' और प्रयोगधर्मी सोच है 'फ्लैशबैक' और 'डिप्टी साहेब' कहानियों के नायक/नैरेटर की। पैसा, शोहरत और ताकत-जीवन का सपना! माध्यम-तिकड़म और दादागीरी। गंतव्य-राजनीति या शेयर मार्केट। ''मैं एक ही झटके में राजनीति के माध्यम से लंबा हाथ मारना चाहता था।'' प्रभात रंजन की कहानी 'फ्लैशबैक' का नैरेटर मीडिया के जरिए कस्बों में बहने वाली हवा में साँस लेकर एक ही सपना बनता है-''दिल्ली के सांसद निवास में रहूँगा। ट्रांसफर-पोस्टिंग में पैसा बनाऊँगा। किस्मत चली तो रूस में लड़कों को मेडिकल-इंजीनियरिंग में दाखिला दिला कर कमाऊँगा न सही टाटा सफारी, टाटा सूमो तो खरीद ही लूँगा। समाजसेवा और उसके माध्यम से मेवा बनाने के अनेक रास्ते अपने आप निकलने लगेंगे।'' या 'डिप्टी साहेब' के असफल कलक्टर की तरह सोते-ऊँघते कस्बे में 'ऑन लाइन शेयर ट्रेडिंग' और सेंसेक्स का मंत्रोच्चारण कर पूरे कस्बे को माया के फेर में डाल चाँदी कूटना। सोने को दुगुना करने का लालच देकर सब कुछ लूट कर चंपत होते ढोंगी बाबा पिछले जमाने का सत्य थे तो शेयर मार्केट के उजले विस्तृत फलक में कॉरपोरेट ठसके के साथ अपना कपट जाल फैलाते आज के ढोंगी बाबा आज के युग का सत्य। दोनों फले-फूले इसलिए कि 'आखेट' होने के लिए तैयार बैठी लोलुपता हर बदलते वक्त के बावजूद अपरिवर्तनीय रही। मनुष्य मन की इस सनातन प्रवृत्ति को लेकर मौन है इधर का साहित्य। बाज़ार को पीट-कोस कर क्या अपनी लपलपाती लालसाओं को 'क्लीन चिट' दी जा सकती है? शर्मिला बोहरा जालान 'कॉर्नसूप' कहानी लिख कर कम से कम अपने भीतर को साफ-साफ देखने का साहस तो बटोरती ही हैं।

सवाल फिर वही कि कहाँ से आया है रपटने को ललकता यह युवक? क्या 'सिटी पब्लिक स्कूल, वाराणसी' (चंदन पांडेय) जैसी संस्थाओं से जहाँ के 'शोषित' अध्यापक अपने विद्यार्थियों के जेबखर्च जितनी तनख्वाह को बचाए रखने के लिए उनकी हर ज़्यादती को सहने/नज़रअंदाज करने को मजबूर हैं? जब गुरु के पास ही तेज, आत्मसम्मान, भाषा और दृष्टि नहीं तो अपनी अंधी आँखों और गूँगे शब्दों से उसे कहाँ ले जाएगा? पूर्ववर्ती कहानी के 'मास्टरजी' में तब्दील होकर ज़माने भर की जलालत भोगते इस अध्यापक को इतना दयनीय और उपहासास्पद किसने बनाया है? उपभोक्तावादी नवधनाढ्य ताकतों ने जो दूसरों को अपने स्टेट्स के आतंक से थर्रा कर अपने लाड़ले को 'राजकुमार' का दर्जा दिलाने को बेचैन है? या शिक्षा को व्यवसाय में तब्दील करती मुनाफाखोर ताकतें जो जेबें भरने की हड़बड़ी में एक पूरी पीढ़ी को अंधे कुँए में ढकेले जा रही है? दरअसल सब कहीं हड़बड़ी ही है-पैसा कमाने, ताकत दिखाने और जीवन के हर 'अनुभव' को भोग लेने की हड़बड़ी-भले ही उसके लिए तन और मन, बुद्धि और विवेक परिपक्व ही न हुए हों चंदन पाण्डेय की खासियत है कि अपनी कहानियों में युग-सत्य को उसकी ऊपरी परत के साथ ज़रा सा खुरच कर वहीं छोड़ नहीं देते, भीतर ही भीतर पहुँच कर उसकी जड़ों में लिपटे समाजशास्त्रीय दबावों और मानव मनोविज्ञान को पढ़ने-खोलने की कोशिश करते हैं। जाहिर है इस प्रक्रिया में 'खबर' युगीन परिदृश्य पर एक टिप्पणी भर नहीं रहती, युग के दबावों को बनाने और जीने वाली मानवीय अस्मिता में तब्दील हो जाती है। रवि बुले की कहानियों का सैफू और सल्लू यहाँ तरुण के रूप में मौजूद हैं। स्कूल की बड़ी कक्षा का यह छात्र ब्लू फिल्मों के जरिए उम्र से पहले अधकचरा सैक्स ज्ञान पा लेना चाहता है; क्लासफैलो लड़कियों में एक अदद प्रेमिका की तलाश करता है; और प्रेमिका पा जाने पर उस पर मिल्कियत का ठप्पा भी लगाना जानता है। तमाम हिंसा और अधिकार के साथ। हैरतअंगेज बात यह है कि उसकी हिंसा और अधिकार दोस्तों के साथ-साथ निकी (प्रेमिका) तक को कबूल है-भले ही उस स्वीकृति में छटपटाहट छिपी है, लेकिन उस 'पट्टे' को तुड़ा कर भागने की ललक नहीं। तो क्या ये ऊँचे पब्लिक स्कूल लड़के-लड़कियों को जेंडर और व्यक्तियों को 'वर्ग' (छोटा-बड़ा) बनाने के सामंती मूल्यों का पोषण करने के कारखाने हैं? लिंग और वर्ग के बोध से शून्य एक अखंड खालिस मनुष्य की परिकल्पना ही नहीं इनके पास? क्या यह तरक्की की बदहवास दौड़ में उल्टी दिशा का प्रतिगाामी सफर तो नहीं?

शंका नहीं, यकीनन! तो फिर इस प्रतिगामी वक्त का प्रतिरोध कोई भी क्यों नहीं कर रहा? क्यों लड़की 'जूती' बन कर रौंदे जाने को अपनी नियति मान चुकी है? क्यों अध्यापक अपनी महिमामंडित लाचारगियों के बीच 'मिट्टी का लोंदा' बन गया है? वक्त सर्जक है अच्छे और बुरे दोनों का। आज का वक्त भी सुजीत के रूप में अच्छाई को रच रहा है। हो सकता है संख्या कम हो, लेकिन उस 'अच्छे' को अलक्षित करना क्या हमारी अपनी ही प्राथमिकताओं को उजागर नहीं कर देता? दरअसल कहानी कहते हुए हम सिर्फ युग-सत्य को नहीं कहते, युग-सत्य को देखने-समझने और बनाने वाली अपनी नज़र को प्रकट करते हैं। वह नज़र जो हमारे अवचेतन को हमसे बेहतर पहचानती है। इसलिए अपने नायकों/पात्रों के साथ बार-बार कठघरे में लेखक को ही खड़े होना है।

शायद लेखक इस बात को स्वीकारना ही न चाहे। बेहद सजगता के साथ कहानी दर कहानी वह अपने पात्रों के साथ असंलग्नता शायद इसीलिए तो पुष्ट करता जा रहा है-कथा-शैली के रूप में कम, अपने बचाव की युक्ति के रूप में अधिक। जब आप किसी के साथ 'इन्वॉल्व' ही नहीं तो आप 'वह' कैसे हो सकते हैं? आप लेखक हैं, 'कैरीकेचर' बना कर युगीन विकृतियों पर ठठा कर हँसते हुए। शायद यह प्रश्न लेखक को मथता भी हो कि ''कहानी आगे है कि यथार्थ?'' लेकिन

यथार्थ की असंलग्न शिनाख्त करने के बाद कहानी रचने की आत्मपरक तरलता कमोबेश उसमें नहीं। वह अपने सामने उपस्थित सत्य का साक्षात्कार करने में घबराता है। 'शोकगीत' (कुणल सिंह) कहानी में यह 'सत्य' बेरोजगारी के रूप में उपस्थिति हुआ है जिससे नई कहानी खूब जूझी है, लेकिन आज का युवक 'शहादत' और 'आत्मदया' का नया तेवर रचता है। किसी प्राइवेट कंपनी ने तीन महीने का वेतन देकर नौकरी से छुट्टी कर दी है उसकी-एक साथ बीस लोगों की। वह रोज़ दफ्तर के समय घर से निकलता है, शाम को देर से लौटता है। सारा अभिनय दफ्तर जाने जैसा। घर में किसी को खबर नहीं, क्योंकि किसी को उसका 'दर्द' समझने की 'संवेदना' नहीं। पिताओं में तो बिल्कुल नहीं क्योंकि ''उनका कहना है कि उनके जमाने में ऐसा नहीं होता था। वे समझते हैं कि हम ही नालायक हैं।'' यह 'लायक' बेरोज़गार बेटा रटे-रटाए जुमले बड़ी शान से बोलता है-''दुनिया एक रेडीमेड उत्पाद है और मैं कुछ नहीं कर सकता।'' जनवादी शैली में अनास्था का ढिंढोरा पीटते हुए सिस्टम को गरियाता है-''आजकल तो रुपये के सारे खेल हैं जनाब! गरीबों के लिए कोई ठौर नहीं। आजकल कहीं भी जाइए, कांट्रैक्ट बेसिस पर ही नौकरी मिल रही है। हर साल नया एग्रीमेंट और नौकरी का नवीनीकरण। जब तक उनकी मर्ज़ी आपसे काम ले रहे हैं, और जब ज़रूरत नहीं, पिछाड़े लात मार कर निकाल देते हैं। ऐसी नौकरियों में आदमी के अंदर अनिश्चितता की एक आशंका हमेशा घर किए रहती है। कभी भी वे कह सकते हैं कल से और आने की ज़रूरत नहीं।'' बुद्धिजीवी होने का दंभ भी है-''यह ठीक है कि हमें-आपको नौकरी, वेतन की चिंताएँ ही दिखती हैं। लेकिन व्यापक संदर्भों में देखना शुरु कीजिए। एड्स के प्रति मास में व्यापक जागरूकता लानी चाहिए। देश को शाहरूख खान और प्रमोद महाजन और आसाराम बापू से बराबर का खतरा है। हाँ जी, कुछ लोग ये भी कहते हैं कि यह युग चीज़ों की महाविजय का युग है। आज नहीं तो कल इस जुमले को भी हम ठीक से समझ सकेंगे।'' साथ ही अपनी 'योग्यता' का पूरा अहसास भी-''मेरी उम्र महज पच्चीस साल है। मैं सिर्फ इश्तहारों को पढ़ सकता हूँ और लड़कियों के साथ फ्लर्ट कर सकता हूँ या ज़्यादा हुआ तो मल्टीप्लैक्स सिनेमा पर बहस कर सकता हूँ'' इस सारे बड़बोलेपन में वक्त को पछाड़ कर अपने लिए कुछ सार्थक पाने की धुन नहीं। क्या इसलिए कि यह युवक ओवर-फैड, ओवर-प्रोटेक्टेड, ओवर-एक्स्पोज्ड परिवार से आया है जिसने उसे गोद से उतारा ही नहीं? या यह आत्मरतिग्रस्त युवक इतनी बड़ी दमनकारी व्यवस्था में घिर गया है कि अपने पूर्ववर्ती पात्रों शंकर (सवा सेर गेहूँ) और दुखिया चमार (सद्गति) की परंपरा को जीते घीसू-माधो की तरह 'अमानवीय' हो जाना इसकी अस्मिता की पहली निशानी हो गया है? क्यों इसके लिए संघर्ष का अर्थ पहली ही ठोकर खाकर हौसले छोड़ देना हो गया है? क्यों समझना नहीं चाहती यह पीढ़ी कि जिंदगी मीडिया द्वारा उछाले गए जुमलों को ओढ़-बिछा कर नहीं जी जाती, हर मौसम और आग में तप कर अपनी टूटती-बनती गढ़त के साथ शिद्दत के साथ जी जाती है?

२

''एक अधूरापन मन में होता है। उसको भरने के लिए हम इन सपनों को देखने का पागलपन करते हैं। पर वह अधूरापन कभी नहीं भरता है। वह उन सपनों के साथ-साथ और गहरा हो जाता है। वह खालीपन हर सपने के साथ और बढ़ जाता है।'' (तरुण भटनागर, बीते शहर से फिर गुजरना)

''मनुष्य के मन-मस्तिष्क किसी भी अज्ञात परिवर्तन को स्वीकारने से डरते हैं। वास्तव में जब तक कोई चीज़ मनुष्य के ज्ञान की सीमा से बाहर रहती है, वह उससे डरता है। अज्ञान डर का मूल कारण है और डर व्यक्ति का मूल स्वभाव। व्यक्ति आजीवन स्वयं को इस मूल स्वभाव से मुक्त नहीं कर पाता। वह डर-डर कर जीता है और डर-डर कर ही एक दिन मर जाता है।'' (रवि बुले, आइने, सपने और वसंतसेना)

तो क्या सारा दोष नई पीढ़ी का ही है? क्या नई पीढ़ी सच में इतनी अहम्मन्य, खोखली और आत्मरतिग्रस्त है? इस बाहरी आक्रामकता, अहम्मन्यता और आत्मरतिग्रस्तता के पीछे क्या असुरक्षा और अकेलेपन की गहरी सुरंगें नहीं? वह जन्मना इतनी ओवर-फैड, ओवर-प्रोटेक्टेड, ओवर-एक्स्पोज्ड है या उसकी मासूमियत और बचपन को छीन कर उसे ऐसा बनाया गया है पुरानी पीढ़ी द्वारा? मीडिया से वह दिशा-निर्देश पाता है, लेकिन क्या दुधमुँहे दिनों में ही मीडिया (टी वी, वीडियो गेम्स, कंप्यूटर गेम्स) के सामने अकेला बैठा नहीं दिया गया था वह? बेशक पुरानी पीढ़ी के पास सौ-सौ जायज बहाने हों कि ''नौकरी के झमेले, वक्त की कमी, ट्रैफिक की किट किट, न्यूक्लियर फैमिली का दबाव, बदलता लाइफ स्टाइल, बच्चों को सारी सुविधाएँ मुहैया कराने की लालसा-बच्चों के साथ कितना वक्त बिताएँ? और कैसे? बच्चे भी तो कार्टून नैटवर्क के आगे से हिलना नहीं चाहते। चलो, वे भी खुश, हम भी निश्चिंत।'' पुरानी पड़ती हमारी पीढ़ी आत्मग्लानि से ग्रस्त है और नई पीढ़ी मीडिया को माँ-बाप-गुरु मानने के संस्कार से लकदक। ''नहीं खाना चाहते दाल-सब्जी-रोटी-चलो, कोई बात नहीं, पिजा ऑर्डर कर देते हैं। होम डिलीवरी है। मुझे भी खाना बनाने से छुट्टी मिलेगी।'' नौकरी की दोहरी थकान से राहत की साँस लेती माँ। इस माँ ने सुधा अरोड़ा की कहानी 'महानगर की मैथिली' की माँ जैसा भावनात्मक तनाव शुरुआती दौर में झेला था, आज वह पक्की कैरियरिस्ट है -तेज़ दौड़ती मशीन का चुस्त-दुरुस्त नट-बोल्ट। अपने सपनों को बच्चों के जरिए पाना वैसी ही निर्लज्ज उद्दण्डता है जैसे अपनी कामवासनाओं की तृप्ति के लिए पुत्र के यौवन को चुराना (याद कीजिए पुरु और ययाति का प्रसंग)। सपने अपनी आँख में सजें तो अस्मिता को तेजस् करते हैं, दूसरों की आँख में रोप दिए जाएँ तो गधे की पीठ पर पानी से तर-बतर रूई की लदानी बन जाते हैं। यदि इस पीढ़ी ने जिंदगी को जिंदगी के साथ चल कर नहीं जिया, सपनों, खबरों और तस्वीरों के बीच पाया है तो इसके लिए कसूरवार वह नहीं, पुरानी पीढ़ी है। खुदगर्ज और तोताचश्म। नया कहानीकार 'पापा का चेहरा' (मो० आरिफ) में पुरानी पीढ़ी के चेहरे पर पड़े नकाब को झटक रहा है। पंद्रह-सोलह साल की लड़की सोनल पर पढ़ाई के बोझ से भी ज़्यादा है माँ-बाप की अपेक्षाओं का बोझ। प्री-बोर्ड की परीक्षा में सिर्फ 'एट्टी परसेंट' नम्बर-माँ-बाप के पैरों तले ज़मीन नहीं; और सपने हैं कि सानिया की तरह बेटी सोनल प्रेजीडेंट ऑव इंडिया से भेंट करे, अपनी सफलताओं का राज बताते हुए टी वी पर इंटरव्यू दे। सोनल की आँखों में नींद नहीं तो सपने कहाँ से आएँ? अलबत्ता सानिया की फोटो से खासी चिढ़ है उसे और उसी अनुपात में पढ़ाई से भी। वह 'पारुल की तरह पंखे से झूल जाना चाहती है', वह बोलना चाहती है-मन की बात लेकिन किससे बोले? उसे तो रट्टू तोते

की तरह सिर्फ दो लफ़्ज़ सिखाए गए हैं–'जी पापा'।

''एग्ज़ाम हॉल में घबराना नहीं बेटा–आराम से।

जी पापा।

हर प्रश्न को अच्छी तरह पढ़ लेना, समझ लेना, तब करना।

जी पापा।

बेटा, सब कुछ तुम्हारे हाथ है तुम्हारी मम्मी, कुत्री की आशाएँ

जी

हंड्रेड में हंड्रेड बेटा।

जी ''

चंदन पाण्डेय खुदगर्ज बुजुर्ग पीढ़ी की कस कर खबर लेते हैं 'भूलना' कहानी में सोनल की ही तरह सपनों और आशाओं की गठरी लेकर अपने को पढ़ाई में तिल–तिल झोंक रहा है १९८० में जन्मा गुलशन। कहानीकार उसकी पीड़ा और अंतर्द्वंद्व का चित्रण नहीं करता। वह गुलशन का 'उपयोग' करने वाली पीढ़ी की अमानुषिकता को रेखांकित करता है जो पढ़ाई में तल्लीन गुलशन को (इसे यूँ भी कहा जा सकता है कि इशारों पर नाचता गुलशन) 'फॉर ग्रांटेड' लेती है और इसलिए निरापद स्थिति में उसे 'भूल' जाती है। यह 'भूलना' कई–कई दिनों तक चलने वाली लंबी आदत में शुमार हो गया है जिस कारण उसकी भरी–पूरी उपस्थिति के बावजूद कमरे की बत्ती बुझा दी जाती है; जनगणना वालों के सामने बच्चों की संख्या तीन नहीं दो बताई जाती है; और भीतर से बंद बाथरूम में घर के सभी सदस्यों को गिनने के बाद गुलशन के होने की संभावना से बेखबर किसी आतंकवादी के होने की कल्पना की जाती है। लेखक ने घटना को अतिरंजित रूप दिया हे और अपनी ही 'फोकस्ड' तल्लीनता में कैद गुलशन को पुलिस और समाज के सामने अकारण 'आतंकवादी' घोषित होते दिखाया है। क्या यह रूपक इसलिए कि स्नेह, संवाद और विश्वास के अभाव में ही पनपता है आतंकवाद? और आतंकवाद का पहला शिकार है अपने में तल्लीन मासूमियत? गुलशन की तरह? या इसलिए कि हमारे भीतर की असुरक्षा और बदहवासी हमें स्थितियों को समग्रता में चीन्हने ही नहीं देतीं और बौखलाहट बन कर खुद हमें तोड़ने लगती है? या यह रूपक इसलिए कि द्वंद्व और प्रश्न से परे दूसरों के सपनों का दुर्वह भार सहता हर

गुलशन किसी न किसी भावनात्मक हादसे का शिकार होकर शारीरिक–मानसिक रूप से पंगु और पराश्रित जिंदगी जीने को अभिशप्त है? अपनी हस्ती पर दूसरों द्वारा सवारी गाँठने के हर प्रयास को झटकार कर चलता है नवलेखन क्योंकि अपनी मुक्ति के लिए उसे दूसरे के बाड़े से बाहर आना ही होगा।

नवलेखन की सबसे बड़ी सीमा यह है कि वह अपनी अनुभवहीनता (जो असल में संवेदनहीनता और अंतर्दृष्टि के अभाव का दूसरा नाम है) पर मीडियापोषित फार्मूलों और चमत्कारपूर्ण शैल्पिक युक्तियों का मुलम्मा चढ़ा कर सर्जक होने का दंभ पालता है। 'इति गोंगेश पाल वृत्तांत' कहानी में यह प्रयास और असफलता एक साथ देखी जा सकती है। कथा में कमर्शियल ब्रेक हैं–इस आग्रह के साथ कि क्यों टी वी के दर्शक की तरह पोंगा पाठक इन्हें स्वीकारने से परहेज करता है? (यहाँ सिक्के का दूसरा पहलू नदारद है कि यह 'पोंगा पाठक' टी वी विज्ञापनों के बीच न्यूज और एंटरटेनमेंट की असफल तलाश के बाद टी वी से नाता तोड़ पुस्तकों की दुनिया में कूदने को लालायित हो उठता है।) गोंगेश पाल जादू विद्या के जरिए (प्रतीकार्थ हाथ की सफाई जैसा कोई गोरखधंधा या तिकड़म) शोहरत और पैसा भी कमाना चाहता है और अपनी सफलता को लेकर आशंकित भी है। चूँकि वह जीवन भर निष्क्रिय दर्शक रहा है, इसलिए कर्म और संघर्ष उसकी ज़मीन बन ही नहीं पाता। मृत्यु (इधर की कहानियों में कभी यह हत्या के रूप में आती है और कभी आत्महत्या के रूप में) उसका जीवन–सत्य है। दरअसल इस दौर की कहानियों का ड्राफ्ट इतना निर्दोष है कि इनकी विश्वसनीयता पर प्रश्नचिन्ह लग जाता है। गढ़े गए पात्र, बुनी गई घटनाएँ, रोपे गए निष्कर्ष और उनके बीच विद्युत तरंग की तरह प्रवाहित अखबारी खबरें बल्कि यह कहना अधिक सही होगा कि निष्कर्षों को सामने रख कर पात्र गढ़े जाते हैं।, घटनाएँ बुनी जाती हैं और कहानी नहीं, 'स्टोरी' लिखी जाती है। ठीक वंदना राग की कहानी 'यूटापिया' की तरह। इस कहानी में है बाबरी मस्जिद ध्वंस के बाद हिंदुओं और मुसलमानों के बीच वैमनस्य की गहराती फाँक; इस परिवर्तन को सूँघ बेचैन होता आम आदमी जिसे सेकुलर और फंडामेंटलिस्ट जैसी शब्दावली का कोई ज्ञान नहीं; पर्सनल को पोलिटिकल बना कर वहशियत का नंगा खेल खेलती अमानुषिकताएँ –समूचे युग सत्य को अपने औपन्यासिक कलेवर में समेट लेती है कहानी। यहाँ बाकायदा नाम के साथ उपस्थिति है विक्टिम नज्जो और आखेटक अच्युतानंद गोस्वामी उर्फ अच्चू भैया, लेकिन स्टीरियोटाइप्स से ऊपर उठ कर चरित्र नहीं बन पाए हैं ये। यानी अनुपस्थित है मानवीय संवेदन की ऐसी गहन अंतर्यात्रा जो ईसा पूर्व रोम के युगीन परिदृश्य में संघर्षरत गुलाम स्पार्टास की लड़ाई के साथ एक मिशन की तरह जोड़ लेती है पाठक की चेतना को और उसकी संवेदना का उदात्तीकरण करती हुई एक नई दुनिया में ले जाती है, जहाँ का मूल्यबोध अपसंस्कृति और अवमूल्यन के युग का रोना रोकर अवसरवाद का पोषण करने का बहाना नहीं ढूँढ़ता, बल्कि मनुष्यता के संवर्धन से जुड़े सनातन मूल्यों की एक बार फिर पुरजोर ढंग से पैरवी करता है। असल में उदात्तीकरण अपने ही भीतर की विकृतियों और संकीर्णताओं को खंगाल कर एक नए मानव बोध से लकदक होना है। फ्रेम की जकड़बंदी में कोई भी अंतर्यात्रा संभव नहीं और विडंबना है कि तमाम युगीन विडंबनाओं की प्रस्तुति के बावजूद युवा कहानीकारों की अधिकांश कहानियाँ फ्रेम के बाहर की दुनिया से बावस्ता नहीं।

इसलिए ताज्जुब नहीं कि इधर की अधिकांश कहानियों के पुरुष (स्त्री भी) पात्रों का चेहरा खासा मर्दवादी है। मौज–मस्ती का आलम स्त्री–पुरुष दोनों पर इतना तारी है कि प्रेम और वासना के

अंतर को जानते ही नहीं। खासतौर पर लड़कियाँ तो देह सुख पाने के लिए आक्रामकता की हद तक उत्कंठित-उस स्थिति का विलोम रचते हुए जो अल्पना मिश्र की कहानियों 'मुक्ति प्रसंग', 'इस जहाँ में हम' और 'लिस्ट से गायब' में स्त्री के देह-शोषण के प्रति लेखकीय विरोध के रूप में तीव्रतर हुई है। दरअसल स्त्री को समग्रता में देखने की कोशिश पुरुष कहानीकारों ने की ही नहीं। 'हिल स्टेशन पर औरत' के बाद रवि बुले 'आईने, सपने और वसंतसेना' में फैंटेसी रच कर स्त्री के विरोध को ज़रूर दर्ज करते हैं कि क्यों हर पुरुष बिस्तर में पहले उसकी भरी-पूरी शख्सियत को नकारता है, और फिर 'वसंतसेना' के रूप में परिकल्पना कर 'बलात्कार' करता है? लेकिन 'बलात्कार' सरीखी रतिक्रिया के दंश को भोगती स्त्री मृदुला गर्ग के 'चितकोबरा' की मनु की याद नहीं दिलाती, साथी पुरुष में किसी मसखरे का अक्स ढूँढ़ देह सुख को पूरी तल्लीनता के साथ बटोरती है। सवाल यह है कि यह स्त्री के मानसिक विकास और प्रतिकार की ऊ र्ध्व यात्रा है या भोग और प्रतिशोध का अधम रूप? स्त्री और पुरुष दोनों को 'भोगी' और 'बलात्कार' का चेहरा देकर जिस युग-सत्य को इस कहानी में खोजा गया है, क्या वह किन्हीं ठोस समस्याओं या सवालों से बावस्ता होकर जीवन को गति दे सकता है?

नहीं। हरगिज नहीं।

भोगवादी दृष्टि गंभीर समस्याओं को भी मजाक बना देती है।

यकीन न हो तो कुणाल सिंह की कहानी 'रोमियो, जूलियट और अँधेरा' हाजिर है। आसाम में 'स्थानीयता बनाम बिहारी' के मुद्दे ने राज्य भर में स्थिति को विस्फोटक और तनावपूर्ण कर दिया है। लेखक ने अखबार की कतरनों को शिल्पगत चमत्कारों के साथ जोड़ सत्य को विभ्रम और सत्याभास जैसा कोई रूप देने की चेष्टा की है। हो सकता है यह कोई महत्त्वपूर्ण उत्तर आधुनिक युक्ति हो जो जटिल सत्य को कुटिल परिवेश के बीचोंबीच अधिक प्रभावशाली ढंग से कहती हो, लेकिन आम पाठक वही समझता है, जो शब्दों के बीच छूटे अर्थों, रिक्तियों के बीच छिपी पूर्तियों और चुप्पियों के बीच जीती चीत्कारों से छन कर आता है। दूर की कौड़ी लाने के लिए दूर देश की छलांग लगाने की मजबूरी में वह यदि कुछ 'वाइटल' खोता है तो अपनी मिट्टी से जुड़े होने की आत्मीय प्रतीति। इसलिए यह कहानी न आसामी आक्रोश को कोई दिशा और आयाम दे पाती है, न बदमाशों द्वारा रामदहिन के घर में छिप कर रतिक्रीड़ा करते प्रेमी युगल के दुखद अंत की घटना संवेदना पैदा करती है। अलबत्ता यह सवाल जरूर घुमड़ता है कि सब की आँखों में धूल झोंक कर आत्मसुख के लिए लपकती प्रेमी युगल सरीखी पीढ़ी को जिम्मेदार, योग्य और निर्माता पीढ़ी कैसे कहा जाए?

मनीषा कुलश्रेष्ठ 'प्रेत कामना' कहानी में वृद्ध विधुर प्रोफेसर के जरिए व्यक्ति के जीवन में प्रेमांकुरण के किसी भी क्षण को उसकी दैहिक और भावनात्मक जरूरत ही नहीं मानतीं, बल्कि उसकी सामाजिक स्वीकृति भी चाहती हैं। प्रेम पर युवाओं और समाज-स्वीकृत सम्बन्धों का एकाधिकार क्यों? लेकिन जिस प्रकार प्रो. और अणिमा अपनी-अपनी प्यासी देहों को तृप्त करने की हड़बड़ी में लिप्त हैं, वह प्रेम के नाम पर अपने को भरमाने की कुटिल युक्ति है। प्रत्यक्षा और पंखुरी सिन्हा ऐसी किसी भी आत्मप्रवंचनात्मक युक्ति से पल्ला छुड़ कर सीधे-सीधे तेज़-तर्रार लड़की के पक्ष में जा खड़ी होती हैं जो अपनी दैहिक ज़रूरतों को अपनी भाषा में बयान करने का साहस भी रखती हैं। मो. आरिफ इस खिलंदड़ी लड़की के ऊहापोह को कन्या भ्रूण हत्या जैसे मुद्दे के साथ जोड़ कर एक नई ही रंगत देते हैं 'फूलों का बाड़ा' कहानी में बेशक स्त्रीवादी दृष्टि अख्तियार कर वे नायिका महारानी सेतिया की जुबानी स्त्री के मनोविज्ञान, दाम्पत्य एवं दाम्पत्येतर जीवन में स्त्री के दैहिक-भावनात्मक शोषण, बलात्कार से उपजे दंश, परिवार से जुड़े रहने की नैसर्गिक भावना और बेटियों के बावजूद बेटे के प्रति 'स्त्रियोचित' लालसा को दिलचस्प किस्सागो की तरह बयान करते हैं लेकिन महारानी सेतिया स्त्री नहीं, मेल स्टीरियोटाइप के रूप में अधिक उभरती है। यह स्त्री वह नहीं जो चंदन पाण्डेय की कहानी 'नकार' में पिछले पचास सालों से पाकिस्तान में कहीं 'खो' गई माँ की तलाश में निकली छप्पन वर्षीया बेटी में मौजूद है। रिश्तों की कस्तूरी से महकती यह स्त्री स्वयं माँ है, इसलिए 'माँ' के जरिए एक पूरी पोषक परंपरा का इस्तकबाल करना चाहती है। चूँकि वह स्त्री भी है, इसलिए अनजाने पाकिस्तानी परिवार में बेटों-पोतों के साथ जीती जुबैदा में माँ को चीन्ह कर भी खाली हाथ लौट आती है। स्त्री होने की नियति में परवशता और पीड़ा, खंड-खंड होकर अखंड बने रहने की मशक्कत, सपनों को मुल्तवी करते रहने की लाचारगी और सपनों को हकीकत के रूप में देख कर मुँह फेर लेने की बेबसी-सब कुछ तो शामिल है जिसे हाशिए पर जीती हर अस्मिता एक सा महसूस कर सकती है। चंदन पाण्डेय की यह स्त्री अल्पना मिश्र की उस स्त्री के बेहद करीब है जो रोमर्ा की भीड़ में रोज़-रोज़ देखी जाती स्त्री के परिचित चेहरे को एक नए ही कोण से उद्घाटित करती है।

नए कहानीकारों की उपलब्धियों को लेकर एक बात अक्सर कही जाती है कि यह कहानी स्त्री विमर्श की धमक से दूर स्त्री-मानस का प्रामाणिक चित्रण कर रही है। सवाल उठता है कि स्त्री विमर्श क्या ऐसी हौलनाक चीज़ है जिसके पास जाने से ही आपको जख्मी हो जाने का अंदेशा है या इतनी गलीज चीज़ कि छूते ही नापाक हो जाएँगे। स्त्री विमर्श मुक्ति के नाम पर न स्त्री देह का चटखारेदार वर्णन है (वैसे इन कहानियों में यह वर्णन अधिक है), न पुरुष और परिवार का विरोध कर अपनी स्वायत्त सत्ता का उद्दण्ड घोषणा पत्र। चूँकि स्वयं जिंदा रहने के लिए दूसरों की जीवित उपस्थिति अनिवार्य है, अत: स्त्री मुक्ति अकेले संभव ही नहीं। स्त्री विमर्श अपनी मूल अवधारणा में सदियों से मौजूद सामाजिक कुरीतियों के संग-साथ यौन हिंसा, घरेलू हिंसा और कन्या भ्रूण हत्या जैसी संजीदा विकृतियों के संदर्भ में स्त्री की मानवीय अस्मिता पर विचार करने का अभियान है। इसे खारिज करने का अर्थ उन तमाम वैचारिक मुठभेड़ों, उद्वेलनों और संवेदनाओं को कुचलना है जो अपराधी के 'वर्चस्व' पर चोट करने के बाद उसे हिंसा और ताकत का खेल खेलने से रोकती है। नए कहानीकार का स्त्री विमर्श से बिदकना क्या एक बार फिर अनुभवहीन पीढ़ी की तोतारटंत भाषा को जाहिर नहीं करता?

३

क्या इतना भर है युवा लेखन?

सवाल का कोण पलट दूँ तो यह कि क्या सचमुच इतना ही वीभत्स, रुग्ण और विकृत हो गया है वक्त?

क्या भीतरी टूट-फूट के बावजूद पोषण और संवर्धन की कुदरती प्रक्रिया बीमारियों से लड़ते

मनुष्य की तरह वक्त को भी स्वस्थ और अखंड नहीं बनाए रखती?

''टूटने के कगार पर ही निर्माण की नींव डाली जाती है''-'हिडेन फैक्ट' की तलाश में अपनी विकृतियों को नजरअंदाज कर दूसरों की कमजोरियों को बीनते-चुगते प्रभात रंजन 'पर्दा गिरता है' कहानी में जब निर्माण की अजस्र शक्ति के सम्मुख नतमस्तक होते हैं तो आश्वस्ति होती है। सचमुच टूट-फूट का संज्ञान लेकर नवनिर्माण का गुरु दायित्व वहन करना ही है नई पीढ़ी को। सही-गलत, अच्छा-बुरा के मानवतावादी बोध से सम्पृक्त होकर। अपनी तमाम संकीर्णताओं और वासनाओं से मुक्त होकर; नैतिकता के प्रति आक्रोश भरी तमतमाती मुद्रा को परे फेंक कर क्योंकि जिस बुराई का प्रतिपक्ष रच कर आप इतने 'असहिष्णु' और 'आक्रामक' हो रहे हैं, वह उसी का हमजाद कंस्ट्रक्ट है, मानवतावादी दृष्टिकोण नही। मानवतावादी दृष्टि के पास सिर धुनने और गला काटने के लिए न वर्ग, वर्ण, जेंडर की संकीर्णताएँ हैं, न सभ्यता, संस्कृति और भौगोलिक सरहदों की बाधाएँ लेकिन युवा लेखन के पास सिर्फ दलदल नहीं। स्वस्थ सकारात्मक मानवतावादी दृष्टि भी है। क्यों न उसे उकेरा जाए-उन मूल्यों की प्रतिष्ठा के लिए जिनके होने से व्यक्ति अपने भीतर की मनुष्यता को चीन्हता है, पास खड़े दूसरे व्यक्ति में उसका अक्स देखता है और प्रसार करता चलता है दूर तलक। शर्मिला बोहरा जालान की 'बूढ़ा चाँद' कहानी सादगी भरे शिल्प के साथ बाहर की बुराइयों से घिनाए बिना जब भीतर की लौ को प्रज्वलित करने का बीड़ा उठाती तो सिर्फ अंतस ही नहीं, बाहर का समूचा परिदृश्य भी स्निग्ध प्रकाश से भासमान हो उठता है। शर्मिला फैंटेसी और तरुण भटनागर अहसास की इस दुनिया में तैर कर दूर और गहरे उतराते चलते हैं। 'हैलियोफोबिक'-वे जानते हैं वक्त की विभीषिकाएँ इस मानसिक बीमारी का संक्रमण कर वक्त को पालतू बनाने वाली ताकतों की झोली भर रही हैं। 'हैलियोफोबिक' यानी एक खास किस्म की मानसिक बीमारी यानी इस बीमारी का मरीज दिन के आकाश और सूरज के साथ-साथ तारों भरे रात के आकाश से भी डरता है। प्रतीकार्थ का खुलासा करें तो अपनी ही क्षुद्रताओं में आपादमस्तक धँसते रहने की मानसिक विकृति जो मुक्ति के सपने, कल्पना की उड़ान और सृजन की निर्बंधता के

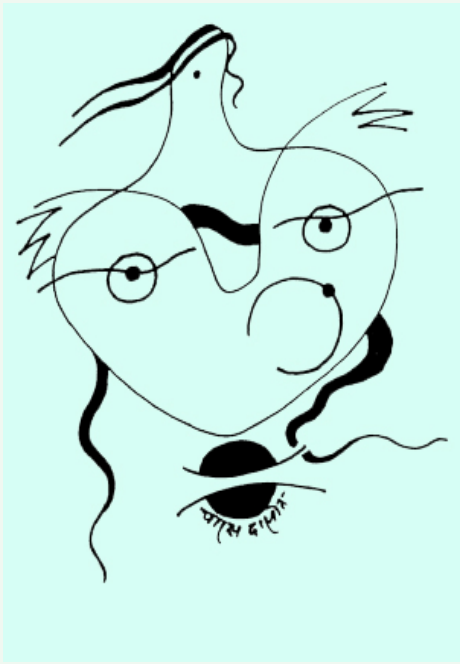

लिए आसमान के विस्तार का विरोध करती है। तो क्या 'हैलियोफोबिक' बीमारी से ग्रस्त हर मरीज का तिरस्कार करें या पागलखाने में डाल उसे अपनी मौत मरने के लिए छोड़ दें? एक विकल्प! या दूसरा विकल्प यह कि अपने भीतर अंकुराती इस बीमारी की संभावना को उखाड़ फेंके विश्वास, आत्मीयता, संवाद और स्नेह का प्रसार कर? लेखक तीन वर्ष की उम्र में अफगानिस्तानी युद्ध में माता-पिता सहित पूरे परिवार को खो देने की विभीषिका से ग्रस्त जिस 'हैलियोफोबिक' मरीज का चित्रण करता है, वह दरअसल युद्ध और हिंसा के विरोध में मनुष्यता को बचाए रखने की आस्था और संघर्ष का ही दूसरा नाम है।

इस आस्था को तरुण भटनागर बार-बार लगभग हर कहानी में जीते हैं-'बीते शहर से फिर गुजरना' में आपाधापी और विस्मृति के बीच 'कोमल' को बचाए रखने की लालसा के साथ और 'फोटो का सच' में अपनी भावनात्मक कमजोरी के कारण सीने पर शिला सी पसरी संवेदनहीनता के खिलाफ तरलता की तलाश साथ। 'बीते शहर से फिर गुजरना' में बीते दिनों को जीने का रोमान भरा नॉस्टेल्जिया नहीं, बीत कर भी स्मृति में ताजा रहे पलों और रिश्तों को उतनी ही समग्रता, सघनता और तल्लीनता के साथ जीने की व्याकुलता है जो पूरे शहर के साथ अनाम सा सम्बन्ध बना डालती है-''यह उसकी स्मृतियों का शहर है। वह नहीं होती तो इस शहर से गुज़रती ट्रेन में मेरे होने का कुछ अलग मतलब होता वह नहीं होती तो यह बीता हुआ शहर न होता पता नहीं वह कहाँ होगी? पन्द्रह साल हो गए। पर आज भी इस शहर पर उसका बस चलता है। यह शहर आज भी उसका कहा मानता है। पता नहीं वह कभी मिलेगी भी या नहीं? यह शहर भी मेरी तरह उसकी उम्मीद में धड़कता है। यह शहर नहीं मरेगा। उसकी यादें इसे मरने नहीं देंगी।'' 'फोटो का सच' में युवा पुत्र की मृत्यु से उपजे दंश से बौराए बूढ़े माँ-बाप हैं जो एक-दूसरे को ढाढस बँधाए रखने की झूठी आस में अपने-अपने मोर्चे पर अकेले अपनी पनीली आँख और थरथराती आवाज़ छुपा रहे हैं। संवेदहीनता ने साझा दुख गाढ़ा कर दिया है कि बेटे का शरीर ही नहीं मिटा, स्मृतियाँ, सम्बन्ध और अस्तित्व भी मिट गया है। बूढ़ा बाप क्लेम देने वाले क्लर्क के सामने बेटे के जन्म और चिता की दो फोटो रख बेटे के साथ अपने सम्बन्ध की गहरी यात्रा कर आता है-अकेले। सम्बन्ध हादसे और घोषणा से खत्म नहीं होते, साँस और खून के साथ अजर-अमिट संग-संग चलते हैं।

अहसास का यह तरल संस्पर्श कुणाल सिंह की कहानी 'सनातन बाबू का दाम्पत्य' और मो. आरिफ की 'फुर्सत' और 'सत्यमेव जयते' में भरपूर नमी और हरियाली के साथ मौजूद है। 'सनातन बाबू का दाम्पत्य' विनोदकुमार शुक्ल की 'दीवार में एक खिड़की रहती थी' की याद और सुवास से आपूरित करता है तो 'फुर्सत' कहानी फुर्सत के लम्हों में रोजमर्रा के बाहर के अपरिचित परिवेश के प्रति विस्मय और दुख से भर कर अपने सम्बन्धों में पसरती अजनबियत को प्रयासपूर्वक झाड़ देना चाहता है। इस सजगता में अपने को लौटा लाने और अखंड जीने की ललक तमाम विडम्बनाओं का मुकाबला करने को तैयार हैं। 'सत्यमेव जयते' कदम-कदम पर 'पंच परमेश्वर' का विलोम रचती है लेकिन पंचायत में भाई के खिलाफ अन्याय के पक्ष में खड़ा जफ़र मुहम्मद धूर्त्त नहीं, उन सब दबावों की मारी निर्बल इकाई है जिनके खिलाफ संगठित लड़ाई लड़े बिना नवनिर्माण संभव नहीं। निर्माण के लिए जरूरी है दृष्टि और दृष्टि में साबुत अखंड मनुष्य अंट जाए तो नए-पुराने का द्वंद्व, प्रतिरोध-प्रतिशोध का दंश कोई मायने रखता ही नहीं। कहना न होगा कि निर्माण की प्रक्रिया लम्बी और जटिल भी है और साझी भी। इन दो उद्धरणों

के बाद संशय की कोई गुंजाइश शेष रह भी नहीं जाती।

''चेतना न हो तो कितना कुछ रुक जाए। न आगे जाए और न पीछे जाए। बात चेतना भर की नहीं है। यह बात उस धड़कन की है जो चेतना के खोल में रहती है जो भ्रम तोड़ती है, स्वप्नों को सुधारती है, कविता के शब्द गढ़ती है।'' (तरुण भटनागर, बीते शहर से फिर गुजरना)

''उन बूढ़ी आँखों में छलक आने वाला पानी मुझे मेरे अपने देश के बूढ़ों की याद दिलाता है। उनकी चुप्पी घर की बात पर बाँध की तरह टूटती और मैं शार्ट हैंड में उसे समेट नहीं पाता था। कुछ था जो छूट जाता था। कुछ था जिसे लिखते नहीं बनता था। कुछ ऐसा जिसे हम कभी भी लिख नहीं पाए।'' (तरुण भटनागर, हैलियाफोबिक)

४

साहित्य कालजयी इसलिए है कि उसकी अंतस्संरचना में पाठक की आकांक्षाओं के साथ-साथ समाज-व्यवस्थाओं के संरचनागत दबाव भी शामिल हैं। लेखक एक इकाई के रूप में समाज-व्यवस्था के दबाव तले अपनी आकांक्षाओं को बाधित और खंडित पाता है। एंटी एस्टेब्लिशमेंट होना उसकी नैसर्गिक वृत्ति है, बल्कि सत्य यह है कि सामान्य व्यक्ति की अपेक्षा अधिक प्रखरता एवं संवेदना के साथ वह अपने भीतर व्यवस्था के दमनकारी दबावों के विरुद्ध चल रही लड़ाई को देख-समझ पाता है। बेशक किसी एक कोण विशेष के साथ ही वह अपने युग-सत्य से जुड़ता और जूझता है, लेकिन टकराने की प्रक्रिया में वह पाता है कि उसकी निजता संकीर्णता से मुक्त होकर निरंतर अपनी परिधि का विस्तार करती जा रही है। तब कल्पना की उड़ान भर कर अपनी आकांक्षाओं को पैर टिकाने के लिए वह जिस जमीन को प्रस्तावित करता है, वह दरअसल मौजूदा समाज-व्यवस्था की खामियों के विरुद्ध छेड़ी गई वैचारिक जंग है। एक स्वायत्त इकाई के रूप में पाठक जब लेखक की इस वैचारिक जंग का साक्षी होता है तो पहले स्तर पर अपने भीतर प्रतिरोध की दबी हुई इच्छा से परिचित होता है, और फिर दूसरे स्तर पर अपने निकटस्थ यथार्थ को स्वयं अपनी आँख से देखने की विश्लेषणपरक संवेदनशीलता पाता है। इसलिए कुछ नया न कहते हुए भी साहित्यकार चिर-परिचित को नई दृष्टि से देखने का संस्कार अवश्य देता है।

इस दृष्टि से तीन कहानियों/कहानी संग्रहों का विशेष उल्लेख करना चाहूँगी-'सत्यापन' (कैलाश वानखेड़े), 'लाल छींट वाली लूगड़ी का सपना' (सत्यनारायण पटेल) और 'पानी' (मनोज पांडेय)। उल्लेखनीय है कि ये कहानियाँ जहाँ पूर्व परंपरा का अविभाजय हिस्सा बन कर एक समस्या विशेष को समूचे काल के संदर्भ में देखने का संस्कार देती हैं, वहीं आज के हालात को विकटतर बनाने में व्यक्ति को अपनी भूमिका पहचानने का विवेक भी देती हैं।

सबसे पहले 'सत्यापन'। हिंदू संस्कृति के गौरव और गरिमा को प्रश्नांकित कर जोतिबा फुले जिस आक्रामक अंदाज़ में जिरह की भाषा के जरिए ब्राह्मणवादी व्यवस्था और धर्मशास्त्रों पर प्रहार करते चलते हैं, कैलाश वानखेड़े उतनी ही दृढ़ता के साथ अपनी स्थापनाओं पर अड़ कर जाति व्यवस्था की पुनर्समीक्षा कर लेना चाहते हैं। बस, उनका अंदाज़ पूर्ववर्ती रचनाकारों और जोतिबा फुले से निराला है। बड़बोलापन उन्हें छू भी नहीं गया है। वे मौन और मितव्ययिता के कथाकार हैं। उनका कहानी संग्रह 'सत्यापन' दलित अस्मिता को बिना किसी कुंठा और प्रतिशोध के मनुष्योचित गरिमा के साथ उकेरता है। आत्मविश्वासपूर्ण अधिकार से अपनी छिनी हुई ज़मीन वापस लेने और उस पर तने आसमान में मुक्त उड़ान भरने का साक्ष्य रचती हैं इस संग्रह की कहानियाँ-विशेषकर 'सत्यापित', 'अंतर्देशीय पत्र' और 'तुम लोग'। मानो सूत से सूत कात कर कथा-वितान फैला रही हो बूढ़ी नानी, और इतिहास अपनी करनी पर लज्जित माफी माँगता पीछे-पीछे चला आ रहा हो। इतनी सूक्ष्म व्यंजकता, आब्जर्वेशन का पैनापन और उद्देश्य की कलात्मक संश्लिष्टता-सचमुच अप्रतिम है।

कैलाश वानखेड़े साहित्य के स्वत:स्फूर्त चरित्र में सजगता और सचेतनता की बिनाई करना बेहद जरूरी समझते हैं। यह वह खूबी है जो प्रवंचना और दमन की परंपरा को खत्म करने के लिए हिंसा और बहिष्कार की सरल-इकहरी कार्यशैली को नहीं अपनाती, बल्कि चेतना को मनुष्य की गरिमा में रूपायित कर संवाद की पहलकदमी करती है। वे जानते हैं ''होने वाले अपमान का विचार ही अपमानित कर देता है। होने के बाद तो वह पीड़ा से एकाकार हो जाता है।'' चूँकि पीड़ा ''गीली लकड़ियों की तरह'' कसैले धुएँ और कड़वे आँसुओं से मन के आँगन को भर देती है, इसलिए वे परपीड़ा के साम्राज्य का विस्तार नहीं करना चाहते। एक शिष्ट-सौम्य दृढ़ता के साथ अपने प्रतिरोध को दर्ज करते हैं-''जब मुस्कराहट भरे मेरे चेहरे को क्लर्क ने देखा था तो वह परेशान हो गया था। दूसरों का हँसता चेहरा खुशी नहीं देता मेरा काम हो या न हो, लेकिन क्लर्क से अभद्रता का बदला लेने की हसरत ने मुस्कराहट बढ़ा दी। गोया कोई यंत्र लगा हो कि क्लर्क की परेशानी उसके चेहरे को बदरंग जा रही थी, उतनी ही मात्रा में मेरे चेहरे को रंगीन बना रही। खेल अपने चरम पर आ गया। उपेक्षा और उपहास क्लर्क को परेशान कर रहा था। धैर्य रखना है मुझे।''

घनघोर असहनशीलता के युग में धैर्य रखने की सलाह पलायन या सब्मिशन के लिए नहीं, एक स्ट्रैटजी के तहत है। धैर्य चेतना को प्रखर बनाता है और अपनी सीमाओं-अपेक्षाओं को थहाने का विवेक भी देता है। अपने अधिकारों को पाने की लड़ाई तब तक संभव नहीं जब तक मनुष्य के रूप में आत्मादर का भाव अर्जित न करे व्यक्ति। व्यवस्था से विरोध है तो सबसे पहले आँखों पर चढ़े व्यवस्था के चश्मे को तोड़ना होगा। घीसू, रमुवा, गोबर, चतुरी, कलुवा, नामों में भी वर्णव्यवस्था! मानो पुकारने के नाम व्यवस्था के कोड़े बन कर व्यक्तित्व पर बरसने लगते हैं और फिर लद्दू खच्चर बना कर मनचाही जोत में जोतने के लिए प्रशिक्षित कर देते हैं। सवर्ण समाज का संस्कार ही यदि सभ्य समाज है तो कैलाश वानखेड़े अपने पात्रों को उसी जमीन पर उसी नाम-पहचान के साथ उतारते हैं-रत्नप्रभा, प्रज्ञा, तेजस, समर, असीम, मिलिंद। यह दूसरों की ज़मीन को हथियाने या अपनी हथियाई ज़मीन को पाने की रस्साकशी नहीं, सजग आत्मविश्वास के साथ सबकी साझी जमीन पर सबके साथ चलने का अधिकार है। एक गहरी आंतरिक इच्छा की प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति!

वक्त के अंतरिक्ष से तैर कर कैलाश वानखेड़े के पास पहुँची है एक हूक जिसे सवाल बना कर प्रस्तुत करते हैं वे कि ''जो हमें नहीं जानता, नहीं पहचानता, वही हमें सत्यापित करता है। उसी न जानने वाले के दस्तखत से हमें जाना जाता है। कभी-कभी लगता है कि ये कौन हैं, कहाँ से आए हैं जिनके पेन से ही तय होती है हमारी पहचान?'' इसलिए अनायास नहीं कि उनके यहाँ सवाल की टंकार नायक का दर्जा पाती है और इस प्रकार

कथाकार के तौर पर वे कथा-संरचना की पहली रूढ़ि को अनायास तोड़ जाते हैं। चूँकि सवाल उनका नायक है, इसलिए कहानी-दर-कहानी असहमति और विरोध का सिलसिला आगे बढ़ाता हुआ विद्रोह में संघटित हो जाता है ''इंतजार वाले अगर हाथ में हाथ डाल कर एक चेन बना लें तो ?'' उनकी रचनाओं में आक्रोश दूसरों के दामन पर थूकने की ओछी हरकत बन कर नहीं आता, आत्म-पड़ताल की कठिन साधना बनता है जो पहले अपने भीतर पसरे ब्राह्मणवाद और सामंतवाद को उखाड़ डालना चाहता है। तीन विशिष्टताएँ जो कैलाश वानखेड़े को दलित-लेखन परंपरा के मौजूदा स्वरूप से अलगाती हैं, वे हैं-असहमतियों और विरोध को संगठित मोर्चे का रूप देकर अपनी आकांक्षाओं का ठोस एवं सकारात्मक ड्राफ्ट तैयार करना; अस्मिता की इस लड़ाई में संवाद को टूल एवं लक्ष्य की तरह इस्तेमाल करना; और मुस्कान के जरिए परस्पर विश्वास और सम्मान में गुँथे सम्बन्ध का निरंतर विकास करना।

जिस तरह कैलाश वानखेड़े जोतिबा फुले की याद दिलाते हैं, उसी तरह सत्यनारायण पटेल प्रेमचंद की याद दिलाते हैं। होरी का सपना इक्कीसवीं सदी तक आते-आते कैसे एक विघटनशील प्रवृत्ति बन गया है-सत्यनारायण पटेल की कहानी 'लाल छींट वाली लूगड़ी का सपना' में अनेक कोणों से समझा जा सकता है। 'म्हारे नी बेचनो है म्हारे खेत'-खंजड़ी को कस कर पकड़े रक्तरंजित डूँगा का आर्त्तनाद भावापूरित बिंब बन कर पाठक के भीतर उतरता चलता है। कहानी के भीतर से गुजरते हुए पाठक जान जाता है कि यह बीभत्स भदेस लघुमानव मूलत: श्रम की सजीव प्रतिमूर्ति है। लेकिन सपरिवार हाड़तोड़ मेहनत के बाद भी वह क्या पाता है? गरीबी का घनघोर साम्राज्य, युवा होती बेटी को शोहदों से बचाने की दुश्चिंता, अपने खेत को बचाने के लिए भू-माफिया से अनवरत संघर्ष, और गाँव-घर के भीतर पैर पसारती उपभोक्ता संस्कृति से रिश्तों की आत्मीयता को बचाए रखने की जंग। एक स्तर पर यदि यह कहानी देश भर में आत्महत्या करते किसानों के दर्द को रेखांकित करने का जतन है तो दूसरे स्तर पर उन कारणों को जानने की व्याकुलता भी कि क्यों जमीन से जुड़ी हर खेतिहर अस्मिता व्यापक स्तर पर आत्महत्या करने को विवश है। स्थिति अधिक विद्रूप पूर्ण तब हो उठती है जब खेतों का अधिग्रहण करने-कराने वाली पूंजीपति-दलाल शक्तियाँ लक्ष्मी और आतंक दोनों को समान भाव से प्रश्रय देने लगती हैं। आरामतलब किसानों का टुल्लर (भू-माफिया का एजेंट) बन कर अपने और दूसरों के खेतों को औद्योगिक विकास की आँधी में झोंक देना; पीढ़ियों तक परिवार-समाज का पोषण करने वाली जमीन को कैश में बदलना; और गाड़ी-बंगला-रिवाल्वर खरीद कर वर्तमान को ही क्षरणशील बना लेना दरअसल विकास की अवधारणा को ही प्रश्नचिन्हित करते हैं? कहानी की घटनाशीलता जिस कुशलता से डूँगा और होरी को एकमेक कर स्मृति में लगातार माधराव सप्रे की कहानी 'टोकरी भर मिट्टी' और प्रसाद की कहानी 'पुरस्कार' को बनाए रखती है, वह भावाकुलता का निषेध कर मौजूदा भूमि-अधिग्रहण नीतियों के औचित्य पर बहस करने की माँग करती है।

मनोज पांडेय की कहानी 'पानी' में दो आग्रह स्पष्ट दिखाई देते हैं-पारिस्थितिकी संतुलन बनाए रखने की जद्दोजहद, और क्रोनी कैपिटलिज्म के खिलाफ लड़ाई। कहानी पढ़ कर बेशक मृदुला गर्ग की 'इक्कीसवीं सदी का पेड़', अलका सरावगी की 'एक पेड़ की मौत', एस आर हारनोट की 'आभी' और संजीव की 'प्रेतमुक्ति' की याद आती रही, लेकिन फिर भी यह कहानी परंपरागत ढाँचे में रची गई शोषण-दमन-प्रतिकार की कहानी नहीं है। यह मगन ठाकुर द्वारा तालाब पाट कर जमीन कब्जियाने की ही कहानी नहीं है। न ही पंप लगा कर पानी की तिजारत करने की कहानी। पंडित, पुलिस, प्रशासन के साथ मिल कर गाँववालों के शोषण की कहानी भी नहीं। यह अपनी पूँजी और सत्ता के बल पर गाँव की मौजूदा सहकारी व्यवस्था को बदल कर अपनी हितसाधक व्यवस्था को खड़ा करने की कहानी है। प्रतीक रूप में यह क्रोनी कैपिटलिज्म के दुष्परिणाम दिखाती है, और फैंटेसी बन कर जनता द्वारा किसी भी मनुष्यविरोधी सत्ता को नष्ट कर देने की टंकार भी बनती है। लेखक की मान्यता है कि पानी यानी जीवन-स्रोतों को हस्तगत कर लेने के बाद जब शोषकों के पास भी शोषण करने के लिए कुछ नहीं बचता, तब एक अनियंत्रित प्रतिशोध के रूप में शुरु हुआ नक्सलवादी आंदोलन या 'लकड़सुँघवे का आक्रमण' समय को नहीं रच पाता। तब प्रकृति के कोप के जरिए उमड़ी विध्वंस की आप्लावनकारी लहर ही पुनर्निमाण के बीज बो सकती है, जहाँ अपने-अपने स्वार्थों को भूल कर व्यक्ति को सबसे पहले सह-अस्तित्व का पाठ पढ़ना होगा। कहानी बलपूर्वक इस तथ्य को रेखांकित करती है कि पारिस्थितिकी की रक्षा का अर्थ प्रकृति के साथ केवल मनुष्य के सामंजस्यपूर्ण संबंध का आख्यान नहीं है; यह मनुष्य का मनुष्य और मनुष्येतर प्राणियों के साथ सामंजस्यपूर्ण सम्बन्ध बनाए रखने का आह्वान भी है।

मो. आरिफ की 'चूक', एस आर हारनोट की 'पत्थरों का खेल', अनुज की 'अँगुरी में डँसले बिया नगनिया', योगेंद्र आहूजा की 'स्त्री विमर्श', सत्यनारायण पटेल की 'काफिर बिजूका उर्फ इब्लीस' आदि कुछ ऐसी महत्त्वपूर्ण कहानियाँ हैं जिन पर चर्चा करना अपने वक्त पर संजीदगी से विचार करने के लिए बेहद जरूरी है।

कथ्य की दृष्टि से गत बीस वर्ष की वैविध्यपूर्ण हिंदी कहानी शिल्प की दृष्टि से भी अपने को ताजादम और समृद्ध कर रही है। बोलियाँ और लोककथाएँ स्मृतिहीनता के अंधड़ में स्मृति-कोश को बचाए रखने की ज़िद के रूप में उभरती हैं। खासतौर पर सत्य पटेल जैसे कुशल किस्सागों के यहाँ वे समय और संस्कृति को पुनर्निर्मित करने का धारदार औज़ार बनी हैं। फैंटेसी के पाँवों चल कर आया जादुई यथार्थवाद 'तिरिछ' कहानी में पहले आतंक को धीरे-धीरे उभारता है और फिर जड़ता के एक बिंदु पर पूरी तरह आक्रांत कर लेता है। लेकिन मनोज रूपड़ा और मनोज पांडेय के हाथ में यह उदयप्रकाश से आगे बढ़ कर अपनी दिशाएँ तलाशता है। तब जड़ता का बिंदु आतंक और पराजय में विघटित नहीं होता, आत्म-पड़ताल बन कर दूने ज़ोर से व्यवस्था के खिलाफ मोर्चा छेड़ता है। यह किंचित विस्मय की बात है कि इधर कहानियों में भावप्रवणता और कोमलता कम हुई है, और उनके स्थान पर बौद्धिकता, विश्लेषण और जटिलता बढ़ी है। कहानी का शिल्प उपन्यास की तरह अनायास संश्लिष्ट हो गया है। यह दिग्भ्रमित आत्मरतिग्रस्त युवा पीढ़ी की आत्मघाती मनोवृत्ति से समाज को दूर ले जाने और अपने दायित्वों को समझने की सोची-समझी रणनीति के तहत हुआ है-इसमें कोई संदेह नहीं।

❐

हिंदी उपन्यास की यात्रा और आलोचना के ध्रुव

निरंजन देव शर्मा

हिंदी उपन्यास जिस दिशा में बढ़ा है, जिस-जिस तरह के प्रयोग सामने आये हैं इस यात्रा में, कहा जा सकता है उपन्यास एक विधा के रूप में निरंतर आगे बढ़ा है। प्रेमचंद अपने आप में युग की तरह अवतरित हुए, अपने समय की सच्चाई को समझा और कथा साहित्य के माध्यम से समाज से संवाद स्थापित किया। उपन्यास की सामाजिक भूमिका को दर्ज करते समय उनके उपन्यास शुरूआती दौर में ही एक बड़ा फासला तय करते हैं। यह फासला कथ्य के निरूपण के स्तर पर सेवासदन से गोदान तक की यात्रा में देखा जा सकता है। बहुत से अविस्मरणीय पात्र उनके उपन्यासों से उभर कर सामने आए। होरी सहित गोदान के अन्य पात्र, सूरदास, निर्मला जैसे कितने ही गहरी छाप छोड़ने वाले पात्र। इन उपन्यासों ने अन्य प्रयोगशील कथाकारों को आगे की ज़मीन तलाशने के लिए ठोस आधार प्रदान किया। मसलन, जैनेन्द्र 'त्यागपत्र' (१९३७), अज्ञेय 'शेखर एक जीवनी' (१९४० तथा १९४४) और हजारी प्रसाद द्विवेदी 'बाण भट्ट की आत्मकथा, (१९४६) शिव प्रसाद मिश्र रूद्र का 'बहती गंगा' जैसे प्रयोगात्मक उपन्यास लिख पाए। इन्सानी जिंदगी के नाना पहलू खुलते चले गए. सामाजिक, ऐतिहासिक, मनोवैज्ञानिक और वैयक्तिक, हर तरह के पहलू। बाहरी सामाजिक समस्याओं से जूझने के साथ-साथ मनुष्य के अंदरूनी द्वंद्व उभर कर सामने आये।

इसके बाद के दशक में उपन्यास विधा में किसी बड़े परिवर्तन को रेखांकित करने वाला कोई उपन्यास सामने आया तो वह फणीश्वरनाथ रेणु का 'मैला आँचल' (१९५४) था। शिव प्रसाद मिश्र रूद्र का 'बहती गंगा' का नाम भी यहाँ जोड़ा जाना आवश्यक है, जिस पर अपेक्षाकृत कम बात हुई। मैला आँचल के माध्यम से रेणु न केवल ग्रामीण जीवन के संघर्ष को सामने लाये बल्कि छल-कपट और सांस्कृतिक राग-रंग को भी सामने आये। एक तरह से ग्रामीण जीवन अपनी सम्पूर्ण खूबियों और खामियों के साथ इस उपन्यास में पहली बार धड़का जो प्रेमचंद की परम्परा के उपन्यासों से बहुत कुछ अलग था। इस उपन्यास का महत्त्व हिंदी भाषा को आंचलिकता के माध्यम से विस्तार प्रदान करने में भी है। संभवत: आलोचना द्वारा यथार्थवाद की खींच दी गई विचारधारात्मक सीमाओं को यह उपन्यास तोड़ता था इसलिए आलोचकों के बड़े खेमे ने इस उपन्यास को सहज स्वीकार नहीं किया।

उपन्यास के विकास और उसमें सार्थक प्रयोगों की दृष्टि से १९३७ और १९५४ के लिखे गए उपरोक्त

निरंजन देव शर्मा
निदेशक, भारत-भारती शिक्षा संस्थान ढालपुर,
कुल्लू हि प्र-१७५१०१
९८१६१३६९००
niranjanpratima@gmail.com

उपन्यास इस दौर के उपन्यासकारों की विलक्षण प्रतिभा के परिचायक हैं। इन सभी लेखकों ने उपन्यास विधा के माध्यम से मनुष्य जाति में विघटित होते मूल्यों को ले कर कुछ बहुत ही वाजिब सवाल उठाये, हिंदी के सुधि आलोचकों ने अपने-अपने तरीके से उपन्यास की भूमिका को समझा और उपन्यास विधा की सार्थकता पर बहस को आगे बढ़ाया। बहुत से उपन्यास लिखे जा रहे थे। जिन में से कुछ तो नए प्रयोग थे और विधा के रूप में उपन्यास के लिए नई संभावनाओं की तलाश करते थे तो बहुत से उपन्यास केवल उनकी आवृति थे। कुछ नया कथ्य खोज लेते थे पर उसके अनुकूल उपन्यास का प्रामाणिक भाषागत ढाँचा नहीं खोज पाते थे। पुराने फ्रेम में ही कोई नया कथ्य फिट करने का प्रयास करते थे।

यदि १९५४ के बाद के काल खंड को देखें तो लगभग १९७० तक का समय उपन्यास लेखन में किसी बहुत बड़े परिवर्तन को लक्षित नहीं करता। यद्यपि इस काल खंड में कई महत्त्वपूर्ण उपन्यासकार हुए और उन्होंने विपुल मात्रा में उपन्यास लेखन भी किया किन्तु इस दौर को एक यात्रा के रूप में ही अधिक देखा जाना चाहिए किसी महत्त्वपूर्ण पड़ाव या मोड़ तक पहुचने के रूप में नहीं। नागार्जुन, भगवती चरण वर्मा, वृन्दावन लाल वर्मा, भगवती चरण वर्मा, यशपाल, रांगेय राघव, अमृतलाल नागर, भैरव प्रसाद गुप्त, राजेन्द्र यादव, कृष्ण बलदेव वैद्य, मोहन राकेश, उषा प्रियंवदा, मन्नू भंडारी, श्री लाल शुक्ल आदि कई नाम लिए जा सकते हैं। इस लेखकों के एक-आध उपन्यास ध्यान आकर्षित करते हैं। लेखक क्रम में ही रख कर देखें तो 'बलचनमा', मृगनयनी (१९५०) 'भूले-बिसरे चित्र'(१९५९), झूठा सच, 'कब तक पुकारूँ (१९५७) 'बूँद और समुद्र' (१९५६) 'सती मैया का चौरा' (१९ ५९) 'सारा आकाश',(१९ ६०) 'अँधेरे बंद कमरे', 'रुकोगी नहीं राधिका','आपका बंटी', 'राग दरबारी' आदि उपन्यासों का महत्व है। उपन्यास की यात्रा जारी रखने की दृष्टि से इनका महत्व अपनी जगह है लेकिन कथ्य तथा शिल्प की दृष्टि से भी उपन्यासकार प्रयोगरत रहे, लेकिन कोई उपन्यास बड़े मील पत्थर की तरह सामने नहीं आया। शैलेश मटियानी, विष्णु प्रभाकर, उपेन्द्रनाथ अश्क तथा कमलेश्वर आदि और भी कई उपन्यासकार इस दौर में सक्रिय रहे। विष्णु प्रभाकर और कमलेश्वर को उपन्यासकार के रूप में वास्तविक ख्याति बहुत बाद में क्रमश: 'अर्धनारीश्वर' और 'कितने पाकिस्तान' से मिली।

यह भी भूलना नहीं चाहिए कि चले आ रहे उपन्यास के ढाँचे में नए प्रयोग न करते हुए भी कथ्य और शिल्प की अद्भुत गूँथ के साथ कुछ बेहतर उपन्यास सामने आये जो पठनीयता और सम्प्रेषण के स्तर पर अपना अलग प्रभाव पैदा करते थे। मानवीय स्वभाव के नए पहलू, सामाजिक और वैयक्तिक चिंताएँ और समय के परिवर्तित रूप की पहचान इन उपन्यासकारों ने की और साथ ही थी शिल्पगत सजगता भी उनमें थी, कि पठनीयता के स्तर पर, रोचकता के स्तर पर कोई चूक न रह जाए। इन्ही विशेषताओं के चलते वह अपनी अलग पहचान छोड़ पाए। रोचकता बनाये रखने के लिए किसी तरह की शिल्पगत शिथिलता इन उपन्यासकारों ने अपने उपन्यासों में नहीं आने दी। इसीलिए पाठकों का रुझान इन उपन्यासों की ओर रहा। उदाहरण के तौर पर हम भीष्म साहनी के महत्त्वपूर्ण उपन्यास 'तमस' तथा निर्मल वर्मा के वी दिन का नाम ले सकते हैं। विभाजन जैसी त्रासदी को 'तमस' (१९७३) केवल राजनैतिक फैसले और उसके बाद की मानवीय हिंसा के ताँडव और वीभत्सता में ही नहीं देखता बल्कि तटस्थ रह कर व्यापक दृष्टि इस ऐतिहासिक दुर्घटना पर डालना चाहता है। इस बीच निर्मल वर्मा का 'वे दिन' (१९६४) में प्रकाशित हुआ। युद्धों की अमानवीयता झेल चुके समाज में मनुष्य के आचरण में आये परिवर्तन को बहुत बारीकी से यह उपन्यास परखता है। इस उपन्यास को देशकाल की सीमाओं में बाँध कर नहीं देखा जाना चाहिए। क्योंकि इस उपन्यास में व्यक्त चिंताएँ केवल यूरोपीय समाज की नहीं कही जा सकतीं बल्कि इस अभिव्यक्ति को हिंसक युद्धों में लिप्त समस्त मानव जाति के समक्ष प्रस्तुत चुनौती के रूप में देखना चाहिए। 'वे दिन' में इन चिंताओं को प्रकट करने वाला कथ्य और शिल्प भी उपन्यास की विस्तृत सीमाओं का एक और प्रतिमान बनकर सामने आता है।

इसके विपरीत कुछ उपन्यास केवल अपनी विषय वस्तु के चलते व्यापक चर्चा में आये, जिन में यशपाल का 'झूठा सच' का उदाहरण दिया जा सकता है। इस वृहद् उपन्यास के पक्ष-विपक्ष में बहस छिड़ी रही लेकिन जहाँ उपन्यास पहुँचा है, उस यात्रा में आज आलोचना के हवाले से इस निष्कर्ष पर पहुँचने में कोई संशय नहीं होना चाहिए कि उपन्यास के रूप में यह पूरी तरह से परिपक्व रचना नहीं थी। हैरत इस बात को ले कर होती है कि उपन्यास की आलोचना में नामवर सिंह और नेमीचन्द्र जैन जैसी विलक्षण दृष्टि के आलोचक मौजूद होने के बावजूद जड़वादी समीक्षकों के चलते औसत उपन्यास आज भी चर्चा में चले आते हैं और फिर लुप्त हो जाते हैं। यह सच है कि अधिकांश हिंदी समीक्षा केवल लेखक-समीक्षक और कभी-कभी पत्रिका संपादक के मध्य एक ऐसा गठजोड़ है जो पुस्तक प्रकाशित कराना और उसपर तुरत-फुरत चर्चा कराना अपना ध्येय और उपलब्धि समझती है। रही-सही कसर विश्वविद्यालयों के हिंदी विभागों (अपवादों को छोड़ कर) के माध्यम से पूरी कर दी जाती है।

'एक हद तक हिन्दी उपन्यास की इस हालत से जुड़ा हुआ सवाल हिन्दी में उपन्यास की आलोचना का भी है। हिन्दी आलोचना या तो शुद्ध सैद्धांतिक है, जिसमें विश्वविद्यालयी शोध प्रबंध आदि तथा प्रगतिशील आलोचकों की बहसें दोनों ही शामिल हैं। या फिर आलोचना कविता या फिर अधिक से अधिक कहानी के इर्द-गिर्द केन्द्रित रहती है। यह कुछ आश्चर्य की ही बात है कि कि पिछले बीस-तीस वर्षों में उपन्यास की आलोचना भी उपन्यास रचना की हालत का अनुसरण करती रही है, आगे बढ़ कर उसका रास्ता प्रशस्त करने या नए क्षैतिज उद्घाटित करने का काम लगभग नहीं के बराबर हुआ है।'-नेमिचंद्र जैन, अधूरे साक्षात्कार, भूमिका-१२,सं २०१२

अकारण नहीं है कि नामवर सिंह जैसी विलक्षण प्रतिभा के धनी आलोचक से साहित्य जगत को उम्मीद किसी और तरह की थी कि वह कुछ और पुस्तकों के माध्यम से आलोचना की नई पद्धति विकसित करते। कुछ महत्वपूर्ण कृतियों पर विस्तार से लिखते। हिंदी आलोचना में इस स्थिति पर विचार करते हुए वरिष्ठ कथाकार कृष्ण बलदेव वैद कहते हैं :'नामवरजी बरसों तक एक बड़े विश्वविद्यालय में विभागाध्यक्ष रहे। अगर वह चाहते और प्रयास करते तो हिंदी विभागीय जड़ता को झकझोर सकते थे, नए पाठकों और आलोचकों की एक बड़ी जमात पैदा कर सकते थे, पुस्तकालयों को आबाद कर सकते थे, लेकिन अफ़सोस कि यह सब नहीं किया।

फिर भी जो उन्होंने किया, अपनी उपस्थिति और अपने व्याख्यानों के द्वारा उसकी सराहना में मैं भी, अपने तमाम संकोचों के बावजूद, शामिल होने के लिए तैयार हूँ, लेकिन यह दोहराए बगैर नहीं रह सकता कि वह सब नामवर जी जैसी असाधारण और उत्कृष्ट प्रतिभा के लिए नाकाफ़ी है।' पृ . 125, कृष्ण बलदेव वैद, सोबतीवैद संवाद, राजकमलप्रकाशन, दिल्ली, प्रसं-2007

लेखक और पाठक की अपेक्षाएँ अपनी जगह हैं लेकिन यह कहना वाजिब नहीं होगा कि नामवर जी ने विभागीय जड़ता को नहीं झकझोरा। न केवल उन्होंने मुखर होकर विश्विद्यालीय आलोचना और साहित्यिक जड़ता पर बात की बल्कि प्रगतिशील लेखक संघ या विचारधारा के प्रभाव मात्र में रचना करने वालों को भी गुण-दोष के आधार पर परखा। बेशक अपने व्याख्यानों या साक्षात्कारों के माध्यम से ही, जो अब पुस्तकों के रूप में उपलब्ध हैं। इन पुस्तकों के प्रकाशन के बाद अब नामवर जी पर यह आक्षेप नहीं लगाया जा सकता की उन्होंने आलोचना के माध्यम से अपने हस्तक्षेप केवल व्याख्यानों तक ही सीमित रखा क्योंकि उनके व्याख्यानों पर आधारित यह पुस्तकें उनकी सहमती और निरीक्षण के बाद ही सामने आई हैं। रही बात पाठकों और आलोचकों की जमात पैदा करने की, तो इस बात से किसी को इन्कार नहीं होना चाहिये कि नामवर जी हमेशा तर्कपूर्ण दृष्टि के कायल रहे भले ही वह उनकी विचारधारा से मेल खाती हो या नहीं। 'परिमल' संस्था के विजय देव नारायण साही का उदाहरण ले लें, वह उनकी आलोचकीय दृष्टि के भी कायल थे। '....परिमल ग्रुप में वही एक आलोचक थे, जो संवाद योग्य थे। उन्होंने 'गोदान' और 'कामायनी' पर जो लिखा, वह अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। 'लघु मानव के बहाने हिंदी कविता पर बहस' एक महत्त्वपूर्ण लेख है।''हिंदी आलोचना की परंपरा', आलेख 'आलोचना और विचारधारा' पुस्तक में पृ 152

'आलोचना और विचारधारा' पुस्तक में 'हिंदी आलोचना की परंपरा', आलेख के माध्यम से हिंदी आलोचना की यात्रा में नामवरजी काशी हिंदू विश्वविद्यालय से रामचंद्र शुक्ल, हजारी प्रसाद द्विवेदी और नन्द दुलारे वाजपेयी के महत्त्व को रेखांकित करते हैं। उपन्यास की आलोचना को समृद्ध करने में राम विलास शर्मा, रामस्वरूप चतुर्वेदी, इंद्र नाथ मदान, परमानन्द श्रीवास्तव, नन्द किशोर नवल, गोपाल राय, विश्वनाथ त्रिपाठी, रामदरस मिश्र, विजय मोहन सिंह, पुष्पपाल सिंह, मैनेजर पाण्डेय, निर्मला जैन जैसे आलोचकों की लम्बी परंपरा मौजूद रही है। इनके अतिरिक्त कथाकार आलोचकों की लम्बी परंपरा रही है जिनमें निर्मल वर्मा, भीष्म साहनी, गिरिराज किशोर का योगदान रहा है।

"इस बात के कारण अलग हैं कि आलोचना की सशक्त परंपरा नामवर सिंह की मौजूदगी में क्यों नहीं विकसित हो पाई। वर्तमान में जो समीक्षा है वहाँ बहुत कुछ लेन-देन के सम्बन्ध और बाजार के गणित से तय होता रहा है कि क्या लिखा और लिखवाया जाएगा। बावजूद इसके स्वस्थ आलोचना कुछ लेखकों और संपादकों के विवेक के चलते देखने को मिल जाती है, भले ही उसके कम अनुपात में प्रकाशित होने से यह संकेत मिलता हो कि वह वर्तमान स्थितियों में कहानी और कविता के आगे नहीं चल रही बल्कि उसका अनुसरण कर रही है। ज्योतिष जोशी,बसंत त्रिपाठी, प्रियम अंकित, वैभव सिंह आदि के नाम इस क्रम में लिए जा सकते हैं।"

इस बात के कारण अलग हैं कि आलोचना की सशक्त परंपरा नामवर सिंह की मौजूदगी में क्यों नहीं विकसित हो पाई। वर्तमान में जो समीक्षा है वहाँ बहुत कुछ लेन-देन के सम्बन्ध और बाजार के गणित से तय होता रहा है कि क्या लिखा और लिखवाया जाएगा। बावजूद इसके स्वस्थ आलोचना कुछ लेखकों और संपादकों के विवेक के चलते देखने को मिल जाती है, भले ही उसके कम अनुपात में प्रकाशित होने से यह संकेत मिलता हो कि वह वर्तमान स्थितियों में कहानी और कविता के आगे नहीं चल रही बल्कि उसका अनुसरण कर रही है। ज्योतिष जोशी,बसंत त्रिपाठी, प्रियम अंकित, वैभव सिंह आदि के नाम इस क्रम में लिए जा सकते हैं। आलोचना के विकास क्रम और वर्तमान परिदृश्य का बारीकी से आकलन किये जाने से सार्थक आलोचना को रेखांकित किये जाने की ज़रूरत है। फिर जो कुछ भी आलोचना या समीक्षा की स्थिति है उसके लिए नामवर सिंह ही क्यों जिम्मेदार होंगे, यह भी तो एक वाजिब प्रश्न बनता है।

नामवरजी आशीष त्रिपाठी द्वारा सम्पादित अपनी संवादी आलोचना की पुस्तक 'आलोचना और विचारधारा' में कहते हैं 'आज जाति विमर्श, स्त्री विमर्श और सम्प्रदाय विमर्श चल रहे हैं। मुक्तिबोध ने बहुत पहले कहा था कि हम लोगों ने तो परिवार पर विचार किया ही नहीं, जो समाज का मूल आधार.. है। परिवार ही धार्मिक, सामाजिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक विचारों का निर्माण करता है। मुक्तिबोध ने कहा था कि घर के बाहर क्रांतिकारी होना बड़ा आसान है। बड़े-बड़े क्रांतिकारी जब घर के अंदर आते हैं तो दुम दबा कर सारी क्रांतिकारिता भूल जाते हैं..... ' नामवरजी आलोचक का धर्म समकालीन साहित्य की पड़ताल करना बताते हैं और मुक्तिबोध के माध्यम से परिवार नामक संस्था के महत्व को भी रेखांकित करते हैं लेकिन अपनी समकालीन लेखिका कृष्णा सोबती के रचना कर्म पर बात करना भूल जाते हैं, जिनके रचनात्मक विमर्श में परिवार ही केन्द्र में रहा है। 'मित्रो मरजानी' और 'ऐ लड़की' जैसी लम्बी कहानियों का उदाहरण लें या 'समय सरगम' और 'दिलो दानिश' जैसी परिवार नामक संस्था की खूबियों-खामियों पर बहस करने वाले उपन्यासों पर। हर जगह विमर्श में परिवार है न कि केवल नारी। नारी की स्वतंत्रता परिवार के होने में ही सोबती ढूँढ़ती हैं, जिंदगीनामा के सफर तक में यह देखा जा सकता है कि परिवार नामक इकाई को तमाम विरोधाभासों के बावजूद सोबती महत्त्व देती हैं और इस संस्था में आ चुकी दरारों को भी छुपाती नहीं हैं बल्कि उन पर जमी गर्द हटा कर साफ-साफ उन दरारों से झाँकने का अवसर पाठक को देती हैं. यहाँ वह यह सवाल भी खड़ा करती हैं कि इस संस्था का कोई ठोस विकल्प हमारी सामाजिक व्यवस्था के पास नहीं है। नामवरजी कहानी और उपन्यास को सामाजिक परिवर्तन को रेखांकित करने का सबसे महत्त्वपूर्ण औजार मानने के बावजूद कृष्णा सोबती की इन रचनाओं पर बात नहीं करते, न ही संवाद, जबकि मुक्तिबोध का हवाला देते हुए परिवार नामक संस्था को विमर्श का छूट गया मुद्दा मानते हैं। इस तरह देखें तो विरोधाभास भी हिंदी आलोचना के शिखर पुरुष नामवर सिंह के साथ जुड़े हुए हैं।

तमाम लचीलेपन के बावजूद, निर्मल वर्मा जैसे लेखक की विलक्षणता को पहचानने के बावजूद, शब्द सत्ता को महत्त्व देने वाली और परिवार को ले कर नया सामाजिक विमर्श खड़ा करने वाली लेखिका के महत्त्व की पहचान वह नहीं करते। क्या यह विरोधाभास नहीं कहा जाएगा. इस विरोधाभास की पहचान करना बहुत मुश्किल भी नहीं है। जिन कारणों से नामवर जी 'मैला आँचल' के महत्त्व को सही समय पर नहीं पहचानते लगभग वही कारण सोबती के रचनाकर्म पर बात न करने के हो सकते हैं।

यदि आलोचना एक निरंतर विमर्श है और नामवर जी इसे परंपरा मानते हैं तो उस परंपरा में हमें छूट चुकी चीजों को परखना होगा। इस रास्ते पर चलने की प्रेरणा नामवर जी स्वयं देते हैं जब वह काशीनाथसिंह को दिए गए साक्षात्कार में स्वीकार करते हैं कि 'मैला आँचल' पर उनके द्वारा बात न करना उनकी एक भूल थी।

'प्रश्न (काशीनाथसिंह)-ऐसा कोई कवि, कहानीकार या समीक्षक-जिसे समझने में चूक हुई हो आपसे ?

नामवर : फिलहाल रेणु का ही नाम याद आ रहा है, जिनके महत्त्व को समझने में देर हुई मुझसे और इस 'देर' को चूक भी कह सकते हैं।'

(काशीनाथसिंह, घर का जोगी जोगड़ा, राजकमल)

यद्यपि रेणु और कृष्णा सोबती का भाषा का मुहावरा अपनी जुदा पहचान रखता है फिर भी यथार्थ को पूरी ताकत से संप्रेषित करने में दोनों लेखक शब्द की सत्ता को महत्त्व देते हैं। उनके लेखन में संवादों के माध्यम से चरित्र उभरते हैं और उनके आस-पास का परिवेश भी। परिवेश से जुड़े हुए शब्दों से निर्मित भाषा इन लेखकों को विशिष्ट बनाती है। लेकिन जब आप विचार और कथ्य को ही प्राथमिकता देने पर उतर आते हैं तो रूपबंध आपके आड़े आ जाता है। जबकि वह उतना ही ज़रूरी है कथ्य के प्रतिफलन के लिए।

हम देख सकते हैं कि इस चूक कि भरपाई नेमिचन्द्र जैन करते नज़र आते हैं जब वह मैला आँचल' पर 'अधूरे साक्षात्कार' के माध्यम से विस्तार में बात करते हैं। कृष्णा सोबती के लेखन पर न तो नामवर सिंह ने बात की न ही नेमीचन्द्र जैन विस्तार से उसे परख सके। हालाँकि नेमिजी 'जिंदगीनामा' पर बात करना चाहते थे,लेकिन उनका 'जिंदगीनामा' से साक्षात्कार अधूरा ही रह गया.

हिंदी उपन्यास की पूरी यात्रा में आलोचना के केंद्र में बहस उपन्यास की यथार्थ आधारित वस्तु बनाम भाषा और शिल्प आधारित रूप को लेकर रही है। उपन्यास भी यथार्थ के प्रकटीकरण तथा सायास सामाजिक परिवर्तन को घटित होता दिखा देने के चलते इकहरी कथावस्तु का शिकार हुआ है। जबकि आवश्यकता वस्तु पर ज़मीनी पकड़ और शिल्प के साथ उसका सामंजस्य बैठने की थी। नामवर जी प्रभावी वस्तु पर ध्यान दिलाते हुए कहते हैं- 'गरज यह कि जिस प्रकार रूप विधान की चर्चा करते समय विषय-वस्तु की समस्याओं में उतरना अनिवार्य हो जाता है, उसी प्रकार रूप विधान के साथ विषय वस्तु के अभिन्न सम्बन्ध अथवा उसके महत्व पर जोर देना आवश्यक है। यदि बड़े से बड़ा रूपवादी भी अपनी वकालत के लिए ही सही, विषय वस्तु और 'सामाजिक आवश्यकता' का सहारा लेने के लिए बाध्य है, तो इसका साफ़ मतलब है कि रूप विधान की अपेक्षा विषय वस्तु का महत्त्व अधिक है। इसीलिए प्रगतिशील समीक्षक साहित्य में विषय वस्तु की चर्चा अधिक करते हैं और उस पर जोर भी अधिक देते हैं।' पृष्ठ21 नामवर सिंह, लेख-कलात्मक सौंदर्य का आधार, इतिहास और आलोचना, राजकमल प्रकाशन, रूप और प्रगतिशीलता-पृ-58-59

लेकिन हुआ यह कि प्रगतिशील आलोचना के

विषय वस्तु पर ही अधिक केन्द्रित हो गई और रूप के साथ वस्तु के अभिन्न संबंध को अस्वीकार करने लगी। इस दृष्टि से नामवर जी की परम्परा से और प्रगतिशील आलोचना की परम्परा अलग हो जाती है। इस कमी की भरपाई करते हुए नेमिचंद्र जैन कहते हैं- 'यह उल्लेखनीय बात है कि भाववस्तु में अपेक्षाकृत पुरानेपन अथवा सीमित अनुभूति की संकीर्णता के बावजूद, रूप की दृष्टि से आधुनिक हिंदी उपन्यास में कुछेक बड़ी सुस्पष्ट नवीनताएँ और उपलब्धियाँ दीख पड़ती हैं। निसंदेह अधिकांश उपन्यासों में रूपगत पारम्परिकता तो है ही, उसकी शिथिलता, बिखराव और आकारहीनता भी पर्याप्त है। साधारणत: हमारे उपन्यासकार, विशेषकर शीर्षस्थ लेखक, इस विषय में बड़ी लापरवाही बरतते हैं। संभवत: यह भी उनकी भाववस्तु और में तीक्ष्णता और तीव्रता के अभाव के कारण ही है ...' पृष्ठ-१७६ नेमिचंद्र जैन, अधूरे साक्षात्कार, सं . २०१२

इस तरह से देखें तो हिंदी उपन्यास की आलोचना को दोनों ही आलोचक अपनी-अपनी दृष्टि से समृद्ध करते हैं। यद्यपि उपन्यास की आलोचना पर नेमिचंद्र जैन की केवल एक ही पुस्तक उपलब्ध है लेकिन अधिक लिखे जाने से अधिक मूल्य सार्थक लिखे जाने का है, इस बात से किसे असहमति हो सकती है। आज जितनी बड़ी संख्या में साहित्यिक पत्रिकाओं का प्रकाशन हो रहा है किसी भी लेखक का कुछ भी लिखा हुआ प्रकाशित होना कोई बड़ी समस्या नहीं रह गई है। यही स्थिति आलोचना तथा समीक्षा को ले कर है। आलोचना पद्धति का व्यवहारिक ढाँचा विकसित करते हुए उपन्यास की वर्तमान स्थिति पर गंभीरता से बात करने के प्रयास कम ही नज़र आते हैं। सैद्धान्तिक आलोचना की स्थिति यह है कि वह पुराने ढर्रे पर ही अपनी बात कहने की कोशिश में नीरस, निष्क्रिय और अप्रासंगिक हो चुकी है। इसलिए यह ज़रूरी हो जाता है कि हमें नामवर सिंह द्वारा उपन्यास विधा पर की गई चर्चा और नेमिचन्द्र जैन से 'अधूरे साक्षात्कार' में मौजूद निर्मम आलोचना के माध्यम से आगे बढ़ना होगा।

'मैला आँचल' के महत्त्व पर नेमिचन्द्र जैन का कथन द्रष्टव्य है। वह किसी कृति की खूबियों को ही-रेखांकित नहीं करते बल्कि उसकी खामियों पर भी पाठक का ध्यान आकर्षित करते हैं- 'पूरा

उपन्यास एक फिल्म जैसा लगता है जिसके पार्श्व-संगीत में मादल और ढोल और लोक गीतों के मादक स्वर निरंतर सुनाई पड़ते रहते हैं। किन्तु विलक्षणता के बावजूद, शिल्प की प्रयोगात्मकता अधिक है और कोई प्रभाव टिकने नहीं पाता। एक तस्वीर बनती और मिट जाती है, फिर दूसरी बनती है और वह भी मिट जाती है। एक सीमा के बाद यह प्रक्रिया भाव सम्प्रेषण में बहुत सहायक सिद्ध नहीं होती। लगता है मानो समूचा उपन्यास अनगिनती रेखाचित्रों का पुंज हो, जो एक के बाद एक आते हैं और चले जाते हैं। कथा प्रवाह में सूत्र का अभाव लगता है ऐसा लगता है कि विभिन्न भाव एक बड़े वाद्य वृन्द के अलग-अलग वाद्य हों, जिनकी स्वर-संगति अपनी-अपनी जगह ठीक होते हुए भी उनके सम्मिलित प्रवाह में समन्वय नहीं है लगता है कुछ विवादी स्वर लग रहे हों, अथवा कुछ संवादी स्वर ध्वनियों की विविधता में कहीं खो गए हों. शायद यही कारण है कि बहुत से पाठकों को इसे पढ़ने में रोचकता का अभाव लगा। .....इस बात का विवेक बहुत आवश्यक है कि नवीनता किस सीमा के बाद संप्रेषणीयता को नष्ट करने लगती है ' पृष्ठ ४०, नेमिचंद्र जैन, अधूरे साक्षात्कार, वाणी प्र ., तृतीय संस्करण

क्या यह आवश्यक है कि नामवर सिंह या नेमिचंद्र जैन की हर स्थापना को अंतिम मान लिया जाए। यह आलोचना का धर्म नहीं है। उपन्यास में एक दृश्य का उभरना और मिट जाना ज़रूरी नहीं कि उसके प्रभाव को भी कम करे। यदि हम जीवन को देखें तो उस में भी कहाँ एक तरह की तारतम्यता और एक सूत्रता रहती है। यह ठीक है कि उपन्यास लेखन जीवन का हूबहू यथार्थ चित्रण नहीं है, कलात्मक चित्रण है, पर मैला आँचल का सूत्र, जिसकी कमी नेमीजी को खल रही है, वह सूत्र गाँव के रूप में मेरीगंज है। गाँव में कई घटनाएँ घटती हैं जो मानस पटल पर अंकित हो जाती हैं लेकिन कई घटनाएँ जो गौण जान पड़ती हैं वह कहीं न कहीं मुख्य घटनाओं को पूर्णता ही प्रदान करती हैं। विवादी स्वर और संप्रेषणीयता की नेमिजी की चिंता संभवत: भाषा के स्थानीय प्रयोग को ले कर है। जिसको लेकर वह शंकित रहे हैं-

'किन्तु जो रूप इतने स्थानीय हों कि उनको समझने के लिए पीछे दी हुई तालिका देखने की आवश्यकता पड़े, उनका प्रयोग यदि न हो तो शायद

"क्या यह आवश्यक है कि नामवर सिंह या नेमिचंद्र जैन की हर स्थापना को अंतिम मान लिया जाए। यह आलोचना का धर्म नहीं है। उपन्यास में एक दृश्य का उभरना और मिट जाना ज़रूरी नहीं कि उसके प्रभाव को भी कम करे। यदि हम जीवन को देखें तो उस में भी कहाँ एक तरह की तारतम्यता और एक सूत्रता रहती है। यह ठीक है कि उपन्यास लेखन जीवन का हूबहू यथार्थ चित्रण नहीं है, कलात्मक चित्रण है, पर मैला आँचल का सूत्र, जिसकी कमी नेमीजी को खल रही है, वह सूत्र गाँव के रूप में मेरीगंज है। गाँव में कई घटनाएँ घटती हैं जो मानस पटल पर अंकित हो जाती हैं लेकिन कई घटनाएँ जो गौण जान पड़ती हैं वह कहीं न कहीं मुख्य घटनाओं को पूर्णता ही प्रदान करती हैं।"

अधिक उपयोगी होगा।.' पृष्ठ-४९, वही। यह तर्क मैला आँचल के चर्चित और प्रतिष्ठित हो जाने के बाद बहुत प्रासंगिक नहीं रह गया है। इसलिए भी नहीं कि शब्दों के अर्थ वाक्य विन्यास में और कथावस्तु के सन्दर्भ में अपने आप स्पष्ट हो जाते हैं और जहाँ स्पष्ट नहीं होते वहाँ उनका भाव तो स्पष्ट हो ही जाता है। नेमिजी इस दृष्टि को स्वयं कवित्वपूर्ण कहते हैं। यदि यह कवित्वपूर्ण है तो कविता का लक्ष्य शब्दों के अर्थ स्पष्ट करने से नहीं बल्कि भाव व्यक्त करने से होता है। इस भावाव्यक्ति में उपन्यास की सफलता निहित है। स्वयं नेमिजी कोई नियम नहीं मानते-'वास्तव में इस प्रश्न पर कोई भी नियम बनाना असंभव है लेखक का कलात्मक बोध ही उसकी कसौटी हो सकता है।' पृष्ठ-४९, वही

और कलात्मक कसौटी के बोध के स्तर पर नेमिजी इस उपन्यास को उत्कृष्ट मानते हैं। वास्तव में नेमिजी को इस उपन्यास की विशिष्टता से कोई आपत्ति नहीं है फिर भी वह कुछ ऐसे बिंदुओं की और ध्यान दिलाते हैं जिनकी तरफ एक पूर्वग्रह मुक्त आलोचक की दृष्टि जानी ही चाहिए। जैसे इस उपन्यास का गोदान की तरह क्लासिक की ऊँचाई तक नहीं पहुँच पाना। वैसा प्रभाव नहीं पैदा कर पाना जो युगों-युगों तक उपन्यास को और उसके पात्रों को जीवित रखता है। गोदान और मैला आँचल में तुलना को लेकर भी आलोचकों के अपनी तरह के आग्रह रहे हैं। कुछ आलोचक मानते हैं कि मैला आँचल का मुख्य पात्र मेरीगंज गाँव है जिसके इर्द-गिर्द जिंदगी घूमती है लेकिन नेमिजी अपनी राय स्पष्ट करते हुए कहते हैं- '...मैला आँचल के पात्र एक युग की उपज हैं, जो जितनी तेज़ी से आते हैं उतनी ही तेज़ी से गतिचक्र में विलीन हो जाते हैं। 'गोदान' के होरी और धनिया अजंता के भित्ति चित्रों की भाँति हैं, जो सैंकड़ों वर्षों बाद भी उतने ही जीवंत और प्राणवान बने हुए हैं। क्योंकि उनकी प्रेरणा का स्रोत क्षणिक नहीं, मूलभूत और युगव्यापी है।'

आलेख के बीच में मैला आँचल पर अपेक्षाकृत लम्बी चर्चा का उद्देश्य 'गोदान' के बाद ग्रामीण पृष्ठभूमि पर लिखे गए सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण लेकिन अलग भावबोध और रूप के उपन्यास पर चर्चा करना भी था।

सत्तर के दशक के बाद देखें तो १९८० के आस-पास के दौर उपन्यास विधा में परिवर्तन के महत्त्वपूर्ण मोड़ को लक्षीय करता नज़र आता है। यह दौर सीधे-सीधे बड़े राजनैतिक परिवर्तन का दौर तो था पर उसके अनुपात में सामाजिक परिवर्तन का नहीं। आपातकाल के बाद पहली गैर कांग्रेस सरकार के आने और चले जाना से समाज के लिए खास कुछ नहीं बदला था। जनता का शोषण और पूँजीवाद का पोषण करने वाला ढाँचा जस का तस था। भूमंडलीकरण की अवधारणा अभी पनपने में अभी देर थी। इस तरह से जन आकांक्षाओं के उभरने और ढह जाने का दौर था यह। जन आकांक्षाएँ हमेशा व्यवस्था परिवर्तन से जुड़ी होती हैं। विडम्बना ही थी कि सरकार बदली थी पर राजनीति का ढाँचा नहीं बदला था। पूंजीवादी शोषण, गरीबी हटाने के राजनैतिक नारे वैसे ही थे और आम जनता की बदहाली भी वैसी ही। इस दृष्टि से सपनों को देखने और उनके टूट जाने का दौर था यह।

यह ज़रूरी नहीं कि कोई भी लेखक अपने समय को तत्काल रचनात्मक अभिव्यक्ति दे दे। उसे अपने समय की गहरी पड़ताल करने और खासकर अनासक्त भाव से उसे देखने में समय लग जाता है। इस तथ्य को हम कुछ उदाहरणों के माध्यम से समझ सकते हैं। सन १९७३ में प्रकाशित हुआ

था भीष्म साहनी का 'तमस' जिसका जिक्र आलेख में हो चुका है और १९८० से एक वर्ष पीछे जाएँ तो १९७९ में प्रयोगशीलता के लिए जानी जाने वाली लेखिका कृष्णा सोबती का उपन्यास 'जिंदगीनामा' सामने आया। हालाँकि इस उपन्यास का कथ्य बीसवीं शताब्दी के शुरूआती दशकों में फैला हुआ था पर भारत जैसे महादेश में साप्रदायिकता की जड़ों तक पहुँचने की दृष्टि से यह एक सराहनीय प्रयास था। सांप्रदायिकता का मुद्दा आज भी देश में उतना ही प्रासंगिक और पेचीदा है जितना विभाजन और उसके बाद था। हाल ही में उत्तरप्रदेश में घटी घटनाएँ इस तथ्य की साक्षी हैं। इसलिए 'जिंदगीनामा' जैसे महत्त्वपूर्ण उपन्यास के कथ्य को हम पिछली सदी के कालखंड तक ही सीमित नहीं रख सकते। दूसरी बात जो महत्त्वपूर्ण है वह है उपन्यास के रूप में 'जिंदगीनामा' का अद्भुत शिल्प। यह उपन्यास का एक नया शैल्पिक ढाँचा था जो नए रूपबंध में देश विभाजन के कारणों और साम्प्रदायिकता के कारकों की पहचान करने के लिए इतिहास की उन परतों को उघाड़ पा रहा था जो अब तक अनदेखी रह गई थीं। इस उपन्यास के माध्यम से यह पड़ताल सिर्फ समाज में विभिन्न धार्मिक समुदायों के विश्वासों की भिन्नता से नहीं जुड़ी थी बल्कि धर्म के आधार पर आर्थिक विषमता का गहरा होना भी एक बड़ा कारण था जिससे वैमनस्य के अंकुर पैदा हुए। इस तरह देखें तो सामयिक घटनाओं से कोई सीधा सरोकार न होते हुए भी १९८० के बाद हिंदी उपन्यास की परम्परा में 'जिंदगीनामा' के महत्त्व को नकारा नहीं जा सकता। कहना ज़रूरी है कि इस तरह के प्रयोग किसी भी कला विधा में परवर्ती लेखकों का मार्ग प्रशस्त करते हैं और पाठक की अभिरुचि को भी विस्तार प्रदान करते हैं।

कवि के रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त कर चुके लेखक विनोद कुमार शुक्ल का पहला उपन्यास 'नौकर की कमीज़' भी १९७९ में ही प्रकाशित हुआ था। यह उपन्यास भारत देश के निम्नमध्यमवर्गीय क्लर्क संतू बाबू के माध्यम से वर्गीय जीवन की बारीक से बारीक दरारों के भीतर झाँकता है। यहाँ भी यह कहना ज़रूरी है कि उपन्यास में कहे गए से अधिक अनकहे को संप्रेषित करने वाली यह दरारें उसके अद्भुत शिल्प तथा उपन्यास के रूपबंध के कारण बन पाई हैं। एक साथ यथार्थ, स्वप्न और प्रति यथार्थ इस उपन्यास की बुनावट में मौजूद है। सभी कारक इस तरह घुल मिल गए हैं कि कथ्य में शामिल घटनाएँ, यथार्थ को तीव्रता से उद्घाटित करते स्वप्न और संकेतात्मक घटनाएँ एक दूसरे में गूँथी नज़र आती हैं।

शोषण के कारगर तरीके ऊपर से नीचे तक अपनी प्रकृति में एक से हैं। एक ही तरह के शोषण का अप्रत्यक्ष तरीका जो अंग्रेज़ों की गुलामी के समय से ही चला आ रहा है। जो अपने मातहतों को अपना व्यक्तिगत अनुचर समझता है। सम्पन्न लोगों और नौकरशाहों के लिए यह स्वाभाविक और लगभग वैध तरीका है। शोषित वर्ग भी इस प्रक्रिया में स्वाभाविक रूप से शामिल हो जाता है। चेहरे बदल जाते हैं पर फ्रेम वही रहता है। उस फ्रेम में आप किसी को भी फिट कर दें। ऐसी ही फ्रेम है 'नौकर की कमीज़' भी। एक रूपक की तरह। जिस में संतू बाबू और उनके जैसे किसी भी व्यक्ति को फिट किया जा सकता है।

ऐसे ही नयेपन से लैस मनोहर श्याम जोशी का 'कसप' १९८२ में प्रकाशित हुआ। यह उपन्यास शिल्प की नई इबारत लिखते हुए प्रेम कहानी के माध्यम से मध्यवर्गीय जीवन की नई गुत्थियाँ सुलझा रहा था। वाचिक शब्द का प्रयोग कृष्णा सोबती की तरह जोशी भी करते हैं पर दोनों का मुहावरा अलग है। मनोहर श्याम जोशी की खूबी यह है कि वह उपन्यास में कई स्तरों पर एक साथ काम करते हैं और अल्हड़पने में गहरा बौद्धिक संवाद करते हैं। इसीलिए उनके उपन्यासों में मौजूद दार्शनिकता बोझिल नहीं हो पाती।

स्पष्ट है कि उपन्यास विधा के उत्तरोत्तर विकास के दौर को चिन्हित करने के लिहाज से भी अस्सी के आस पास के इन तीनों उपन्यासों के सामने आने के चलते यह कालखंड महत्त्वपूर्ण हो जाता है। अलग-अलग पृष्ठभूमि को ले कर लिखे गए यह उपन्यास आगे के बेहतर भविष्य की गवाही दे रहे थे तथा आगे के उपन्यासकार को क्षितिज के उसपार देखने के लिए आमंत्रित कर रहे थे। देखा जाए तो कथ्य और शैली की दृष्टि से इन उपन्यासों में कोई साम्य नहीं ठहरता। यदि किसी एक बिंदु पर समानता देखी जा सकती है तो वह है कथ्य को प्रस्तुत करने के शिल्प में नयापन। यानी उपन्यास का नवीन रूपबंध। आज नए रूपबंध की बात कर रहे हैं तो यह महत्त्वपूर्ण है कि हमें 'कलावाद' और 'प्रगतिशील' जैसे जड़ विशेषणों से मुक्त होना होगा। क्योंकि इस तरह के विशेषण पूर्वाग्रहों, और जड़ मानसिकता को बल दे कर नए पाठकों और लेखकों के लिए भ्रम की स्थिति रचते हैं। स्वभाव से प्रगतिशील होना हर लेखक के लिए ज़रूरी है, यदि वह मानवता और समाज में अपने सर्जनात्मक हस्तक्षेप के माध्यम से कुछ रचनात्मक योगदान करना चाहता है। लेखक यदि यह कार्य एक कला माध्यम को अपना कर कर रहा है तो वह शिल्पगत विविधता या नवीनता से स्वयं को अलग नहीं कर सकता। कथ्य को भी नवीन दृष्टि से देखने के लिए आपको नए शिल्प की ज़रूरत होती है। इसे थोड़ा और स्पष्ट करें तो कहना होगा कि बेहतर शिल्प के माध्यम से लेखक पात्रों और परिवेश में जबरदस्त सामंजस्य बैठते हुए उस सत्य का संधान कर पाता है जो उससे पहले अदृश्य था।

यह सच है कि आज आलोचना की स्थिति प्रचार-प्रसार पर आधारित महिमामंडन की समीक्षा के चलते दयनीय हुई है। यह ठीक है कि किताब पढ़ने में वक्त अधिक लगता है पर इतना भी नहीं कि समीक्षक किताब दबा कर ही बैठ जाए या फिर बिना पढ़े फ्लैप और दूसरों की राय में अपनी राय जोड़ कर अपने दायित्व की इति श्री समझे। इस समस्या का भी अचूक इलाज कई लेखकों ने ढूँढ़ लिया है। लिखी-लिखाई समीक्षा पत्रिका या अख़बार को मेल कर देने से काम आसान हो जाता है, साथ में किताब का कवर पेज स्कैन करके भेज दिया, किताब भेजने के खर्चे से भी बचे। संपादक की भी समस्या ख़त्म, वह भी कहाँ-कहाँ से ढूँढ़ कर इतनी किताबों के लिए समीक्षक लाएगा।

बेहतर किताब पर भी कई बार ठीक तरीके से लिखा नहीं जाता और बाकी की कथा से तो हर कोई वाकिफ है ही। अपवाद के स्तर पर सच्ची समीक्षा को प्रोत्साहित करने वाले संपादक कम रह गए हैं। किताब की लोकप्रियता और विश्वसनीयता का पता लगने में समय लगता है। ऐसे समय में कुछ गंभीर प्रयास जो हो रहे हैं, उनका स्वागत होना चाहिए और हमें अपने समय के बड़े आलोचकों द्वारा बनाई गई राह पर अपने विवेक का इस्तेमाल करते हुए आगे बढ़ना चाहिए।

१९८० के बाद इस तरह के उपन्यासों में सुरेन्द्र वर्मा का साहित्य अकादमी पुरस्कृत 'मुझे चाँद चाहिए', विकास कुमार झा का इंदु वर्मा सम्मान से

सम्मानित 'मैक्सलुक्सीगंज' और कुछ घोषित रूप से चर्चित उपन्यासों मनोज कुमार सिंह का 'हास्टल के पन्नों से' और एस . आर . हरनोट के 'हिडिम्ब' के नाम लिए जा सकते हैं। अपने शिथिल शिल्पगत ढाँचे और प्रामाणिकता के स्तर पर अपरिपक्व घटनाओं के चलते यह उपन्यास कोई गहरा प्रभाव नहीं छोड़ पाते। इसलिए केवल पुरस्कृत होना या चर्चित होना ही उत्कृष्टता की कसौटी नहीं हो सकता। चर्चित की ही यदि बात की जाए तो इसी दौर में तसलीमा नसरीन के 'लज्जा' के हिंदी संस्करण से अधिक चर्चित कौन सा उपन्यास रहा होगा। लेकिन लचर कथावस्तु और शिल्प वाले इस उपन्यास को साहित्य की दुनिया में आज आप कहाँ स्थान दे पाते हैं। उदाहरण और भी बहुतेरे हो सकते हैं।

स्वयं प्रकाश मध्यवर्गीय जीवन की विडम्बनाओं को चित्रित करने वाले महत्त्वपूर्ण कथाकार हैं। इनका 'बीच में विनय' साम्यवादी आन्दोलन के अंतर्विरोधों को परखने वाला उपन्यास है जो १९९४ में प्रकाशित हो कर सामने आया। यह दौर वैश्वीकरण की उठान तथा साम्यवादी विचारधारा के उतार का समय था। उपन्यास में कथ्य की प्रमाणिकता के निर्वहन हेतु उपयुक्त कथा ढाँचे में यह उपन्यास नहीं ढल पाया। स्वयं प्रकाश जैसे समर्थ रचनाकार ईमानदारी से इस तथ्य को स्वीकारते हैं। उपन्यास की भूमिका में बहुत ईमानदारी से लिखते भी हैं- 'अंतत: यह वह रचना नहीं है जो मैं लिखना चाहता था। यह उसकी तैयारी है। हमें अपनी महागाथा लिखने के लिए एक नये रूपबंध की आवश्यकता है, जो मुमकिन है ऐसी कोशिशों से हाथ लगे।'

इसी दिशा में नए-नए प्रयोग करता हुआ हिंदी उपन्यास आगे बढ़ रहा है। कृष्णा सोबती का 'दिलो दानिश' (१९९३) तथा 'समय सरगम' (२०००) भिन्न कालखंडों तथा मानवीय प्रवृत्तियों को जीवंत करने वाले उपन्यास हैं। 'दिलो दानिश' भले ही दिल्ली की आज़ादी से पहले की पृष्ठभूमि में लिखा गया उपन्यास है पर महक बानो के रूप में स्त्री अस्मिता के संघर्ष का अनूठा दस्तावेज़ भी है। दूसरी ओर 'समय सरगम' महानगरीय जीवन की समसामयिक समस्याओं से जूझता हुआ वैश्विक चिताओं को भी संबोधित करता है। इधर मैत्रेयी पुष्पा 'चाक', 'इदन्नमम' (१९९४) तथा 'अल्मा कबूतरी' (२०००) जैसे उपन्यासों के माध्यम से उन्प्न्यास की उस धारा को समृद्ध करती हैं जिसने

ग्रामीण परिवेश और वहाँ की भाषा के सर्जनात्मक प्रयोग से उपन्यास को मात्र मध्यवर्ग की पहचान बन जाने से बचाए रखा है। वह हिंदी उपन्यास को उस पहचान से जोड़ती हैं जो फणीश्वर नाथ रेणु ने कथा साहित्य में विकसित की थी। यह परिवेशगत पहचान आपको २०१० में प्रकाशित विकास कुमार झा के 'मैक्लुक्सिगंज' में भी नज़र आएगी पर उतनी गहरी नहीं जितनी मैत्रेयी के उपन्यासों में। जबकि यह उपन्यास राँची के पास बसे एंग्लो इन्डियन गाँव को केंद्र में रख कर लिखा गया वृहद् उपन्यास है।

सन २००१ में प्रकाशित हुआ था मनोहर श्याम जोशी का 'क्याप' और २००२ में पुस्तकाकार प्रकाशित हुआ काशीनाथ सिंह का 'काशी का अस्सी'। दोनों उपन्यासों की पृष्ठभूमि में कोई साम्य न होते हुए भी एक स्तर पर समानता है, वह है गल्प या 'गप्प' शैली में उपन्यास को ढालने की, यद्यपि दोनों ही समर्थ उपन्यासकारों ने अपने-अपने तरीके से इस शैली का दोहन करने उपन्यास का अपना-अपना रूपबंध गढ़ा है। भाषा का संस्कार दोनों जगह अलग-अलग है। खासकर 'काशी का अस्सी' में कुछ भाषिक मुहावरे ऐसे हैं जो उस परिवेश से बाहर वालों के लिए गाली गलौच हो सकते हैं।

सवाल यह पैदा होता है कि साहित्य में भाषा के स्तर पर क्या वर्जित है और क्या नहीं। यह सवाल बहुत पेचीदा है और रचना को पूर्णता में जाने बिना केवल शब्दों के प्रयोग पर बहस करने से किसी नतीजे पर नहीं पहुँचा जा सकता। रचना के परिवेश की भी अपनी माँग होती है। पात्रों का चरित्र उनके द्वारा बोले जाने वाले संवादों से उद्घाटित होता है। इस स्थिति में रचनाकार का विवेक और साहस ही सही भाषा के प्रयोग का पैमाना निर्धारित करता है और प्रतिक्रिया के लिए पाठक और आलोचक के लिए खुला छोड़ देता है। समस्या तब आती है जब पूरे पाठ में जाए बिना प्रतिक्रियाएँ आने लगती हैं और केवल विवाद के लिए विवाद खड़ा किया जाता है। कृष्ण बलदेव के उपन्यास तथा हिन्दी अकादमी के शलाका सम्मान से जुड़ा विवाद कुछ ऐसा ही था। रचना में कहीं से उठा लिए गए चार शब्दों को किसी तर्क के लिए प्रयोग में नहीं लाया जा सकता बल्कि उसे पूरे संदर्भ से जोड़ कर देखने की आवश्यकता होती है।

किसी रचना में ग्रामीण परिवेश और देशज शब्दों का प्रयोग देख कर उसे आंचलिक घोषित कर देने का आग्रह आलोचना में लंबे समय तक रहा। संपूर्णता में रचना वह प्रभाव पैदा करती भी है या नहीं यह देखने की आवश्यकता नहीं समझी जाती। यानी रचना को ऊपरी तौर से देख कर फतवा जारी कर देना रचना तथा रचनाकार के साथ ही नहीं बल्कि रचना के पाठक के साथ भी अन्याय करना होता है। फिर वह चाहे वह कृष्णा सोबती का 'जिंदगीनामा' हो, कृष्ण बलदेव वैद हों या फिर काशीनाथ सिंह का 'काशी का अस्सी 'गालियों को बोलचाल में प्रयोग करने वाले परिवेश का अपना समाजशास्त्र होता है, जिसके हिंदी भाषी क्षेत्रों में नाना रूप मिल जाएँगे। अन्य भाषाओं में भी निश्चित रूप से होंगे जिसकी जानकारी मुझे नहीं है। ऐसे भाषिक मुहावरों का प्रयोग रचना को कितना समर्थ तथा प्रामाणिक बनाता है यह जानना ज़रूरी होता है।

कृष्णा सोबती, कृष्ण बलदेव वैद और काशी नाथ सिंह को भाषागत प्रयोगों की विविधता में परखना रुचिकर है। बात यह नहीं है कि पुरुष संसार को रचने वाली भाषा यही है बात यह है कि पुरुष संसार में प्रयुक्त होने वाली भाषा यह भी है और यदि परिवेश की माँग है तो उसे साहित्य में आना ही चाहिए वर्ना यथार्थ का रूप अधूरा रह जाएगा। कुछ पात्रों का चरित्र उनकी भाषा से ही

प्रकट होता है। और फिर 'काशी का अस्सी' तो बनारस का वह इलाका है जो अपने आप में एक चरित्र है। उस परिवेश को सम्पूर्णता में उभारने के लिए काशीनाथ सिंह जिन पात्रों को रचते हैं उनके नाम तक वास्तविक हैं। भले ही यह उपन्यास संस्मरण के रूप में 'हंस' में धारावाहिक प्रकाशित हुआ हो इसे उपन्यास के रूप में स्वीकार करने में कोई हिचक नहीं होनी चाहिए। २००२ में उपन्यास के रूप में प्रकाशित होने के बाद २०११ तक इसकी चार आवृत्तियाँ हो चुकी हैं। यह उपन्यास के रूप में इस कृति की स्वीकार्यता का प्रमाण है।

यहाँ यह भी कहना ज़रूरी है कि किसी उपन्यास के पाठकों या संस्करणों की संख्या ही केवल उसकी उत्कृष्टता का पैमाना नहीं हो सकती। इसके लिए कलात्मक विशिष्टता का होना भी आवश्यक है। कई बार कथ्य की नवीनता या विचित्र परिवेश को पाठकों के सामने प्रस्तुत कर देने भर का आग्रह या फिर किसी समसामयिक घटना या परिवर्तन को तत्परता से पाठक के सामने प्रस्तुत कर देने की आतुरता से कोई रचना चर्चा में आ सकती है। उसे पढ़ने वाले पाठकों की संख्या भी बढ़ सकती है। २०११ में ही मनोज कुमार सिंह का उपन्यास 'हास्टल के पन्नों से' प्रकाशित हुआ। यह उपन्यास चर्चा में आया और सराहा भी गया। छात्र जीवन के अनुभवों को समकालीन राजनैतिक और सामाजिक परिदृश्य से जोड़ने के उपक्रम में लिखा गया यह उपन्यास घटनाओं का का स्थूल वर्णन प्रस्तुत करता है तथा कहीं भी पाठकीय संवेदना से गहराई से जुड़ नहीं पाता। पूर्व छात्रों को अपने समय की याद दिलाता हुआ गुदगुदाता ज़रूर है। आलोचना जिस संकट के समय से गुज़र रही है उसी का नतीजा है कि वह कथा साहित्य के पीछे चल रही है न कि आगे। ऐसे में कोई भी कृति विलक्षण घोषित हो सकती है। छात्र जीवन के ऐसे अनुभवों पर लिखी गई बेहतर रचना पर बात करनी हो तो उदय प्रकाश की औपन्यासिक तत्वों को समेट कर चलने वाली लम्बी कहानी 'पीली छतरी वाली लड़की' की बात होनी चाहिए। छात्र जीवन से जुड़े अनुभवों के माध्यम से गहन अनुभति पैदा कर सकने वाली यह रचना लम्बी कहानी के रूपबंध में प्रकाशित हुई थी इसलिए उदय प्रकाश की चर्चा उपन्यास पर आधारित इस लेख में आगे नहीं बढ़ पाएगी। फिर भी स्वयं प्रकाश का हवाला दे कर कहना चाहूँगा कि यह इस देश की महागाथा लिखी जा सकने की सम्भावना की भूमिका के रूप में ऐसे प्रयासों का ज़िक्र ज़रूरी हो जाता है।

गीतांजली श्री माई (१९९३), हमारा शहर उस बरस (१९९८) तथा 'तिरोहित' जैसे उपन्यासों के माध्यम से सार्थक रचनात्मक हस्तक्षेप के लिए जानी जाती हैं। माई केवल मध्यवर्गीय जीवन में पीढ़ियों की सोच के अंतर को अभिव्यक्त नहीं करता बल्कि स्त्री के रूप में माँ के चरित्र को एक नई गहराई प्रदान करता है। जिसमें से माँ-बेटे और माँ बेटी के संबंधों के जटिल से जटिल तार खुलते चले जाते हैं। 'हमारा शहर उस बरस' साम्प्रदायिकता जैसी जटिल अवधारणा को दहशत में साँस लेते हुए शहर के माध्यम से परत दर परत स्पष्ट करता है। कमलेश्वर का 'कितने पाकिस्तान (२००१) निश्चित रूप इतिहास और वर्तमान में सामंजस्य स्थापित करता हुआ साम्प्रदायिकता की समस्या की जड़ों में झाँकने वाला साहित्य अकादमी पुरस्कार से सम्मानित महत्त्वपूर्ण उपन्यास है। इस प्रकार साम्प्रदायिकता और भूमंडलीकरण के भारतीय मानस

"हमारे देश में वैश्विक अर्थव्यवस्था परिवर्तन के प्रभाव कुछ इस तरह आए कि शुरुआती दौर में लोग इसके प्रवाह की गति का अंदाजा ही नहीं लगा पाए। लोग गाँव से बाहर आ कर शहर में बसते थे। यह सोच कर कि उनकी अगली पीढ़ी पढ़-लिख कर आगे निकले पर नई पीढ़ी थी कि उस शहर को फलाँग कर कहीं और आगे निकल जाती थी। पुरानी पीढ़ी न रही घर की और न रही घाट की। यानी न गाँव की और न शहर की। गाँव की कृषि आधारित व्यवस्था का स्वरूप भी बदला और मानवीय मूल्य भी। नीची जाति के हलवाहों ने ऊँची जाति के कृषकों की जमीन पर औनी-पौनी दरों पर काम करने से माना कर दिया। उन्होंने ऊँची जाति के बर्चस्व के आगे झुकने से माना कर दिया। भू माफिया ने शहर से ले कर गाँव तक पाँव पसार दिये। दिशाहीन नई पीढ़ी के लिए सफलता का नया मंत्र पैसा कमाना था। किसी भी तरीके से।"

प्रभाव अस्सी के बाद के उपन्यास में किसी न किसी रूप में मौजूद हैं।

सन २००८ में प्रकाशित साहित्य अकादमी पुरस्कार से सम्मानित काशी नाथ सिंह के उपन्यास 'रेहन पर रग्घू' को बदलते ग्रामीण भारत की तस्वीर के महत्वपूर्ण दस्तावेजके रूप में देखा जाना चाहिए। हमारे देश में वैश्विक अर्थव्यवस्था परिवर्तन के प्रभाव कुछ इस तरह आए कि शुरुआती दौर में लोग इसके प्रवाह की गति का अंदाजा ही नहीं लगा पाए। लोग गाँव से बाहर आ कर शहर में बसते थे। यह सोच कर कि उनकी अगली पीढ़ी पढ़-लिख कर आगे निकले पर नई पीढ़ी थी कि उस शहर को फलाँग कर कहीं और आगे निकल जाती थी। पुरानी पीढ़ी न रही घर की और न रही घाट की। यानी न गाँव की और न शहर की। गाँव की कृषि आधारित व्यवस्था का स्वरूप भी बदला और मानवीय मूल्य भी। नीची जाति के हलवाहों ने ऊँची जाति के कृषकों की जमीन पर औनी-पौनी दरों पर काम करने से माना कर दिया। उन्होंने ऊँची जाति के बर्चस्व के आगे झुकने से माना कर दिया। भू माफिया ने शहर से ले कर गाँव तक पाँव पसार दिये। दिशाहीन नई पीढ़ी के लिए सफलता का नया मंत्र पैसा कमाना था। किसी भी तरीके से। इस परिवर्तन का दौर अंततः समाज को किस ओर ले जाने वाला है, इसका आभास भी उपन्यास में मिल जाता है।

मनुष्य और पूँजी के परस्पर द्वंद्वात्मक संबंधों की पहचान करनी हो तो बात अलका सरावगी के उपन्यास 'कलिकथा बाईपास' के बिना पूरी नहीं होगी। भूत, वर्तमान और भविष्य में आवाजाही के लिए जिस रूपबंध का विकास उन्होंने किया है वह बड़ी उम्मीद जगाता है। यहाँ उपन्यासकारों की ओर से किसी निर्णय पर सायास पहुँचने का प्रयास नहीं किया गया है। जीवन दर्शन जहाँ कहीं भी है उपन्यास के कहानीपन से बाहर नहीं है।

इस दृष्टि से हिंदी उपन्यास की समृद्ध परम्परा में दोनों ही तरह के रचनाकार सक्रिय रहे हैं। एक तो वह जो कथ्य के तौर पर उठाई गई चिंताओं को ही महत्त्वपूर्ण मानते हैं तथा उनके लिए उपयुक्त और प्रामाणिक शिल्पगत आग्रह का महत्त्व नहीं

होता। बस वैचारिक लड़ाई को उपन्यास के बने-बनाये रूप बंध में उतार देना उनके लिए काफी होता है। दूसरी तरह के उपन्यासकार के लिए वह रूप बंध भी उतना ही महत्त्वपूर्ण होता जो उनके विचारों, सामाजिक सरोकारों को पूरी त्वरा, गहराई और उद्वेलन से संप्रेषित कर पाए।

प्रियंवद का उपन्यास 'धर्म स्थल' (२०११) पढ़ते हुए नामवर सिंह की वह उक्ति याद आई जिस में कहानी के नयेपन पर बात करते हुए वह वस्तु और कला के अंतर्गुम्फित रचाव को कहानी का ज़रूरी तत्त्व मान रहे थे। आज के दौर की कहानी, लंबी कहानी तथा उपन्यास में इस तरह का कलात्मक रचाव जब भी देखने को मिलता है तो नएपन का अहसास दिलाता है। यह नयापन कथा साहित्य को जिलाए रखने के लिए जरूरी है। 'धर्मस्थल' हमारी न्याय प्रणाली एवं व्यवस्था के स्वरूप पर सवाल खड़े करता है। दूसरे शब्दों में कहें तो कचहरी ही मुख्य पात्र है। जैसे कि 'जिंदगीनामा' में ग्रामीण जीवन की चौपाल किसी भी पात्र पर हावी हो जाती है। जैसे कि 'काशी का अस्सी' में अस्सी का चौराहा ही मुख्य पात्र जान पड़ता है। हर छोटे-बड़े पात्र का नाता दृश्य या अदृश्य रूप से कचहरी के वातावरण से जुड़ा हुआ है। इसी वातावरण में समाज के अभावग्रस्त तथा सम्पन्न वर्ग के बीच बढ़ती खाई से समाज में आ रही विसंगतियों के मूल कारणों को समझने का मौका भी मिलता है। यह उपन्यास लोकतंत्र की जड़ों में लग चुकी दीमक की ओर ध्यान खींचता है। इस दृष्टि से यह एक महत्त्वपूर्ण उपन्यास है. कथा साहित्य में भारतीय उपन्यास को अभी और यात्रा तय करनी है, प्रियंवद जैसे रचनाकारों का रचनात्मक हस्तक्षेप इस दृष्टि से आश्वस्त करता है।

एक बेहतर उपन्यास रचे जाने के लिए कथ्य की नवीनता के साथ-साथ उस कथ्य को नया बनाने वाली दृष्टि की नवीनता भी आवश्यक है। उपन्यास के पाठक का स्वभाव है नयापन ढूँढ़ना। यही नयापन जब विशिष्ठ रूप में सामने आता है तो एक महत्त्वपूर्ण उपन्यास का सृजन होता है। मनीषा कुलश्रेष्ठ का उपन्यास 'शिगाफ' २०१० में प्रकाशित हुआ। इस नयेपन के पैमाने पर यह उपन्यास भी काफी कुछ खरा उतरता है।

परंपरागत औपन्यासिक ढाँचे में भी बेहतर उपन्यास नहीं लिखे जा सकते हैं, लेकिन उनकी अपनी एक सीमा होती है। ज़रूरी है कथ्य का प्रमाणिकता से निर्वाह करना और परिवेश के अनुकूल भाषा संसार खड़ा करना, जो पठनीयता बनाये रखे। यहाँ ब्यौरों को शिथिलता से बचा कर उपन्यास में रोचकता का भाव जगाये रखना एक चुनौती होती है। इस ढाँचे में उपन्यास को आगे बढ़ाने की कुछ सीमाएँ तो रहती ही हैं क्योंकि उपन्यासकार को पहले से मौजूद ढाँचे में अपनी बात कहनी है। समर्थ उपन्यासकार उस ढाँचे को भी उपन्यास की ज़रूरत के अनुसार लचीला बना लेता है।

परंपरागत औपन्यासिक ढाँचे पर खड़े संजीव के उपन्यासों 'जंगल जहाँ शुरू होता है' २०००, तथा २०११ में प्रकाशित 'रह गईं दिशाएँ इसी पार' के माध्यम से बात स्पष्ट की जा सकती है। कई बार यह होता है कि कथ्य के नयेपन के नाम पर किसी विचित्र लोक या घटनाओं का वर्णन हमें कुछ समय के लिए अभिभूत कर देता है। एस आर हरनोट के उपन्यास 'हिडिम्ब' का उल्लेख भी इस सन्दर्भ में किया जा सकता है। सवाल यह है कि कथ्य के तौर पर पाठक को एक नए लोक में प्रवेश कराना वास्तव में किसी उपन्यास या कहानी को विशेष बना सकता है। यह तभी संभव है जब ऐसे कथ्य को उपन्यास के रूप में गढ़ने वाली भाषा का ट्रीटमेंट उस लोक को पाठक के लिए रोचक भी बनाए और प्रामाणिक भी। पाठक तक कथ्य का प्रामाणिक हो कर संप्रेषित होना आवश्यक होता है। 'हिडिम्ब' यह नहीं कर पाता और १९९६ सुरेन्द्र वर्मा- मुझे चाँद चाहिये भी पुरस्कृत होने के बावजूद प्रामाणिकता के पैमाने पर खरा नहीं उतरता। वहीं हृदयेश (चार दरवेश, २०११), जितेन ठाकुर (नीलधारा-२०११), सूर्यनाथ (चलती चाकी २०१३) जैसे कम चर्चित उपन्यास अधिक प्रामाणिक जान पड़ते हैं। भले ही इन उपन्यासों का कैनवास अधिक व्यापक नहीं है पर महत्त्व उन प्रश्नों का भी होता है जो किसी उपन्यास के माध्यम से पाठक के सामने आ खड़े होते हैं। गिरिराज किशोर का महत्त्व अपने उपन्यासों में रोचकता के तत्त्व को प्रभावी बनाये रखने की दृष्टि से अपनी जगह है। यानी पुरस्कृत होना और न होना उपन्यास की श्रेष्ठता का पैमाना नहीं हो सकता।

यानी परंपरागत रूपबंध में लिखे जाने वाले उपन्यासों में भी साफ़-साफ़ दो श्रेणियाँ बनती हैं। कुछ तरह के उपन्यास ज़रूरी मुद्दों की चर्चा को रोचक और प्रामाणिक तरीके से प्रचलित रूपबंध में ढल देते हैं और कुछ उसी रूपबंध को और जर्जर स्थिति में पहुँचा देते हैं। अमरकांत जैसे विलक्षण कथाकार जब यह कार्य 'इन्ही हथियारों से' के माध्यम से करते हैं तो प्रचलित रूपबंध को और ज़्यादा तराशते हैं। यहाँ उदाहरण के तौर पर थोडा विस्तार से संजीव के उपन्यास 'रह गईं दिशाएँ इसी पार' पर बात की जा रही है।

'रह जाएँगी दिशाएँ इस पार' हिन्दी का पहला प्रायोगिक साइंस फिक्शन कहा जा सकता है जो एक नई दुनिया को कथा के ढाँचे में ढाल कर पाठक तक रोचक एवं प्रामाणिक दस्तावेज के रूप में प्रस्तुत करता है। यह उपन्यास मनुष्य की उत्पत्ति के रहस्यों और जीवन के शाश्वत प्रश्नों से जूझता है। पूंजी और बाजार को संचलित करने वाली बहुरूपिया ताक़तें विज्ञान की ताकत को निजी स्वार्थों हेतु प्रयोग करने के लिए किस-किस रूप में मौजूद हैं यह दिखाने का उपक्रम उपन्यास के कैनवास को और बड़ा करता है। जैसा कि संजीव ने शुरू में बताया ही है कि यह एक शोधपरक उपन्यास है। ऐसी कृति रचने के कई ख़तरे भी होते हैं, कि कहीं 'शोध' उपन्यास के कथा के रस पर हावी न हो जाए। संजीव ने उपन्यास में बखूबी इस संतुलन को बनाए रखा है। लेकिन वह उपन्यास के प्रचलित ढाँचे में ही व्यापक कथ्य को पिरोने का प्रयास करते हैं। यह प्रयास तात्कालिक रूप से प्रभावित तो करता है पर यह कसक भी छोड़ जाता है कि यदि अनुकूल रूपबंध इस उपन्यास को मिलता तो इसका महत्व कुछ और ही होता।

दरअसल, लेखक जिस वस्तु का चयन करता है उनसे उसे शैली का गहरा रिश्ता स्थापित करना होता है। तब ऐसे शिल्प को जीने की, सामने लाने की छटपटाहट रहती है जो शब्द की ताकत को सामने ला सके। हमारे बहुभाषी देश में हिंदी के नाना रूप मौजूद हैं। उपन्यास में हिंदी भिन्न-भिन्न रूपों में स्वयं को व्यक्त करती आई है. इस भाषा के रूपों की अपनी एक अलग दुनिया है, अलग सत्ता है।

इन लोगों से जुड़े कथानक को नए शिल्प में बाँधने के लिए वाचिक शब्द से युक्त शैली का प्रयोग लेखक कर रहे हैं यही अस्सी के दशक से पहले और बाद के उपन्यास की मुख्य विशेषता है। ❐

आलोचना की विश्वसनीयता का संकट

उमेश चौहान

आजकल कहानी की आलोचना कुछ इस तर्ज़ पर होने लगी है जैसे अख़बारों में प्रायोजित समाचार छपते हैं। कहानीकार का नाम देखकर कहानी की श्रेष्ठता अथवा उसकी बुराई का पैमाना आलोचक तय कर लेता है। अमुक को प्रोमोट करना है, अमुक को बेहतरीन लेखक बताना है, अमुक को घटिया सिद्ध करना है, अमुक के लेखन को अश्लील और बेकार की फैन्टसी बताना है, यही ऐसी आलोचना का उद्देश्य बना हुआ है। इसका अर्थ यह नहीं कि नई पीढ़ी अच्छी व सार्थक तथा यथार्थ की ज़मीन पर टिकी हुई कहानियाँ नहीं लिख रही है। नए कथाकार समकालीन राजनीतिक, सामाजिक व सांस्कृतिक सरोकारों से बराबर रू-ब-रू हो रहे हैं, भाषा और शिल्प के नए पड़ाव तलाश रहे हैं और निरन्तर यथार्थ की नई ज़मीन से टकरा रहे हैं। लेकिन हिन्दी के नामचीन आलोचक नए कथाकारों पर लिखना अपनी तौहीन समझते हैं। वे आज भी प्रेमचंद, रेणु, मोहन राकेश और कमलेश्वर के कथालोक में भटकते रहते हैं। नए आलोचकों ने लेखकों के साथ अपने-अपने मित्र-समूह बना लिए हैं और वे कहानियों की आलोचना इस तरह से करते हैं कि जैसे उन्हें बस अपने मित्रों की कहानियों से ही मतलब है। पत्रिकाओं के संपादकों एवं प्रकाशकों ने भी नए लेखकों के अपने परिवार चिन्हित कर लिए हैं। वे अपने परिवारीय लेखक-मंडल की श्रेष्ठता सिद्ध करने में ही लगे रहते हैं। उन्हीं पर अपनी संपादकीय टिप्पणियाँ लिखते हैं। स्पष्ट है कि ऐसे में छोटे शहरों व कस्बों में रहने वाले यथार्थ की खुरदरी ज़मीन पर टिके युवा लेखक बहुत ज़ल्द ही हाशिए पर निपट जाते हैं और बड़े शहरों में रहने वाले तथा पत्र-पत्रिकाओं के निरन्तर संपर्क में रहने वाले काल्पनिकता से भरे नए लेखक बड़ी तेजी से प्रसिद्धि की सीढ़ियाँ चढ़ जाते हैं। सूरज पालीवाल अपने लेख 'हमारे समय की कहानियाँ' ('बहुवचन' ३७, अप्रैल-मई २०१३) में लिखते हैं,-'इस पीढ़ी के साथ एक दिक्कत यह हुई है कि यह कुछ संपादकों तथा कुछ चमकीली पत्रिकाओं के कंधों पर बैठकर आई थी। उन कंधों ने इन्हें एक ओर दिग्भ्रमित किया तो दूसरी ओर विकलांग।' हिन्दी-साहित्य के आज के परिदृश्य को देखने पर उनकी टिप्पणी सही ही लगती है।

डा. अर्चना वर्मा ने 'बहुवचन' के उपरोक्त अंक में ही प्रकाशित अपने साक्षात्कार में समकालीन आलोचना की इसी स्थिति की ओर इशारा करते हुए कहा है,-'इस स्थिति का एक पक्ष और भी है, योजनाबद्ध तरीके से चर्चा चलाना, किसी को ढहाना, किसी को उछालना, गुट बनाकर हमला करना, अपनी ब्रांड-वैल्यू इस्टैब्लिश करने के हथकंडे। संचार-माध्यम और उसके इस्तेमाल की पकड़ इस सिललिले में बहुत कारगर भी है। कई पत्रिकाओं, अख़बारों का यह फुलटाइम धंधा भी है, लेकिन ये शायद इस वक़्त की ज़रूरी रणनीतियाँ हैं। कई बार अनीतियाँ भी।' अर्चना जी इन रणनीतियों को इस वक़्त की ज़रूरत क्यों मान बैठी हैं, यह मैं नहीं जानता, लेकिन मेरे विचार में यह बिल्कुल गैर-ज़रूरी और साहित्य को बरबादी की ओर ले जाने वाली रणनीतियाँ हैं। आलोचना का कर्म मूल्यांकन करना है, सीप में बंद अदृश्य मोतियों की खोज करना है, रचना में निहित विचारों एवं भावों को स्पष्ट रूप में सामने लाना है, लेखकीय दुरूहताओं को अनावृत्त करना है और पाठकों के विवेक को जागृत करना है। यदि आलोचक साहित्य की राजनीति का प्रणेता बन जाएगा, पुरस्कारों की संस्तुतियाँ करने लगेगा, लेखकों को बनाने-बिगाड़ने का जिम्मा ले लेगा तो फिर वह अपने वास्तविक कर्म को करने में कहाँ से सफल होगा? आज के बाज़ारोन्मुख समाज व उपभोक्तावादी व्यवहार के बरक्स यह रणनीतियाँ जरूरी हो सकती है, किन्तु साहित्य की साख बचाए रखने की दृष्टि से, समय से मुठभेड़ करने के लिए उसे सक्षम बनाने की दृष्टि से और उसके प्रवाह को नए-नए ज़मीनी सोतों से फूटकर निकलने वाले जल की मदद से निरन्तरता प्रदान करने की दृष्टि से यह ज़रूरी है कि आलोचना सजगता और सतर्कता के साथ की जाय, उसकी एक विहंगम दृष्टि हो, उसमें विचारधाराजन्य अस्पृश्यता न होकर खुली वैचारिक विवेचना हो और अंततः उसमें आधुनिकता या उत्तर आधुनिकता से भी आगे निकलकर भविष्य की ओर झाँकने वाली एक सूक्ष्मदृष्टि हो।

पिछले तीस वर्षों में भारतीय समाज व राजनीति

उमेश चौहान
सी-२/१९५, सत्य मार्ग, चाणक्यपुरी
नई दिल्ली-११००२१
मोबाइल +९१-८८२६२६२२२३,
ई-मेल: umeshkschauhan@gmail.com

में व्यापक बदलाव आया है। साहित्य भी इससे अछूता नहीं रहा है। जातिगत राजनीति एवं स्त्री के अधिकारों के संघर्ष ने साहित्य व साहित्यिक आलोचना की जातीयता को भी तेज़ी से बदला है। साहित्य में नए विमर्शों ने अपनी जड़ें मजबूत की हैं। दलित विमर्श ने दलित व आदिवासी समाज की चेतना की नई ज़मीन तैयार की है। राजनीति में आए बदलावों ने इस चेतना को पंख दिए हैं और दलित वर्ग के युवाओं को नया साहस एवं विश्वास दिया है। शिवमूर्ति, काशीनाथ सिंह, उदय प्रकाश, ओमप्रकाश वाल्मीकि, संजीव व अखिलेश जैसे रचनाकारों तथा परमानन्द श्रीवास्तव व वीरेन्द्र यादव जैसे आलोचकों ने दलित चेतना को मुंशी प्रेमचंद की ज़मीन से निकालकर उसे उत्तर आधुनिक दलित चेतना से जोड़ा है। वर्तमान दौर के प्रमुख कथाकार अखिलेश अपनी कहानियों में निहित राजनीतिक विमर्श व अपनी विशिष्ट अभिव्यंजना शैली व भाषा के कारण समकालीन कथाकारों से एकदम अलग और सार्थक दिखते हैं। वे अपने समय से भी आगे निकलकर एक भविष्यदृष्टा कथाकार के रूप में हमारे सामने आते हैं। उनकी कथाओं के चित्र-विचित्र पात्र हमारी संवेदनाओं को गहराई से कुरेदते हैं और समाज में हाशिए पर अलग-थलग पड़े निकृष्टतम जीवन भोग रहे इनसानों की स्थिति को फोकस में लाते हैं। मसलन, 'शापग्रस्त' का सुख-दुःख की अनुभूतियों से रहित एवं फिश्चुला जैसे कष्टकारी रोग पर फख्र करने वाला प्रमोद वर्मा, 'चिट्ठी' के पात्र त्रिलोकी, रघुराज व मंडली के अन्य सदस्य, 'बायोडाटा' का नेता बनने को आतुर राजदेव, 'पाताल' का नपुंसक मंदबुद्धि प्रेमनाथ, 'ऊसर' का महत्वाकांक्षी नेता चन्द्रप्रकाश श्रीवास्तव, 'जलडमरूमध्य' के डिप्रेशन के शिकार व रोना भूल चुके सहाय जी, 'वजूद' का डरपोक रामबदल, उसका बगावती बेटा जयप्रकाश तथा अत्याचारी बैद पंडित केसरीनाथ, 'यक्षगान' का धोखेबाज पति छैलबिहारी, स्वार्थी कामरेड श्याम नारायण तथा चालाक महिला नेता सरोज यादव, 'ग्रहण' का गरीब विपद राम तथा उसका बिना गुद्दे का पेटहगना बेटा राजकुमार, 'अँधेरा' का दंगे से आतंकित प्रेमी प्रेमरंजन, 'श्रंखला' का विद्रोही स्तम्भलेखक रतन कुमार आदि। उदय प्रकाश की 'वारेन हेस्टिन्ग्ज़ का साँड़' व 'मैंगोलिन' जैसी कहानियाँ भी कहानी की विषयवस्तु के नएपन के कारण ही हमें आज भी आकर्षक लगती हैं।

कहानी व उसकी आलोचना के क्षेत्र में कमोवेश इसी तरह का व्यापक परिवर्तन स्त्री विमर्श की दृष्टि से भी आया है। महादेवी वर्मा के युग के बाद हिन्दी के स्त्री-लेखन में कृष्णा सोबती, मनू भंडारी आदि कथाकारों ने नारी-चेतना के जिस नए युग का सूत्रपात किया उसे पिछले दो-तीन दशकों में मृदुला गर्ग, मैत्रेयी पुष्पा, चित्रा मुद्गल, नासिरा शर्मा, ममता कालिया, इंदु जैन, अर्चना वर्मा, उषा महाजन, क्षमा शर्मा, प्रभा खेतान, नमिता सिंह जैसी स्त्री लेखिकाओं ने नए आयाम दिए हैं। इससे स्त्री स्वातंत्र्य व समता की आवाज़ को एक नई पहचान मिली है। पुरुष कथाकारों ने भी स्त्री विमर्श के क्षेत्र में कम योदान नहीं दिया है। स्त्री विमर्श की दृष्टि से मैं शिवमूर्ति की कहानियों का कायल रहा हूँ। वे मुंशी प्रेमचंद के नारी-जागरण व स्त्री-समानता के विचार से कहीं आगे बढ़कर शोषण के विरुद्ध संघर्ष करती ग्रामीण स्त्रियों के विद्रोही रूप को सामने लाते हैं। उनके स्त्री-विमर्श के केन्द्र में आज की पढ़ी-लिखी, जागरूक, पुरुष समाज से बराबरी का दर्जा पाने के लिए प्रतिस्पर्धा करती, सामाजिक व बौद्धिक स्तर पर अपनी अस्मिता की रक्षा करने के लिए आर्थिक व राजनीतिक ताकत जुटाती, अपने यौनिक अधिकारों के लिए सतर्क, आज के भद्रलोक की नारी नहीं है। उनका स्त्री-विमर्श समाज की उन निम्नवर्गीय औरतों के शारीरिक व आत्मीय सौन्दर्य, दैहिक ताप व उत्पीड़न, जिजीविषा, प्रतिरोध, राग-द्वेष, पारिवारिक क्लेश आदि पर केन्द्रित है, जो दूर-दराज के गाँवों में घर-जवार की सीमाओं में कैद होकर अपना जीवन गुजार रही हैं। चाहे वह 'कसाईबाड़ा' की शनिचरी, लीडराइन या परधानिन हो, 'तिरिया चरित्तर' की विमली हो, 'अकाल-दंड' की सुरजी हो, 'सिरी उपमा जोग' की ममता हो, 'केशर-कस्तूरी' की केशर हो या 'भरतनाट्यम' की देहाती पत्नी, ये सभी ऐसे स्त्री कथा-पात्र हैं जिनमें गरीबी के बावजूद आत्मसम्मान बचाने की लालसा है, प्रतिरोध है।

साहित्यिक विमर्श की नई प्रवृत्तियों के साथ-साथ भूमंडलीकृत अर्थव्यवस्था, सूचना प्रौद्योगिकी के विकास तथा संचार-क्रांति ने साहित्य के आदान-प्रदान एवं उसकी आलोचना के तौर-तरीके को भी बड़ी तेजी से बदला है। आज पत्र-पत्रिकाओं के अलावा ब्लॉग-साहित्य की पाठकों तक व्यापक पहुँच है। लेखकों और आलोचकों की नई पीढ़ी इन नए इलेक्ट्रॉनिक टूल्स का व्यापक तौर पर उपयोग कर रही है। बदलाव के इस दौर में सकारात्मक परिवर्तनों के साथ-साथ बड़ी तेजी से कुछ नकारात्मक प्रवृत्तियाँ भी उभर रही हैं। इक्कीसवीं सदी के वर्तमान दशक में कुछ प्रकाशक व संपादक साहित्य को बाज़ार में उपभोक्ताओं को आकर्षित करने के लिए उतारी जाने वाली जिंसों की तर्ज़ पर पाठकों के बीच एक उपभोक्ता वस्तु के तौर पर स्थापित करने का प्रयत्न करते दिख रहे हैं। आज नए विमर्शों के नाम पर, विशेष रूप से स्त्री-विमर्श के नाम पर भी कुछ इसी प्रकार का खेल खेला जा रहा है। ऐसा लगता है कि जैसे पहले के कथाकारों ने कभी स्त्री की संवेदनाओं को समझा ही नहीं, कभी उसकी वैचारिक व सामाजिक मुक्ति की बात ही नहीं की, उसके संघर्ष तथा बलिदान को कभी अपनी कलम से स्पर्श ही नहीं किया। आज स्त्री विमर्श को कुछ यूँ प्रस्तुत किया जा रहा है कि जैसे यह कोई अचानक प्रकट हुआ ट्रेन्ड है और किसी तरह के नए स्त्री-आंदोलन का परिणाम है। लेकिन यदि साहित्य का व्यवसायीकरण करते हुए स्त्री की मुक्ति, स्वतंत्रता, समता, नेतृत्व-क्षमता, सौन्दर्य-श्रेष्ठता आदि के नाम पर अश्लीलता और चटखारे लेकर पढ़ी जाने योग्य विसंगतियाँ ही परोसी जाएँगी तो इससे स्त्री-वर्ग का उत्थान नहीं, पतन ही होगा।

आलोचना की व्यक्तिवादी व हमलावर प्रवृत्ति ने वर्तमान दौर की कहानी के संबन्ध में कुछ ऐसे विवादों को भी जन्म दिया है, जो पहले के दौर में कभी नहीं थे। जब शालिनी माथुर अपने लेख 'मर्दों के खेला में औरत का नाच' (तहलका, ६ जनवरी २०१४) में लिखा,-'मर्दों के इस खेला में पुरुषों को आनंद देने के लिए औरतों की एक ऐसी पोर्न छवि गढ़ी गई है जो पूर्णतया यौनीकृत है। उसमें न चेतना है, न हृदय, न मन और न भावना। यह पोर्न की क्लासिकल सेडोमेसोचिस्ट छवि है। इन औरतों को यौनिक वस्तु होने, कष्ट पाने और अपमानित होने में आनंद आता है' तो उसके प्रत्युत्तर में कथाकार जयश्री राय ने 'जानकीपुल' ब्लॉग में प्रकाशित अपने लेख में लिखा,-'पितृसत्ता से उपहार में प्राप्त शुचिताबोध आप पर इस कदर हावी है कि इस क्रम में आप भावना, संवेदना और प्रेम से सिक्त स्त्री-मन की न सिर्फ अनदेखी करती हैं बल्कि बिना पात्रों की पृष्ठभूमि, भावभूमि और मनोदशा

को समझे ही अपने पूर्व निर्धारित निष्कर्षों को कहानी पर आरोपित कर देती हैं।' शुचिता बनाम अश्लीलता से जुड़े इस तरह के विवाद आने वाले समय में निश्चित ही और ज़्यादा गहराएँगे क्योंकि साहित्य के बाज़ारीकरण की प्रवृत्ति इन्हें कभी थमने नहीं देगी। हो सकता है, इस तरह की आलोचना को बाज़ारोन्मुख पत्रिकाओं के संपादकों की तरफ से सुनियोजित तौर पर बढ़ावा मिले और वे ऐसे विवादों से जुड़े आरोपों प्रत्यारोपों को प्रमुखता के साथ छापकर अपनी पत्रिकाओं की लोकप्रियता को बढ़ाने का प्रयास करें। इंटरनेट का ब्लॉग-लेखन व ई-प्रकाशन भी इससे अछूता नहीं है, और वहाँ इस तरह की आलोचना से जुड़ी योजनाबद्ध छीछालेदर मचाने की और भी आज़ादी है। जब वहाँ पोर्न सामग्री व आतंकवाद को बढ़ावा देने वाले साहित्य पर ही कोई नियंत्रण नहीं लग पा रहा है, तो वहाँ इस तरह के बाज़ारू व अर्थहीन सामग्री की समीक्षा अथवा चिन्ता कौन करेगा?

वर्ष २०१३ के भारतीय ज्ञानपीठ पुरस्कार के लिए चयनित वरिष्ठ कवि केदारनाथ सिंह 'उम्मीद' पत्रिका में प्रकाशित अपने एक साक्षात्कार में अभी हाल ही में कहा है,-'स्त्री भी हमारे समाज में दलितों ही की तरह काफी हद तक शोषित रही है। अब वह मुक्त होने की कोशिश कर रही है। लेकिन अभी भी तमाम सामाजिक वर्जनाएँ हैं जो काम कर रही हैं। इसके अनेक भेद-उपभेद हैं। जब समाज में जनतांत्रिक चेतना पैदा हुई तो उन्हें ये भी लगा कि उनके भी कुछ हक हैं, अधिकार हैं। वे अपने अधिकारों से वंचित हैं। यह अधिकार की चेतना उनके भीतर प्रबल होती जा रही है। संपत्ति में अधिकार, परिवार में अधिकार, कार्य-क्षेत्र में अधिकार, समाज व राजनीति में अधिकार आदि-आदि। निजी इच्छाओं का दमन, पितृसत्ता के प्रभाव के कारण समाज में पिछड़ जाना, शादी करके घर बैठ जाना, इन सब बातों के प्रति उनके भीतर एक चेतना जगी है। समाज की इन असंगतियों को मिटाने के लिए वे आगे आई हैं। उन्होंने काफी कुछ लिखा है। कई स्त्री रचनाकारों ने बहुत अच्छी कविताएँ लिखी हैं। कहानियाँ तथा उपन्यास भी लिखे जा रहे हैं।' उनका कहना पूरी तरह से सही है। नई पीढ़ी की अनेक सशक्त स्त्री कथाकार मृदुला गर्ग, मैत्रेयी पुष्पा, चित्रा मुद्गल, नासिरा शर्मा, ममता कालिया आदि की तर्ज़ पर, जिनमें मनीषा कुलश्रेष्ठ, नीलाक्षी सिंह, जयश्री रॉय, गीताश्री, जया जादवानी, आकांक्षा पारे आदि का नाम प्रमुखता से लिया जा सकता है, स्त्री विमर्श के आंदोलन को एक सशक्त रूप दे रही हैं। लेकिन बाज़ारोन्मुख प्रकाशन-जगत व उपभोक्तावादी संस्कृति की विसंगतियों के प्रति उन्हें सतर्क रहना होगा, अन्यथा यह अभियान राह से भटक जाएगा। आज कुछ स्त्री कथाकार अपवादों को सामान्य स्थिति के रूप में चित्रित करके एक ऐसी दुनिया को यथार्थ के रूप में सामने लाने की कोशिश कर रही हैं जो वास्तव में बड़ी ही काल्पनिक लगती है। क्या इस तरह की प्रवृत्ति को श्रेष्ठ मानकर शहरी व ग्रामीण दोनों ही समाजों की स्त्रियों के सुख-दुख के वास्तविक यथार्थ को रेखांकित करने वाले ज़मीन से जुड़े कथाकारों के स्त्री-विमर्श को नकार दिया जाना उचित होगा? क्या अब यही चलन हो जाएगा, कि जो बाज़ार में बिकने योग्य होगा, वही छपेगा और उसी की चर्चा होगी?

समालोचक भरत प्रसाद अपने लेख 'सृजन की नई चुनौतियों की सदी' ('बहुवचन' ३७, अप्रैल-मई २०१३) में प्रश्न उठाते हुए कहते हैं,-'यथार्थ की कालजयी प्रतिसृष्टि रचने के लिए जिस उद्दाम चेतना, सृष्टिदर्शी कल्पनाशीलता, बल खाती भावाकुलता और अपराजेय संकल्पधर्मिता की ज़रूरत होती है, वह कहाँ है हमारे युवा कहानीकारों में?' वे आगे कहते हैं,-'युवा कहानीकारों की कहानियों में अत्याधुनिक चरित्र हैं, कारनामे हैं, चालाकियाँ हैं, वर्णन-चमत्कार हैं, किन्तु नदारद है तो जीवन भर छाया देने वाली प्रकृति, जिसके बगैर एक सेकेंड के लिए साँस लेना मुहाल हो जाए।' भरत प्रसाद के प्रश्न पूरी तरह से जायज़ हैं। नए कहानीकार अच्छा लिख रहे हैं, कहानी की नई ज़मीन तैयार कर रहे हैं, किन्तु अभी सवालों के घेरे में तो हैं ही। ज्ञान प्रकाश विवेक, उमाशंकर चौधरी, विवेक मिश्र, पंकज सुबीर, कुणाल सिंह, मनीषा कुलश्रेष्ठ, नीलाक्षी सिंह, गीता श्री आदि अनेक ऐसे नाम हैं, जिन्हें इक्कीसवीं सदी कहानी के ट्रेन्ड सेटर के तौर पर बखूबी गिना जा सकता है। ज्ञान प्रकाश विवेक अपनी कहानी 'वो जो अव्यक्त है' में-'मछली अक्सर अपनी मासूमियत के कारण मारी जाती है। वह समझती है पानी में सिर्फ़ पानी है। सरल स्वभाव की मछलियाँ यह नहीं समझ पातीं कि पानी में जाल भी होता है' तथा गीताश्री 'एक रात ज़िन्दगी' में-'एक स्त्री को एक रिश्ते से आज़ाद होने में इतना वक़्त क्यों लगा। कितने सवाल और कितने जवाब कमरे के वायुमंडल में तैर रहे हैं। कितने फैक्टर काम करते हैं एक स्त्री की आज़ादी में। कितने लोग मिलकर तय करते हैं उसकी क़ैद' जैसी बात लिखकर अपनी कलम की ताक़त का अहसास कराती हैं। ऐसे ही अनेक उदाहरण दिए जाते हैं, जो भरोसा दिलाते हैं कि कमी आज की कहानियों में नहीं है, कमी तो जौहरी की निगाहों में आई है, जिसने सही रत्नों की पहचान करना बंद कर दिया है और नक़ली गहनों को असली बताने में जुटा हुआ है।

यह हिन्दी साहित्य में आलोचना के संकट का दौर है। इससे पहले शायद ही कभी आलोचकों की इतनी आलोचना हुई हो। यह आलोचना की विश्वसनीयता का संकट है। डॉ. तीर्थेश्वर सिंह 'छत्तीसगढ़ विवेक' ब्लॉग पर प्रकाशित अपने लेख 'समकालीन कहानी आलोचना और स्त्री विमर्श' में लिखते हैं,-'युवा और युवतर पीढ़ी के लेखन से आलोचना की दूरी बढ़ी है। कविता की बनिस्बत कहानी आलोचना में ज़्यादा ही, जिस तनाव और बेचैनी से गुज़रकर नई पीढ़ी के कहानीकार लिख रहे हैं उससे दो चार होने का जोखिम आलोचना नहीं उठाना चाहती। जब हम कहानी की चर्चा करते हैं तो बीते कल के सृजन के प्रति अभिभूत और नई रचनाशीलता के प्रति शंकालु नज़र आते हैं। कहानी की आलोचना के इस वर्तमान लचरपन व पक्षपातपूर्ण रवैये में बदलाव आना ज़रूरी है। अभी एक कार्यक्रम में सुप्रसिद्ध हास्य कवि सुरेन्द्र शर्मा जी ने बहुत अच्छी बात कही कि उन्हें बाज़ार से डर नहीं लगता, बाज़ारूपन से डर लगता है। वास्तव में शंका की सर्जक आज के आलोचकों एवं प्रकाशकों की उपभोक्तावादी मन:स्थिति ही है। कुछ आलोचक शुचिता और संस्कृति का सवाल उठाकर दकियानूसी विचारों के पोषण की बातें करते दिखाई देते हैं। कुछ विचारधारा का प्रश्न उठाकर हर चीज़ को अपने एकपक्षीय नज़रिये से ही देखते हैं।

नई पत्रिकाओं के माध्यम से अच्छी व विचारपूर्ण आलोचनात्मक सामग्री का विकास, बाज़ारू साहित्यिक पत्रिकाओं द्वारा पैदा किए गए गैप को भरेगा और आलोचना के नए स्वरूप को विकसित करने में निश्चित रूप से सहायक सिद्ध होगा।

❐

कथा आलोचना : एक बेतरतीब ख़याल

बलवन्त कौर

'गद्य का स्वभाव वर्णनात्मक होता है। कहानी गद्य में बाँधी जाती है। इसलिए वर्णन उसका अभिन्न अंग है। कहानी का सारा दारोमदार इस पर निर्भर करता है कि वर्णन कितना सार्थक हो सकता है। वही वर्णन सार्थक है जो कहानी के आंतरिक संघटन को पुष्ट करता है, उसमें नया निर्माण करता है, या प्रभाव को पुन: संयोजित करता है। अत: अच्छी या सफल कहानी, वह पुरानी हो या नई, वही है जिसमें वर्णन इन माँगों को पूरा करें। (विपिनकुमार अग्रवाल)

'कहानी का सम्बन्ध अनुभव से है और चरित्र कहानीकार के अनुभव का ही प्रतिबिम्ब है। कहानी की गति और कहानी की नियति, कहानी का चरित्र है। चरित्र का गठन ही, वास्तव में, कहानी का गठन है। चरित्र और चरित्र-रचना के मूल्यों में परिवर्तन ही कहानी की भाषा में परिवर्तन उत्पन्न करता है।' (श्रीकान्त वर्मा)

'आज इतना कहना ही काफी नहीं है कि अमुक कहानी बहुत अच्छी है और अमुक कहानी सफल है, बल्कि इस 'अच्छेपन' को और 'सफलता' को अधिक ठोस और युक्तिसंगत रूप में उपस्थित करने की आवश्यकता है। दूसरे शब्दों में आज कहानी की 'सफलता' का अर्थ है, कहानी की सार्थकता। आज किसी कहानी का शिल्प की दृष्टि से सफल होना ही काफी नहीं, बल्कि वर्तमान वास्तविकता के सम्मुख उसकी सार्थकता भी परखी जानी चाहिए। जीवन के जिन मूल्यों की कसौटी पर हम कविता, उपन्यास आदि की साहित्य रूपों की परीक्षा करते हैं, उन्हीं पर कहानी की परीक्षा भी होनी चाहिए। इससे कहानी समीक्षा का एक ढाँचा भी तैयार होगा, साथ साथ मानवीय मूल्यों के सन्दर्भ में हमारा ज्ञान भी बढ़ेगा।' (डॉ. नामवर सिंह)

नयी कहानी के दौर में कथा या कहानी समीक्षा का पैमाना क्या होगा ? इसको लेकर अच्छा ख़ासा वाद-विवाद-संवाद हुआ। कहानी के सन्दर्भ में कहे गए उपरोक्त कथन में विपिन कुमार अग्रवाल कहानी संघटन के नाम पर 'वर्णन' को महत्त्व देते नज़र आते हैं तो श्रीकांत वर्मा 'अनुभव' को केन्द्रीय धुरी मानने के पक्षधर हैं। उनका साफ़ तौर पर मानना था कि इस अनुभव का सम्बन्ध रचना के चरित्र से है। और चरित्र में परिवर्तन कहानी के संघटन में भी परिवर्तन ला देता है। विपिन कुमार अग्रवाल और श्रीकान्त वर्मा के ठीक विपरीत डॉ. नामवर सिंह कथा समीक्षा या आलोचना के लिए किसी एक पक्ष के पक्षधर नहीं हैं। वह कथा में 'शिल्प' के समानान्तर कथा की 'सार्थकता' के सवाल को भी बड़ी शिद्दत से उठाते हैं। इसलिए वह कहते हैं कि 'आज इतना कहना ही काफी नहीं है कि अमुक कहानी बहुत अच्छी है और अमुक कहानी सफल है, बल्कि इस 'अच्छेपन' को और 'सफलता' को अधिक ठोस और युक्तिसंगत रूप में उपस्थित करने की आवश्यकता है।' यहाँ नामवर जी 'अच्छेपन और सफलता' को जिस 'ठोस और युक्तिसंगत' ढंग से प्रस्तुत करने की माँग कर रहे हैं वह दरअसल कथा समीक्षा में 'कन्टेन्ट और टेकनीक' दोनों के समान महत्त्व को ही रेखांकित करना है। क्योंकि कथा में 'कन्टेंट' और 'टेकनीक' में से कोई एक प्रधान नहीं हैं बल्कि रचना को समग्रता में समझने की दिशा में दोनों की ही अहम भूमिका है। रचना का समकालीन यथार्थ के साथ

बलवन्त कौर
२५१, भाई परमानंद कालोनी
दिल्ली ११०००९
मोबाइल ९८६८८९२७२३
tobalwant@gmail.com

जो सम्बन्ध है वह सिर्फ़ उसकी 'विषयवस्तु' में ही नहीं बल्कि उसके 'रूप' या 'फ़ार्म' में भी निहित होता है। इसलिए 'यथार्थ' का रूप बदल जाने से रचना का 'शिल्प' भी प्रभावित होता है। और रचना का 'शिल्प' बदलने से उसका 'कन्टेन्ट' भी बदल जाता है। इसका सबसे बेहतरीन उदाहरण राजेन्द्र यादव का उपन्यास 'सारा आकाश' है।

'सारा आकाश' अपने मूल रूप में १९५२ में 'प्रेत बोलते हैं' के नाम से लिखा गया था। चूँकि यह पुस्तक किन्हीं कारणों से बाज़ार में नहीं आ सकी इसीलिए १९५९ में उस मूल कथा में कुछ हेर फेर कर उन्होंने 'सारा आकाश' के रूप में इसे एक नये अर्थ में प्रस्तुत किया। दोनों उपन्यासों की मूल कथा एक ही है। लेकिन दोनों की संरचना या औपन्यासिक ढाँचा बिलकुल अलग-अलग है। 'प्रेत बोलते हैं' जहाँ रहस्य रोमांच या फैंटसी को आधार बना कर लिखा गया है वहीं लगभग १० साल के अन्तराल पर 'सारा आकाश' विशुद्ध यथार्थवादी पद्धति के आधार पर रचा गया उपन्यास है। अपनी प्रयोगधर्मिता, नाटकीयता, कथा युक्तियों के प्रयोग में 'प्रेत बोलते हैं' 'सारा आकाश' से बिलकुल भिन्न भाव भूमि पर खड़ा दिखाई देता है। यानी मूल कथा एक होते हुए भी दोनों उपन्यासों की संरचना या शिल्प बिलकुल भिन्न है। जिसके कारण कथ्य का मरकज़ भी बदल जाता है। लगता है 'सारा आकाश' की कथा को जिस दिशा या मन्तव्य की तरफ वह ले जाना चाह रहे थे उसके लिए रहस्य रोमांच या फैंटसी का पुराना ढाँचा उन्हें प्रासंगिक या समसामयिक नहीं लगा। जबकि फैंटसी का यथार्थ से कोई विरोध नहीं है। दोनों ही रचना की दो प्रविधियाँ है। लेकिन फिर भी लेखक को अलग परिवेश के अनुरूप नये अभिप्राय देने के लिए वह शिल्प अनावश्यक लगा।

'प्रेत बोलते हैं' में प्रेतों के आह्वान का प्रयोग-कथा को रहस्य-रोमांच और नाटकीयता देने के साथ साथ एक कथा-युक्ति की तरह से भी प्रयुक्त हुआ है। यह कथा-युक्ति लेखकीय रचना प्रक्रिया से भी सीधे जुड़ती है। लेकिन 'प्रेत बोलते हैं' में यह कथा युक्ति कहानी के अन्त को एक पृष्ठभूमि देने का काम करती है जहाँ उपन्यास के प्रमुख पात्र समर, प्रभा और मन्नो प्रेत में बदल जाते है। और यह प्रेत रंगमंच के पात्रों की तरह एक एक कर अपना बयान उपन्यास में दर्ज करते है। उपन्यास का यह अन्तिम हिस्सा 'सारा आकाश' से हटा दिया गया, क्योंकि अगर इन हिस्सों को रखा जाता तो जिस यथार्थपरक शिल्प की वकालत राजेन्द्र जी बाद के दिनों में करते रहे और जिसके न होने पर दूसरों को कठघरे में खड़े करते रहे उस 'यथार्थवादी' विचार पर यह प्रहार होता। क्योंकि 'प्रेत बोलते हैं' की कथा भले ही यथार्थपरक हो पर उसका शिल्प रहस्य-रोमांस से जुड़ा है। इसके कारण दोनों उपन्यासों की संवेदना मिलते हुए भी दोनों की संरचना अलग अलग हो जाती है। यह अलग संरचना उपन्यास के कथ्य को भी दो अलग परिप्रेक्ष्य दे देती है। शायद इसीलिए राजेन्द्र यादव जब 'सारा आकाश' लिखते हैं तो उसकी भूमिका में साफ़ कहते हैं कि उन्होंने कहानी को अलग परिवेश और प्रभाव देने के लिए एकदम नये सिरे से लिख डाला हैं और उसे नये अर्थ और अभिप्राय दिए हैं -यह नये अर्थ और नये अभिप्राय उपन्यास के अलग ढाँचे के कारण आए हैं। १९३६ में प्रगतिशील लेखक संघ के प्रथम अधिवेशन में प्रेमचन्द ने साहित्य में 'हुस्न के मय्यार' बदलने की जो बात की थी। उसी का विकसित रूप नयी कहानी के समय 'भोगे हुए यथार्थ' और 'अनुभूति की प्रमाणिकता' के विचारों में देखा जा सकता है। 'सारा आकाश' भी इसी दौर में 'प्रेत बोलते हैं' से संशोधित व परिवतर्ती होकर 'नए अर्थों' व 'नए अभिप्रायों' में सामने आया।

इसी प्रकार 'कन्टेन्ट और शिल्प' के सन्दर्भ में अगर आज की कहानी की बात करें तो आज की युवा कहानी अपने 'कन्टेन्ट' ही नहीं बल्कि अपने 'शिल्प' के कारण भी आलोचकों के लिए चुनौती बन गई है। लेकिन आज के ज़्यादातर आलोचक कहानी की 'विषयवस्तु' पर बात करके ही चुप्पी धारण कर लेते हैं। जबकि आज के जटिल बहुआयामी यथार्थ को सीधे साधे ढाँचे में प्रस्तुत कर पाना एक कठिन काम है। क्योंकि पिछले कुछ समय से पूंजी के वर्चस्व, सूचना प्रौद्योगिकी के विस्तार और लिबरल अर्थव्यवस्था के कारण व्यक्ति और समाज कई तरह के संकटों से गुज़र रहा है। इन संकटों को रचना में अभिव्यक्त करना और भी जोखिम का काम है। पर आज की युवा पीढ़ी ने इन संकटों की उपस्थिति जिस तरह से कथा साहित्य में दर्ज की है वह सराहनीय है। सराहनीय इसलिए भी क्योंकि बदलाव की इस आबो-हवा में ये नए रचनाकार संकटों को लेकर हाहाकार की मुद्रा में नहीं है। बल्कि वह इसे एक चुनौती की तरह ही ले रहे हैं, ताकि वर्तमान से सामंजस्य बनाया जा सके। एक ऐसे वर्तमान से सामंजस्य जहाँ एक तरफ परम्परागत मूल्य हैं, तो दूसरी तरफ तत्कालीन समय के दबाव। और जो यथार्थ सामने है वह भी सूचना माध्यमों की बदौलत मात्र छवि बन के रह गया है। सामने होने के बावजूद पकड़ में नहीं आ रहा है। एक फिसलन भरा यथार्थ। इस फिसलन भरे यथार्थ से आज का युवा लेखक जूझ रहा क्योंकि उसकी रचनात्मकता इससे प्रभावित हो रही है। इसलिए अपने संघटन में आज की कहानी सिर्फ़ वर्णन नहीं है बल्कि संस्मरण, यात्रा वृतांत, आत्मकथा आदि अनेक विधाओं की घुसपैठ या संयोजन से बनी रचना है जो लगातार अपनी संरचना में आलोचकों को चुनौती दे रही है कि ऐसी रचनाओं को किस 'केटेगरी' में शामिल करके उनका विश्लेषण मूल्यांकन करें। जैसे 'पहल' ९१ के अंक में आई चन्दन पांडे की कहानी 'लक्ष्य शतक का नारा' तथा जनवरी २०१४ हंस में प्रकाशित आकांक्षा पारे की कहानी 'शिफ्ट कन्ट्रोल ऑल्ट=डिलीट'

मासिक पत्रिका हंस के जनवरी २०१४ अंक में प्रकाशित आकांक्षा पारे काशिव की कहानी 'शिफ्ट कन्ट्रोल ऑल्ट=डिलीट' सूचना प्रौद्योगिकी के दौर में मनुष्य के मशीन बन जाने की कहानी है। मशीन जिसमें बटन तो होते है पर संवेदनाएँ नहीं होती और संवेदनाओं की तलाश अन्ततः मनुष्य की मृत्यु का सबब बन जाती है। आकांक्षा पेशे से पत्रकार हैं। अपने पेशे में उन्हें रोज़ हजारों खबरों से रूबरू होना पड़ता होगा। लेकिन ख़बर और कहानी के रचनाविधान में अन्तर होता है यह आकांक्षा बखूबी जानती है। इसलिए अपने पेशे से प्राप्त सूचनाओं को कच्चे माल की तरह इस्तेमाल करके उसे रचना में कैसे ढाला है यह महत्त्वपूर्ण है। अन्यथा अख़बारी सूचना और कहानी में कोई अन्तर न रह जाए। आकांक्षा की कहानी की विशेषता उसके विषय मात्र में नहीं बल्कि उस पद्धति शिल्प में है जिसमें उन्होंने सुदीप मलिक की पूरी मानसिकता को उजागर किया है। कहानी का प्रारम्भ होता है गेम के लिए पत्नी की हत्या कर चुके सुदीप मलिक के बयान से-'मैने कुछ नहीं किया। मैं बस गेम जीतने ही वाला था। काउंटर स्ट्राइक के तीन ग्रेड पूरे होने आये थे। मेरा कंसोल मेरे बस में नहीं था। लेकिन

वह मूर्ख मेरे कंट्रोल से बाहर होती जा रही थी। स्क्रीन पर यूएस सोल्जर टेरेरिस्टों का सफाया कर रहे थे। आखिरी टेरेरिस्ट बस खत्म होने को था। उसने मेरे हाथ से कन्सोल छिन लिया। आप समझ रहे हैं? समझ रहे हैं आप मैं गेम जीत रहा था और उसने कंसोल छीन लिया। सुदीप का पूरा बयान उसकी मानसिकता का ब्यौरा प्रस्तुत करता है। उसके भीतर दुख था, तो गेम छूटने का। बैचेनी थी, तो गेम के अधूरा रहने की। लेकिन जिसकी हत्या हुई है, उसके लिए कोई अपराधबोध अन्त तक सुदीप के भीतर नहीं था। उसके मरने के बाद भी सुदीप के भीतर गेम अधूरा रहने की तड़प बाकी थी। कहानी के अन्त में भी सुदीप अपनी अन्तिम ख्वाहिश के रूप में इन्टरनेट का कनेक्शन माँगता है ताकि 'निंजा एंड ग्लैडिएटर्स' नामक गेम का पाँचवा पार्ट चैक किया जा सके। कम्प्यूटर पर हिंसक गेम खेलते खेलते सुदीप के भीतर एक 'ठंडापन' व्याप्त हो गया था। ऐसा 'ठंडापन' जहाँ वह समाज से, सम्बन्धों से कट कर केवल और केवल कम्प्यूटर की आभासी दुनिया में ही जीने लगा था। यह दुनिया उसके लिए वास्तविक दुनिया से कहीं ज़्यादा वास्तविक है। उसका 'एडिक्शन' उसे मानसिक रूप से 'बीमार' कर चुका है। इसलिए जब सुदीप को सजा सुनाई जा रही होती है तो वह दीवार पर चल रही मकड़ी को देखता रहता है। मकड़ी के चलने की गति के साथ साथ उसकी उँगलियाँ भी एक 'विशेष अन्दाज़ में ऊपर नीचे उठती रहती हैं। और किसी की ओर बिना देखे वह कहता है 'वर्ल्ड वाइड बेब'। कहानी की विशेषता है कि यहाँ सुदीप मलिक के इस 'ठंडेपन' को किसी एक रेखिक विवरण वर्णन द्वारा कहानीकार ने नहीं प्रस्तुत किया बल्कि छह-सात लोगों के अलग अलग बयानों के माध्यम से सुदीप मलिक के भीतर व्याप्त हो रहे 'ठंडेपन' को विभिन्न कोणों से प्रस्तुत किया है। इसलिए यहाँ कोई एक नैरेटिव वायस नहीं बल्कि कथा की संरचना के लिए रचनाकार ने शिफ्टिंग नैरेटिव वायस का सहारा लिया। विभिन्न नैरेटिव वॉयस जहाँ इस बीमारी 'के लिए 'ज़िम्मेदार'-समाचार चैनलों की भूमिका, कॉरपोरेट कल्चर, इत्यादि कोणों को एक एक कर सामने लाती है वहीं सुदीप मलिक की चेतना के बिखराव को भी इस 'बिखरते' प्रतीत होते शिल्प से कहानी की संरचना में पैबस्त कर दिया गया है।

दूसरी कहानी है चंदन पांडे की कहानी 'लक्ष्य शतक का नारा'। पहल के ९१अंक में प्रकाशित यह कहानी मुख्य रूप से आधुनिक समाज व राजनीति की तहों में व्याप्त भ्रष्टाचार की विषयवस्तु को आधार बना कर लिखी गई है। अपनी विषयवस्तु में यह कोई नई कहानी नहीं है परन्तु उस विषय वस्तु को प्रकट करने के लिए चंदन ने जिस प्रविधि का सहारा लिया है वह नई है। और इस प्रविधि के कारण कहानी एक पुराने परन्तु प्रासंगिक विषय को एक नये प्रभावशाली, रूप में पाठकों के सामने प्रस्तुत करती है। कहानी का प्रारम्भ एक घोषणा के साथ होता है। यह घोषणा मुख्य रूप से डायरी के गायब हुए पन्नों के बारे में है। यह घोषणा एक तरफ आगे की कहानी की पृष्ठभूमि तैयार करती है और दूसरी तरफ गायब हुए पन्नों और प्रस्तुत की जा रही कथा के बीच के अनकहे सम्बन्ध को भी एक आधार देती है। पूरी कहानी एक पुलिस वाले की डायरी के अधजले पृष्ठों की प्रस्तुति है। इन पृष्ठों में क्रमवार रूप से 'रिश्वत की कमाई' के आँकड़े प्रस्तुत किए गए है। बहीखाते के अन्दाज में लिखे गए यह 'आँकड़े' दरअसल भारतीय समाज की विभिन्न तहों में फैले 'भ्रष्टाचार' को प्रामाणिकता के साथ प्रस्तुत करते है। पुलिस वाले की डायरी के ये अधजले पन्ने रिश्वत के अलग अलग रूपों और प्रकारों को बिना किसी लेखकीय हस्तक्षेप या टिप्पणी के बखूबी उजागर करते हैं। परम्परागत रूप से कहानी पढ़ने के आदी आलोचक जरूर इस कहानी को शायद कहानी मानने से भी इन्कार कर दें। लेकिन 'लक्ष्य शतक का नारा' कहानी की टेकनीक की विशेषता है कि यहाँ कहानी को परम्परागत वर्णनात्मक रूप में नहीं बल्कि आकंडों को आय व्यय के विवरणों, फाइल और टेन्डरों के रिकार्ड, Debit और Credit के रूपाकार और शब्दावली में दर्ज किया गया है। यह प्रविधि मात्र चौंकाने के लिए या नवाचार मात्र के लिए नहीं है। दरअसल भ्रष्टाचार का पूरा एक तंत्र है और वह कैसे नाभिनाल-बद्ध है उसे नैरेटिव की परंपरागत संरचना के बदले डायरी के इन पन्नों के इंदराज अधिक विश्वसनीयता से सामने रखते हैं और कथा के ढाँचे को अनावश्यक स्फीति से भी बचाते हैं। जैसे मुक्तिबोध की 'अंधेरे में' कविता में 'मृतक-दल की शोभा-यात्रा' का प्रसंग फैंटसी के जिस ग़ैर यथार्थवादी शिल्प के जरिए अपने समय के भीषण यथार्थ को व्यक्त करता है उस के उलट यात्रा करते हुए आँकड़ों, और इंदराजों के ग़ैर यथार्थवादी शिल्प से कहानीकार हमारे समय के इस अमानवीय तंत्र का जायजा लेता है। साथ ही, आज के समय में भ्रष्टाचार की खबरें अखबारों की सुर्खियों में इतनी जगह पाती हैं कि वे हमारी दैनिक दिनचर्या का अंग सी बन चुकी हैं। इन खबरों के पीछे की मानवीय यातना 'कोरे हाहाकार' की मुद्रा भर लगने लगी हैं। आम इंसान इन खबरों से आन्दोलित होना प्राय: छोड़ चुका है। वह सनसनीखेज और सुरागरसा कथाओं से ज्यादा प्रभावित होता है। चंदन इस अजीबोग़रीब शिल्प को आजमा कर इस 'बूझो तो जानें' की संरचना में सुनयना जैसे स्त्रियों की त्रासदी को भ्रष्टाचार के पूरे तंत्र की अमानवीयता को सुरागों के रूप में सामने रखते हैं, जिस तक पाठक अनेक आँकड़ों की गुत्थियाँ पार करके पहुँचता है। अन्त में सुनयना के विश्वास को प्रकट करता लेखक का कथन 'विश्वास का कोई क्या करे कि जितना भी समय बचा पाती है, उसमें एम.डी. के प्रवेश परीक्षा की तैयारी करती है। सारे समीकरण जानते बूझते भी उसने एक 'टेस्ट सीरिज ज्वॉईन' कर रखी है और हर इतवार उस टेस्ट सीरिज के सेंटर पर परीक्षा देने जाती है। इससे पता चलते रहता है है कि वो अभी कितने पानी में है। या कितनी आग बची है। दरअसल सुनयना की त्रासदी से ज़्यादा व्यवस्था की संरचना पर कटाक्ष है। इस व्यवस्था में सुनयना जैसे लोग जो 'अपनी भीतर की आग' को परखते रहते हैं। बेवकूफ़ और मूर्ख लग सकते है। लेकिन एक जटिल दमघोंटू व्यवस्था के भीतर शायद रोशनी के वही संकेत हैं। कहानी के अन्त में सुनयना का वर्णन कथा के भीतर एक बारीक से कथासूत्र का संकेत भी देता है। जिसके कारण यह सिर्फ़ बहीखातों, आंकडों या ब्योरों मात्र की कहानी ही नहीं रह जाती बल्कि एक जटिल यथार्थ को उसके अनेकानेक आयामों के साथ प्रस्तुत करती कहानी बन जाती है। कहानी की परख के लिए कहानी के रूप का विश्लेषण वस्तुत: उसकी संवेदना या कथ्य के विश्लेषण से अलग होके नहीं किया जा सकता। कथ्य के दबाव में रूप के ये नवाचार हमेशा से कथा-साहित्य में होते रहे हैं, कहानी की आलोचना को इन नवाचारों के प्रति सजग रहने की आवश्यकता है।

❐

कहानी पर चर्चा की ज़रूरत

विभास वर्मा

उस दिन फिर बहस छिड़ गई। कहानियाँ सुनने और फिर उस पर कुछ चर्चा करने वाले हमारे 'ग्रुप' में जिसे हममें से न जाने किसने 'स्टोरी क्लब' नाम दे दिया था, यह बात चली कि क्यों न हम सिर्फ़ कहानियाँ सुनें, चर्चा न करें। बात चलानेवाले ने अपनी बात के पीछे कई तर्क सामने रखे-कहानियों पर चर्चा में अक़्सर राजनीति हावी हो जाती है और लोग विचारधारा ठेलने लगते हैं। या कहानी पर चर्चा में लोग कहानी के बारे में बात करने से ज़्यादा अपने ज्ञान का प्रदर्शन करने लगते हैं और मामला कई बार अझेल हो जाता है। जो बात कहानी में है, वह तो कहानी कह ही चुकी है अब उसे बताना तो पाठकों या हमारे मामले में श्रोताओं की बुद्धि का निरादर करना नहीं है? और भी कुछ बातें कही गईं जिनसे काफी गुल-गपाड़ा सा मच गया। थोड़ी देर के बाद यह तय पाया गया कि क्यों न इसी मुद्दे पर एक व्यवस्थित सी चर्चा करा ली जाए। लोगों ने मान लिया और यह सुझाव भी पारित हुआ कि इसके लिए कुछ विशेषज्ञों को भी बुलाना चाहिए। लोगों ने आपसी सहमति के बाद कुछ जानकार लोगों से संपर्क करके दिन निश्चित कर लिया और यह तय पाया गया कि इसमें कुछ बाहर के जानकार लोग बात करेंगे और कुछ अपने यानी स्टोरी क्लब के सदस्य भी अपनी बात या सवाल रखेंगे। चर्चा हुई और अच्छी चर्चा हुई। उसकी रिपोर्ट आगे लिखने जा रहा हूँ। हाँ, स्टोरी क्लब के नियमों के अनुसार भीतरी चर्चा के सार्वजनिक प्रसारण में व्यक्तियों की निजता और अन्य कारणों से प्रतिभागियों के नाम को सार्वजनिक नहीं कर पा रहा हूँ। हाँ यह ज़रूर बता दूँ कि उनमें एक कहानीकार, एक आलोचक, एक कहानीकार-आलोचक तथा एक आलोचक-कहानीकार थे।

बात कहानीकार-आलोचक ने शुरू की। उन्होंने कहा कि कहानी के बारे में बात करना एक राजनैतिक काम है और इसीलिए वह करना चाहिए। दरअसल राजनीति को जिस नकारात्मक अर्थ में आजकल लिया जा रहा है, वह शब्द या भाषा के प्रति जो हिंसा आजकल हो रही है, उसी का उदाहरण है। छल-छद्म या बेईमानी को राजनीति का नाम देकर लोग वास्तविक राजनीति का अवमूल्यन करने लगे हैं। राजनीति से लोगों को परे रखने की यह पूँजीवादी साजिश है जो हमारे सांस्कृतिक प्रतीकों अर्थात भाषा के प्रतीकों का विकृत भाष्य करके की जाती है। दरअसल राजनीति सत्ता-संबंधों में परिवर्तन की हर कोशिश का नाम है, फिर चाहे वो सत्ता-संबंध जीवन के किसी भी क्षेत्र के सत्ता-संबंध हों। और यह राजनीति तो कहानी भी करती है, और रचनात्मक रूप से करती है। फिर कहानी की आलोचना को इससे दूर क्यों रखा जाए। जीवन से यदि आलोचना के कार्य को अनावश्यक करार दे दिया गया तो जीवन का रेजिमेंटेशन होने से कौन रोक सकता है? आलोचना गंभीर और स्वस्थ समाज की प्रवृत्ति है। जो समाज आलोचना से बचता है या उसे दबाता है वह एक बीमार, अविकसित और पतनग्रस्त समाज है। हाँ, यह सवाल अवश्य उठना चाहिए कि आलोचना के अपने कुछ दायित्व होते हैं। ग़ैर-जिम्मेदार आलोचना आलोचनाहीनता की तरह की ही रुग्णता है। आलोचना को कहानी के दायरे में सीमित रहना चाहिए। उसे कहानी का मनमाना पाठ कर लेने की छूट नहीं है। कहानीकार के मंतव्य को समझे बगैर कहानी की आलोचना कर दी जाती है जिससे कहानी का ही नहीं बल्कि साहित्यिकता का भी नुकसान होता है। कहानी की आलोचना कहानी के सरोकार या उसके संदेश की व्याख्या तथा उसके प्रसारण का काम है। आलोचक पर सामाजिक-दायित्व कहानीकार की तुलना में थोड़ा अधिक होता है क्योंकि कलाकार या कहानीकार की रचना के पीछे सामाजिक उद्देश्य

विभास वर्मा
सहायक प्राध्यापक
देशबंधु कॉलेज
कालकाजी
नई दिल्ली ११००१९
संपर्क-९९६८२८१४१७

का होना अनिवार्य नहीं है लेकिन आलोचना निस्संदेह एक सामाजिक कृत्य है। लेकिन आलोचक को इसी कारण अधिक जिम्मेदारी से काम करना चाहिए। होता यह है कि आलोचक की यह सामाजिक भूमिका उसे एक सत्ता दे देती है, यह सत्ता मूल्य-निर्णय करने की सत्ता होती है। कई आलोचक इस सत्ता के कारण अपने को विधाता समझने लगते हैं-'जस थोरे धन खल...'। यही कारण है कि आलोचक की भूमिका संदिग्ध, यहाँ तक कि अवांछित समझी जाने लगी है। इसीलिए आलोचक को मूल्य-निर्णय की हड़बड़ी नहीं दिखानी चाहिए। मूल्य-निर्णय करने के पहले समुचित विश्लेषण भी करना चाहिए।

कहानीकार-आलोचक के बाद बारी आलोचक महोदय की थी। उन्होंने अपने से पहले के वक़्ता का धन्यवाद किया, इस बात के लिए कि उन्होंने आलोचना की ज़रूरत या महत्ता का ठीक-ठीक विवेचन करकर उनका काम थोड़ा कम कर दिया है। उन्होंने कहा कि यह बात मैं पुन: दोहराना चाहूँगा खास तौर पर ऐसे कहानीकारों के लिए जो आलोचना को बर्दाश्त करने की क्षमता खोते जा रहे हैं। उन्होंने बताया कि दरअसल दोष उनका उतना नहीं है जितना हमारे समय का है। यह समय हमारे बहुत सारे मूल्यों, भावनाओं और विचारों को पण्यीकृत करता जा रहा है, नतीजतन आज साहित्य का भी बाज़ारीकरण हो गया है और यह बाज़ारीकरण आज के कॉरपोरेट-बाज़ार के नियमों का ही अनुसरण कर रहा है। कहानीकार और कई बार उनके प्रकाशक भी कहानी को अपने उत्पाद की तरह बरतते हैं और यदि कोई जरा भी आलोचना कर दे तो ऐसे भड़क जाते हैं जैसे कोई उनका ब्रांड खराब कर रहा है और ऐसा महज उनकी बिक्री या यश को नुकसान पहुँचाने के लिए कर रहा है, किसी रचनात्मक मंशा से नहीं। और यह अधीरता युवा कहानीकारों का ही लक्षण नहीं, कई नामचीन कहानीकार भी इस रोग से ग्रस्त पाए जाते हैं। कहानीकार भी समाज के अधिकांश लोगों की तरह कम मशक्कत में और जल्दी में धन नहीं तो यश नहीं तो एकाध पुरस्कार पा लेना चाहते हैं। वे चाहते हैं कि आलोचना महज विज्ञापन बन कर रह जाए और साहित्य-कर्म एक 'पी.आर. एक्सरसाइज़' मात्र। आलोचक महोदय बोलते-बोलते थोड़ा उत्तेजित हो चले थे और अपने इस विचलन को भाँप कर थोड़े शर्मिन्दा भी हो रहे थे। लिहाजा वक्तव्य खत्म करके बैठ गए।

कहानीकार महोदय आए और आते ही शायद माहौल बदलने की नीयत से शेर पढ़ा- 'दुनिया में हूँ दुनिया का तलबग़ार नहीं हूँ, बाज़ार से गुज़रा हूँ खरीदार नहीं हूँ।' फिर मुस्कुराते हुए कहना शुरू किया कि आज कहानी साहित्य की केन्द्रीय विधा है। कविता आज आम लोगों की पहुँच और समझ दोनों से बाहर जा रही है लेकिन कहानी आज संख्या, गुणवत्ता, लोगों की स्वीकृति, नवाचार हर लिहाज़ से सबसे आगे है। कहानीकारों की संख्या में भी काफी बढ़त हुई है और इस बढ़त में समाज के हर तबके के लोग शामिल हैं। कहानी आज हिन्दी की सबसे लोकतांत्रिक विधा है। लेकिन सवाल यह है कि क्या कहानी की इस प्रगति का मूल्यांकन या विश्लेषण किया गया है? क्या कहानी में हो रहे नवाचारों को नोटिस लिया गया है? क्या कहानी की इस प्रगति का ऐतिहासिक आकलन किया गया है? आलोचना का अर्थ केवल कहानी की समीक्षा ही तो नहीं। और समीक्षाओं को भी देखें तो उनमें कहानी पर नहीं, कहानी के विषय पर चर्चा होती है। यानी सांप्रदायिकता पर कोई कहानी लिखी गई है तो इस बात पर चर्चा कभी-कभी ही पढ़ने को मिलेगी कि कहानी सांप्रदायिकता के बारे में क्या कहती है और कैसे कहती है? बल्कि सांप्रदायिकता क्या है और कितनी अच्छी या बुरी है इस पर ज्यादा तवज्जो होता है। वस्तुत: ऐसे समीक्षक समाज-विज्ञान के अनुशासन का पाठ साहित्य के माध्यम से पढ़ना-पढ़ाना चाहते हैं फर्क यही है कि वे केस स्टडियों की जगह कहानी की घटनाओं का इस्तेमाल करते हैं। क्या कहानी की बनावट और बुनावट पर उनका ध्यान केवल संवेदना और शिल्प के अलग-अलग मान लिए गए खाँचों के माध्यम से ही जाता है। कहानी की कहन भी कुछ कहती है और उसकी कहन उसकी गढ़न से व्यक्त होती है, ऐसा माननेवाले को प्रयोगवादी या रूपवादी की उपाधियों से नवाज़ा जाता है। शैलीगत और शिल्पगत प्रयोगों को अक्सर विचलन के रूप में क्यों देखा जाता है। शैली-शिल्पगत नवीनता के पीछे ऐतिहासिक-सांस्कृतिक जरूरतें नहीं हो सकतीं? आखिर वास्तविकता के बदलाव के साथ संप्रेषण-प्रणालियों के बदलाव को हम अपने साहित्यिक इतिहास में पहले स्वीकार कर चुके हैं। जिस तरह से वाचिक संस्कृति से प्रिंट संस्कृति के बदलाव ने विचार, बोध, अभिगम और संप्रेषण में मूलभूत बदलाव किए। उसी तरह आज की संस्कृति, प्रिंट संस्कृति से दृश्य-श्रव्य-संस्कृति या एक डिजिटल संस्कृति में लगभग बदल चुकी है। इस स्थिति के प्रति कहानीकारों का रवैया उनके भाषायी और शिल्पगत रुझानों को प्रभावित कर रहा है। अर्थात् इस बदलाव के प्रति कुछ कहानीकारों का रवैया प्रतिरोध का है तो कुछ कहानीकार इस स्थिति का उपयोग अपने कथ्य की प्रभावशीलता बढाने में कर रहे हैं। पुरानी अभिव्यक्ति-प्रणाली का अनुकरण अक्सर उस प्रणाली की पैरोडी में बदल जाता है। भाषा-शिल्प-शैली की नवीनता अंतत: एक तकनीक या औज़ार है और हर तकनीक की तरह यह तकनीक भी अपने प्रयोग के आधार पर ही मूल्यांकित की जानी चाहिए अपने आप में इन प्रयोगों पर कोई राजनैतिक या विचारपरक मूल्यपरकता नहीं थोपी जानी चाहिए। कहानीकार महोदय अपनी बात समाप्त कर बैठ गए। चर्चा अब गंभीर हो चली थी।

Dr.Rajeshvar K.Sharda MD FRCSC
Eye Physician and Surgeon
Assistant Clinical Professor (Adjunct)
Department of Surgery,McMaster University

1 Young St.,Suite 302, Hamilton On L8N 1T8
P: 905-527-5559 F:905-527-3883
Email: info@shardaeyesinstitute.com
www.shardaeyesinstitute.com

इसके बाद आलोचक-कहानीकार को बुलाया गया। उन्होंने कहा कि कहानी की बात करते समय उसके विषय की बात दरअसल उसके कथानक की बात होती है। एक यथार्थवादी कहानी में शिल्प की दृष्टि से सबसे ज़्यादा काम उसके कथानक पर किया जाता है। कथानक की बात कहानी की वस्तु की बात है। यह वस्तु विषय-वस्तु भी है और कथानक का संगठन भी। आंचलिक कहानियों में जहाँ परिवेश वस्तु हो जाता है वहीं ऐतिहासिक कहानियों में देशकाल। नामवर सिंह ने अपने किसी साक्षात्कार में कहा था कि कहानी की सबसे बड़ी खासियत उसका टोन है। यह टोन संगीत-शास्त्र का पद है। कहानी में यह टोन संवेदना से तय होता है या शिल्प से ऐसा कोई विभाजन संभवत: नहीं किया जा सकता। लेकिन एक बात मैं कह सकता हूँ कि इस टोन मे निर्धारण में वाचक या 'नैरेटिव वॉयस' का काफी हाथ होता है। वाचक का कहानीकार कसे भिन्न रूप में विकास प्रेमचंद की कहानियों से ही देखा जा सकता है। 'बड़े भाई साहब' कहानी में उपहास और सहानुभूति की जो जुगलबंदी चलती है वह एक सर्वज्ञ-सर्वदर्शी वाचक के जरिए कहानी में पैदा नहीं हो सकती थी, उपहास और करूणा का यह अद्भुत रासायनिक मिश्रण छोटे भाई को वाचक बना कर ही प्रेमचंद निर्मित करते हैं। इस कहानी के अंत में प्रेमचंद कहानी को नई ऊँचाइयों तक ले जाते हैं। 'बड़े भाई साहब' का अंत कनकौए लूटने के जिस उत्साहपूर्ण उछाल और उड़ान के साथ होता है उस उड़ान में पलायन या अतार्किकता नहीं बल्कि बदले नजरिये की ताज़गी है। कहानी के अंत में आई यह उड़ान भी छोटे भाई की निगाह से ही देखी जा सकती है। यह निस्संदेह प्रेमचंद के शिल्प का कमाल है लेकिन यह प्रेमचंद द्वारा किए गए उस यथार्थवाद का विकास भी है जो परिप्रेक्ष्य की धारणा को साहित्य में ले आती है।

क्या दिखता है, यह इस बात पर बहुत ज़्यादा निर्भर करता है कि उसे देखा कहाँ से जा रहा है। हर कहानी, हर वाकया या कहें कि हर इतिहास किसी न किसी की नज़र से देखा गया वाकया, कहानी या इतिहास है। परम निरपेक्ष होकर कोई घटना बयान नहीं की जा सकती। इसीलिए वाचक की उपस्थिति को ठोस बनाना यथार्थवाद की सीमाओं को और विस्तृत करना है। वाचक की उपस्थिति कथा-साहित्य में क्रमश: ठोस और सजीव होती गई है। कई ऐसी बेजोड़ कहानियाँ हैं जो वाचक-विशेष की स्थिति और पात्रता के कारण अपने अभिप्रेत को पा सकी हैं। यदि उन कहानियों में से इस वाचक विशेष को हटाकर निर्वैर्यक्तिक या तटस्थ वाचक के तौर पर कहानी की घटनाओं को कहा-देखा जाए तो वह असर पैदा नहीं होगा। वाचक भी एक पात्र की तरह ही आता है, उसकी सक्रियता कहानी के घटना-क्रम में हो या नहीं लेकिन उसका अपना एक व्यक्तित्व होता है, उसकी वर्गीय, सामाजिक, लैंगिक, शैक्षिक स्थिति होती है जिससे उसका बयान संचालित होता चलता है। इस वाचक के व्यक्तित्व में जो बदलाव आया है उससे कहानी को जाँचने की एक नई विधि मिल सकती है। इतना कहकर वे बैठ गए।

चर्चा का समाहार करने के लिए हमारे क्लब के एक सदस्य जिन्होंने इतिहास के विषय में उच्च शिक्षा पाई थी और अब एक सफल पत्रकार थे तथा हिन्दी कथा-साहित्य ही नहीं भारत की कई भाषाओं के उपन्यासों, कहानियों के शौकीन थे, को बुलाया गया। वे थोड़ा सकुचाते हुए आगे आए और विनम्रता से अपने अनधिकारी होने की बात कहने लगे। लोगों के आग्रह पर बोले कि कहानीकार महोदय ने बहुत सही बात कही थी कि इतिहास के बदलाव ने कहानी की प्रकृति को इतना बदला है कि आज वह केन्द्र में आ गई है। कहानी की इस केन्द्रीयता के पीछे समय, संस्कृति और तकनीक के बदलावों की भूमिका है। कथा-पत्रिकाओं की बहुतायत, ब्लॉग व फेसबुक के जरिए साहित्यकारों के आपसी संवाद की बढ़ती त्वरा, संचार-क्रान्ति के कारण अपेक्षाकृत अधिक रचनाकारों का विश्व-साहित्य, सिनेमा व अन्य कला-माध्यमों से बेहतर परिचय, सिनेमा और साहित्य के संबंध की पुरानी ठस्स सांस्कृतिक समझ के स्थान पर नए संभावनाशील और पेशेवर रिश्ते पनपने की सुगबुगाहट जैसे घटकों के कारण कहानी के क्षेत्र में नई सर्जनात्मकता का उन्मेष हुआ है। पर इस उन्मेष में सिर्फ़ युवा कहानीकारों की ही भूमिका नहीं है।

आज कहानी में कई पीढ़ियों की सक्रिय उपस्थिति है। यह बात ज़रूर है कि युवा कहानीकारों की मुखर उपस्थिति के समक्ष पिछली पीढियों के कहानीकार प्राय: अनुपस्थित लगते हैं लेकिन कहानी की इस स्थिति को बनाने में उनके प्रयत्नों की बड़ी भूमिका रही है। एक बड़ा चेतनागत उत्परिवर्तन अस्मितामूलक आन्दोलन से जुड़े साहित्य ने पैदा कर ही दिया है। यह अस्मितामूलक आंदोलन स्वयं कई चरणों का सफर कर चुका है और निश्चय ही हिन्दी साहित्य की मुख्यधारा का अहम हिस्सा बन चुका है। अपनी सबसे प्रभावी उपस्थिति इसने कथा-साहित्य के क्षेत्र में ही दिखाई है। इन आंदोलनों ने समाज के हाशियों से आए कितने ही कहानीकारों को साहित्य की मुख्यधारा का अंग बना दिया है। आज कहानी में उम्र, सामाजिक पृष्ठभूमि और क्षेत्र के लिहाज़ से पर्याप्त विविधता है। नतीजतन कहानियों में उससे भी ज़्यादा विविधता है। ऐसे में आलोचना का कोई एक मॉडल बनाना सही नहीं। चाहे वह विषय पर आधारित हो या फिर शिल्पगत प्रयोग पर आधारित। लेकिन कहानी पर चर्चा होती रहनी चाहिए। मुझे इतना ही कहना है।

इस प्रकार हमारी यह चर्चा भी संपन्न हुई।

❐

युवा कहानी : कुछ ज़रूरी सवाल

डॉ. प्रज्ञा

वर्तमान समय, समाज और युवा साहित्य, देखा जाए तो इस विषय से दो ध्वनियाँ सुनाई देती हैं-- वर्तमान में युवाओं की साहित्य में रचनात्मक भूमिका और आज के समय में युवाओं के लिए लिखा गया साहित्य। दरअसल मेरा मानना है कि युवा का संबंध केवल उम्र से नहीं है वह एक मानसिक अवस्था भी है। जोश, जुनून जैसे शब्दों से युवा परिभाषित होता आया है साथ ही अपने समय की चुनौतियों से मुठभेड़ के क्रम में टकराना, जूझना और बेहतर जीवन परिस्थितियों में अपना सक्रिय, सकारात्मक हस्तक्षेप कर रचनात्मक भूमिका तलाशना-ये सभी युवा मानसिकता के चिन्ह कहे जा सकते हैं। और आज का साहित्य अपने जटिल समय से जूझते हुए इन दोनों ही स्तरों पर सक्रिय है।

यदि हम अपने समाज की वर्तमान परिस्थितियों पर नजर डालें तो हमें चारों ओर तमाम तरह के अपराध, शोषण-उत्पीड़न के भयावह तंत्र, भ्रष्टाचार और घोटाले ही दिखाई देते हैं। इसी प्रकार पूरा विश्व आर्थिक मंदी, बेरोज़गारी, युद्ध, ग्लोबल वार्मिंग जैसी समस्याओं से जूझ रहा है। युवा जानता है कि इस चुनौतीपूर्ण समय में उसे न केवल अपने समाज की परिस्थितियों में बल्कि वैश्विक परिस्थितियों से भी संघर्ष करना है। आज का युवा साहित्य इन मानव-विरोधी परिस्थितियों और समय के विकल्पों की तलाश करता है। सीधे शब्दों में कहा जाये तो साहित्य इसी निरंतर परिवर्तनशील समय के प्रति जागरुक मनुष्य की प्रतिक्रिया ही है। वर्तमान समय में युवा साहित्य को मंच देने वाली अनेक लघु पत्रिकाओं जैसे 'लमही', 'परिकथा','नया ज्ञानोदय' के युवा कहानी विशेषांक आए हैं। नए कहानीकारों में विमल चंद्र पाण्डेय, मनोज पांडेय, आदित्य प्रकाश, नीलाक्षी सिंह, संजय कुंदन, प्रियदर्शन, प्रभात रंजन तथा दलित जीवन की कहानियों के संदर्भ में अनीता भारती, रजत रानी मीनू, रत्नकुमार सांभरिया, रजनी दिसोदिया, टेकचंद आदि का नाम लिया जा सकता है। आज की हिंदी कहानी के प्रमुख युवा रचनाकारों की और युवाओं के जीवन की कुछ कहानियों के आधार पर अपनी बात रखने की कोशिश इस लेख के जरिए करूँगी।

वर्तमान समय और समाज में एक बड़ा खतरा लोकतंत्र के खोखलेपन का है। दुनिया के सबसे बड़े लोकतंत्र में आदर्शों के नाम पर जनपक्षीय योजनाओं को स्वीकृति दी जाती है और उनके क्रियान्वयन में तमाम खामियों के साथ जनविरोधी कामों को अंजाम दिया जाता है। नव उदारवादी दौर की कई जनविरोधी आर्थिक नीतियाँ इसका साक्ष्य हैं। सत्ता के जनपक्षीय चेहरे का छद्म बेनकाब हो चला है। सत्ता की शोषण आधारित अमानवीय गतिविधियों में लोकतंत्र का लोक एक पराजित और ठगे वर्ग में तब्दील हो गया है, जिसके बल पर तंत्र फल-फूल रहा है। और पराश्रित-परजीवी यह तंत्र इस कदर भयावह हो चुका है कि जनतांत्रिक अधिकारों के हनन की इसे कोई चिंता-परवाह नहीं है और इस दमन के विरोध में बोलने वाली जनता का सिर कुचलना इसे बखूबी आता है। आज की पूंजीवादी सत्ता जनाधिकारों को निरंतर सीमित करने का प्रयास कर रही है। केंद्र से लेकर राज्य तक सत्ताओं का चरित्र इस कथन की पुष्टि करता है। इधर की कहानियाँ इस यथार्थ को उभारती हैं।

सरकारी प्रयासों को अमलीजामा पहनाने वाले साक्षरता अभियान से लेकर मिड डे मील, नरेगा, मनरेगा जैसी ग्रामीण लाभकारी योजनाओं का हश्र सबके सामने है। ग्रामीण स्तर पर सशक्तीकरण की

लेख:
डॉ. प्रज्ञा
एसोसिएट प्रोफेसर
किरोड़ीमल कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय

इन योजनाओं में अपार धन व्यय हुआ और वास्तविक जनता की हालत वही बनी रही-ठन-ठन गोपाल। सुभाष चंद्र कुशवाहा की कहानी 'नरेगा की नमकीन' इस विडम्बनापूर्ण स्थिति से साक्षात्कार कराती है। ऊपर से लेकर नीचे तक भ्रष्टाचार में लिप्त व्यवस्था खेतीहर मज़दूरों की मजबूरी का फायदा ही नहीं उठाती उनकी सांगठनिक शक्ति को भी तोड़ती है क्योंकि ये वर्ग संगठित हुआ तो तंत्र की दाल कैसे गलेगी? ये संदर्भ देशी-विदेशी घटनाओं को उजागर करता है जहाँ श्रमिक आंदोलन को तो कहीं श्रमिकों को ही कमज़ोर किया जा रहा है। कहानी की शुरूआत मँगरू की चटनी-पकौड़ी की दुकान से होती है जहाँ नरेगा के पैसे बँटने के दिन खासी रौनक रहती है। यह बहार उस दिन देसी ठेके पर भी रहती है। बिना काम के एवज में ग्रामीणों को फौरी लाभ देकर मुनाफा बनाया जाता है। कथाकार ने लिखा है-'जय हो नरेगा महाराज की!' मँगरू का मन मुदित हो पुकार उठता है। नरेगा ने न जाने कितनों का भला किया है। अब तो सरकार साँप-सीढ़ी की बजाय, नरेगा के सहारे सत्ता सीढ़ी का खेल खेलती है। कहती है, खैरात बाँटू योजनाएँ, सीढ़ी दर सीढ़ी आगे ले जाती हैं। साँप का संबंध भविष्य रूपी सिद्धांत से होता है। लोकतंत्र में लोगों को भविष्य रूपी सिद्धांत से क्या काम? उन्हें तो चाहिए तात्कालिक लाभ जैसे पाउच, पैसा, साड़ी और फिर ले सत्ता दे सत्ता। यही तो लोकतंत्र है भाई!'' १

लंपट लोगों को मज़दूर बनाकर, बैंक में उनके खाते खुलवाकर गांव के प्रधान बाबू साहब अपने मातहत धीरज बाबू से मिलकर एक ऐसी टीम बनाते हैं जो उनके नरेगा गोरखधंधे को फलने-फूलने दे और ऑडिट अधिकारियों के सामने प्रधान के खिलाफ कुछ न कहे। ये कहानी जहाँ लोकतंत्र की विसंगतियों और विडम्बना को पूरी व्यंग्यात्मकता के साथ रखती है वहीं इसमें उस व्यवस्था का भी पर्दाफाश किया गया है जिसमें शरीफ युवाओं को हाशिए पर धकेला जाता है और बदमाश, आवारा, लुम्पेन किस्म के युवाओं को बढ़ावा दिया जाता है क्योंकि ये इस भ्रष्ट मशीनरी के सही कलपुर्जे सिद्ध होते हैं। विरोध करने वालों का अमानवीय दमन और उस दमन से औरों को आतंकित करने की मिसाल कायम करने के हथकंडे तक पूरी बेशर्मी के साथ इस्तेमाल किए जाते हैं। सत्ता के चरित्र पर सवालिया निशान दागते हुए लेखक ने जनकल्याण के नाम पर बनी योजनाओं की कलई खोलते हुए लिखा है-''सरकार मूरख है क्या? उसे भी वोट चाहिए। वोट कैसे मिलता है, सरकार खूब जानती है। परधान मजबूत रहेंगे तो उन्हीं की मुट्ठी में गाँव रहेगा। कुछ सोच-विचार कर सरकार नरेगा लाई है। सोची होगी, परधान को खिलाओ और वोट पाओ। जब लखनऊ, दिल्ली वाले खा रहे हैं तो गाँव वाले भी खाएँ सब खाएँ सब पिएँ सब खाएँगें-पीएँगें तो दिल्ली वालों के खाने-पीने पर कौन सवाल करेगा?'' २

बात जब लोकतंत्र और असमानता की होगी तो आधी आबादी की भी होगी। आज के समय में स्त्री से जुड़े सवालों-सरोकारों पर कई बेहतर कहानियाँ लिखी जा रही हैं। उर्मिला शिरीष, लक्ष्मी शर्मा, मनीषा कुलश्रेष्ठ, अल्पना मिश्र, वंदना शुक्ल आदि की कई कहानियाँ स्त्री प्रश्नों से निरंतर जूझती दिखाई देती हैं। वंदना शुक्ल की 'ये शेर-जिगर औरतें' ४, जाफर मेंहदी जाफरी की 'कुड़ीमार' ५, अजय नावरिया की 'अपने-अपने मुखौटे' आदि के साथ इस संदर्भ में युवा कहानीकार नीला प्रसाद की कहानी बार्बी डॉल्स; कथन जुलाई सितंबर २०१२, को ही देखें तो यह एक पढ़ी-लिखी लड़की की कहानी है जो प्रेम विवाह जैसा प्रगतिशील कदम उठाने के वावजूद रिटारमेंट के करीब जाती उम्र में भी अपने पति की नजरों में सुंदर और आकर्षक बने रहना चाहती है। वह लड़की जो एक आदर्शवादी परिवार में जन्म लेती है जहाँ पिता अपनी शिक्षित और संस्कारी बेटियों को फैशन से दूर रखते हुए यही सोचता है कि उसकी होनहार बेटियों के लिए लड़कों की लाइन लग जाएगी। उनका मानना था कि ऐसा जीवन साथी चुनो जो चेहरे की नहीं बुद्धि की कीमत लगाता हो पर लड़की ने जिसे चुना उसने रूप को ही प्राथमिकता दी। विवाहित जिंदगी एक ही डर में कटी कि पति की नज़रों में देह और चेहरा सदा आकर्षक बना रहे। उम्र के कोई निशान पति न देख पाए। लगातार ब्यूटी पार्लर में जाना और उम्र को पीछे धकेलने के सारे नुस्खे अपनाना उसके जीवन का अटूट हिस्सा बन गये थे।

कहानीकार ने मध्यवर्गीय स्त्रियों के जीवन यथार्थ को सामने लाते हुए और ब्यूटी पार्लर के बढ़ते बाज़ार के बीच उन सच्चाइयों को बयान किया है जहाँ कामकाजी और घरेलू दोनों ही स्त्रियाँ सजी-धजी गुड़िया बने रहने को विवश है। सिमोन द बुआ की पंक्ति का व्यावहारिक पक्ष कहानी में घटित होता प्रतीत होता है-'औरत पैदा नहीं होती बनाई जाती है।' औरतों को पैदा होते ही क्या करना है? कैसे रहना जीना है ? सब सवालों के जवाब पितृसत्ता अपने तय किए मानकों के आधार पर समय-समय पर पकड़ाती चलती है। समयानुसार थोड़ी आजादी और आधुनिक बनने के स्वांग भी उसमें शामिल रहते हैं पर दृष्टिकोण नहीं बदलता। पार्लर में आने वाली अधिकांश महिलाएँ स्वेच्छा से नहीं, दबावों के तहत वहाँ आती हैं। वहीं उन सामाजिक अंतर्विरोधों की परतें भी उनके संवाद में खुलती हैं-''अब देखो न शादी के समय कभी किसी लड़के से किसी ने पूछा है उसके कंधे कमर का माप, जैसे लड़की का नापा जाता है। मिडिल क्लास में कोई परवाह करता है कि लड़के का शरीर कैसा है? दुबला है तो कोई बात नहीं लड़की खिलापिलाकर ठीक कर देगी। नाटा है तो क्या हुआ कमाता तो मोटा है न। लड़की का काम है उसे वश में रखना। उसके दुर्गुण न देखकर उसकी पसंद की बने रहना। जैसा वह चाहे, वैसे ही ढल जाना। पर लड़के को कोई यह नहीं सिखाता कि पत्नी में अवगुण मत खोजो, उसे कोई और बनने पर मजबूर किए बिना प्यार करो...।''५

उसी पार्लर में इस कामकाजी औरत की दोस्ती एक ऐसी लड़की से होती है जिसके पास न नौकरी है न शिक्षा, न साथ देने वाले माता-पिता। भाई भी है तो जिसने बहन की शादी करके बोझ से मुक्ति पाई। ससुराल की दहेज लालसा की अतृप्ति और सुंदरता के भूखे पति दोनों को संतुष्ट करने के लिए दिन भर गधे की तरह खटना और सुंदर बने रहना ही उसके जीवन का एकमात्र उद्देश्य बन जाता है। अपनी सारी पीड़ा साझा करने वाली दीपाली अंत में कथानायिका को एक एस एम एस करती है-'गुड बाय आंटी' और खबर आती है कि बेटे के जन्म के कुछ दिन बाद दीपाली ने आत्महत्या कर ली। लेखिका लिखती है-''गुड़िया बने रहने की कोशिश में दीपाली और मैं दोनों मारे गये। उसका मरना सबको पता था, पर मेरा रोज़-रोज़ धीरे-धीरे मरना कोई जानता तक नहीं था।''६ दीपाली की त्रासद मौत उससे उठे कई सवालों को उठाती है। फ्रांसीसी क्रांति के समय स्त्री विमर्श की आदि

चिंतक मेरी वोल्स्टन क्राफ्ट ने भी यह सवाल उठाया था कि 'क्या ज़रूरत है महिलाओं को हमेशा सुंदर और प्रीतिकर बने रहने की?' यह कहानी सुंदरता बरकरार रखने वाले देसी-विदेशी बाज़ार से अधिक उस वैश्विक नज़रिए के खिलाफ जाती है जिसकी निगाह में शारीरिक सौंदर्य ही स्त्री की एकमात्र उपलब्धि और योग्यता है। दरअसल इसके पीछे स्त्री विरोधी कुरूप विचारों की दुनिया साफ दिखाई देती है कि सजी-धजी गुड़िया बने रहो और गुड़िया की ही तरह मौन रहो। स्त्री की पहचान, उसका अस्तित्व सब बेमानी बातें हैं। स्त्री को सुंदर बनाए रखने के इस अभियान में छिपी अमानवीयता साफ तौर पर उभरकर आती है और खुद स्त्री इस नजरिए में धीरे-धीरे इतनी गिरफ्त होती जाती है कि अपने विरुद्ध की जा रही कार्यवाही में न सिर्फ शामिल होती जाती है बल्कि हथियार भी मुहैया कराती है।

वर्तमान समय और समाज में सामने आ रही कई चुनौतियों में धर्म भी एक जटिल समस्या है। धर्म का बाजार आज अपने चरम पर है और बाजार का एक ही मंत्र है-मुनाफा। धर्म की स्वच्छ पवित्र सहज उदार मानवीय छवि के बरक्स दिखाई देती है सुरसरियों और तीर्थों में फैली तमाम गंदगी और प्रदूषण, भक्तों को लूटने के गोरखधंधे, धर्म के भौंडे प्रदर्शन, और धर्म के नाम पर अमानवीय बनाने वाली संकीर्णताएँ और दुराचार। अकूत धन और अंध आस्थाओं ने धर्म में दान और भक्ति को भी बड़ी फैशनेबल सी चीज़ बना दिया है। आज के समय में एक ओर बलात्कारी और अपराधी धार्मिक बाबाओं के अभिजातीय आतंक से सत्ता, पुलिस प्रशासन मौन रहते हैं तो दूसरी तरफ धार्मिक अंधविश्वासों के खिलाफ अभियान छेड़ने वाले दाभोलकर जैसे सच्चे कार्यकर्ताओं को मौत के घाट उतार दिया जाता है। यही नहीं धर्मिक तीर्थ भी आज पर्यटन उद्योग के गढ़ हैं जहाँ प्राकृतिक संसाधनों का जमकर दोहन हो रहा है जिसकी भयावह त्रासदियों से हम अनजान नहीं हैं।

परिकथा में युवा-कहानी स्तंभ में मनोज तिवारी की कहानी 'एक्सपायरी डेट' एक तीर्थ स्थान के जरिए धर्म और धन के नाभिनालबद्ध रूप को उजागर करती है। कथावाचक पूरी यात्रा में खुद को लुटा हुआ और असहाय पाता है। बच्चे से लेकर वृद्ध तक सब नोंच-खसौट में लगे हैं। भक्ति-भावना का लेश मात्र कोई चिन्ह नहीं है। भक्ति एक ऐसा समीकरण है जिसके बराबर में पूँजी और उसकी नृशंसताओं को रखा जा सकता है। जिस धर्म की पवित्र भावना को लेकर वह आया था वह काफूर हो उठती है और मन कई सवालों से घिर जाता है- ''पाप नाशिनी गंगा को आज क्या हो गया है?...गंगा के तट पर इतना व्यापार और अधर्म कैसे? हर की पौड़ी पर पुण्य की जगह पाप कैसे छा गया?...फिर लगा क्या गंगा मैया की पाप धोने की क्षमता भी एक्सपायरी डेट के पार हो चुकी है ?'' ७ कहानी भले ही धर्मिक-सांस्कृतिक अंर्तविरोधों का गहन विश्लेषण न करती हो पर उसके सवाल अपनी जगह वाजिब हैं। धर्मिक-साम्प्रदायिक गठबंधन की मानवविरोधी और चरम अनैतिक वृत्ति का खुलासा संतोष चौबे की 'गरीब नवाज' ८, उर्मिला शिरीष की 'दीवार के पीछे' ९ जैसी सशक्त कहानियों में हुआ है। वर्तमान समय में धर्म और साम्प्रदायिकता के जरिए कैसे युवा को दिग्भ्रमित और आतंकित किया जा रहा है-ये कहानियाँ बेहतर तरीके से बताती हैं। प्रेमी युवाओं को साम्प्रदायिक शक्तियाँ किस तरह अपने मिशन का हथियार बनाती हैं- उर्मिला शिरीष की कहानी में देखा जा सकता है। प्रेम करने वाला हिंदू लड़का और मुस्लिम लड़की शबाना के जरिए मानवविरोधी कार्यों को अंजाम देने वाली शक्तियों का मानना है-''दरबान अगर हमारे चंगल से भूले-भटके, सताए, बेघर, बेसहारा प्रेमी-प्रेमिका इसी तरह भागते रहे, तो हमारा काम कैसे चलेगा...सब कुछ भूलकर वे एक-दूसरे के लिए फना हो जाते हैं...बस...यही तो वक्त होता है जब इन्हें तोड़ लो... इनका इस्तेमाल कर लो।'' ११

वर्तमान समय के कई दबावों में एक मुख्य दबाव तकनीक का भी है जिसने आज पूरे जीवन को घेर लिया है। इसके चलते सबसे बड़ा आघात संबंधों और संवेदनाओं पर हुआ है। बात अब टी.वी. से कहीं आगे निकल गई है। सोशल मीडिया के नाम पर आज फेसबुक, टिविटर, वट्स एप जैसे मंच स्मार्ट फोन, टैब जैसे यंत्रों के बीच आज बचपन भी कैद है। इन तमाम गंभीर चिंताओं को आज की कहानी उठा रही है। ओमा शर्मा की 'दुश्मन मेमना' ऐसी ही चर्चित कहानी है जिसका पिता अपनी बेटी के लिए परेशान है। मध्यवर्गीय एकल परिवार के जीवन की त्रासदी को ये कहानी बयान करती है।

'वह सब भी ठीक है मगर बच्चा पढ़ तो ले! ये मैडम तो स्कूल से लौटकर घर में घुसी नहीं कि सीधे फेसबुक पर ऐसे टूटती है जैसे देर से पेशाब का दबाव लगा हो और घंटों उसी पर लगी रहेगी। तब न खाने-पीने की सुध रहती है और न सर्दी-गर्मी लगती है। लोगों के बच्चे होते हैं जो स्कूल से आते ही सब काम छोड़कर होमवर्क में जुट जाते हैं, टीवी तक नहीं देखते और एक हमारी है। जब खराब नम्बरों से ही डर नहीं तो होमवर्क की क्या बिसात! मैं तो बस सुनता रहता हूँ कि इसके एक हजार से ज्यादा फेसबुक फ्रैंड्स हैं। एक दिन बिना लॉग आउट किए कंप्यूटर बन्द कर दिया होगा। मीरा ने जब उसे चालू किया तो पुराना एकाउंट रीस्टोर हो गया। क्या-क्या तो अजीबोगरीब फोटो डाल रखे हैं। टैक्नोलॉजी ने तीतर के हाथ बटेर पकड़ा दी है। पता नहीं कितने और कहाँ-कहाँ के तो लड़के दोस्त बना रखे हैं। इस उम्र के लड़के भेड़िए होते हैं इसलिए लड़कियों को ही सँभल कर चलना होगा। मगर यह तो रत्ती भर नहीं सुनती है। मैं उसके पास जाकर बैठूँ भी तो खट से कंप्यूटर को मिनीमाइज कर देगी या एस्केप बटन दबा देगी। न बेस्ट का मतलब पता है, न फ्रैंड का मगर बेस्ट फ्रेंड दर्जन भर हैं। मैं कुछ समझाने-चेताने लग जाऊँ तो अपनी जरा सी 'हो गया' से मुझे झाड़ देगी।'१२

आज के आधुनिक, तकनीक प्रधान युग में बच्चों के जीवन से जुड़े कुछ कड़वे सच इधर की कहानियों में मिलते हैं। महानगर में आज के समय में भी बच्चे सदियों से चले आ रहे जातिगत दंश को किस तरह झेलते हैं इसे रजनी दिसोदिया की कहानी 'बेस्ट फ्रेंड' के माध्यम से देखा जा सकता है। कहानी में दलित होने के कारण बच्ची के जन्मदिन पर पड़ोसी परिवार बच्चों को आयोजन में शामिल नहीं होने देते। आधुनिक जीवन किस तरह रूढ़िग्रस्त और सामाजिक अन्याय की जड़ों को मजबूती देता है, इसे रजनी की कहानी दिखाती है।

समय की राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक उठापटक से गुजरती,वैश्विक स्तर पर नई चुनौतियों से जूझती, धार्मिक संकीर्णता से लोहा लेती और बेहतर भविष्य की राह तलाशती आज की कहानियों के बीच जब प्रियदर्शन के कहानी संग्रह 'उसके हिस्से का जादू' की कहानियों को पढ़ते हैं तो लगता है कि जैसे इन तमाम संघर्षों से सृजित हुआ

मनुष्य लगातार किसी गंभीर खोज में व्यस्त है। समय के तमाम दबावों के बीच गायब होते जा रहे बचपन की पीड़ा, तेज़ी से बदलते जा रहे नौजवान सपने, आपाधापी से भरी यांत्रिक जिंदगी में कहीं पीछे छूटता जा रहा बुजुर्गों के स्नेह का सम्बल और विडम्बनामयी यथार्थ के साथ प्रियदर्शन की कहानियाँ बड़ी बेचैनी से उन संबंधों, स्मृतियों को तलाशने का काम करती हैं जो विपरीत परिस्थितियों में जीवन का आधार बन सके।

'अजनबीपन'१२ कहानी में दिल्ली के टेलिफोन बूथ पर भोपाल, राँची,भरतपुर, बुलंदशहर से आए लड़के-लड़कियों के चेहरों का रूखापन, सख्त भावहीन और यांत्रिक परत घर के लोगों से बातचीत करने के दौरान एकदम हट जाती है और उसके भीतर से भोले, प्यारे, सहज चेहरे निकल आते हैं। घर से मीलों दूर, फोन के जरिए संबंधें को जीने-महसूस करने की कुछ पलों की कोशिश में ये सभी अजनबी समान चिंताओं को लिए एक ही धरातल पर खड़े दिखायी देते हैं। विस्थापन के साथ ही साम्प्रदायिकता की समस्या के चलते 'खोटा सिक्का' १३ के जलील साहब अपने ही मुल्क में बेघर और अजनबी बन जाते हैं। अयोध्या और गोधरा जैसी घटनाओं के माधयम से प्रियदर्शन ने उस संकीर्ण मानसिकता को उभारा है जिसके तहत हर मुसलमान को आतंकवादी घोषित किया जाने लगता है। देश के स्तर पर घर को खोजने वाली जलील साहब की पीड़ा में कई हिंदू परिवारों का सहयोग कहानी का सकारात्मक पक्ष है। घर की खोज में निकली इन कहानियों की खासियत यह है कि ये हमेशा अकेलेपन से लड़ने का कोई औजार ढूँढ़कर सुखद मोड़ पर ही विराम पाती हैं।

जीवन की गति के साथ समय की कड़ी चुनौती आज के साहित्य का गुणधर्म है। आज का साहित्य अपने वर्तमान से निराश है, इस निराशा के क्रम में वह न सिर्फ नए सवाल उठाता है बल्कि पाठकों और खुद अपने पर इन सवालों के नए जवाब ढूँढ़ने की जिम्मेदारी भी डालता है इसीलिए उसकी कहानियाँ बेहतर संभावनाओं की ओर इशारा करती हैं।

यह युवा साहित्य वर्तमान समय की भाषा और मुहावरे में आज के समय को देख रहा है।

❐

संदर्भ:

१ कल के लिए (मार्च-२०१३)-संपादक डॉ. जयनारायण, पृष्ठ-४५

२ वही, पृष्ठ-४७

३ पाखी (फरवरी-२०१३)-संपादक प्रेम भारद्वाज, पृष्ठ-२६

४ परिकथा (जनवरी-मार्च-२०१३)-संपादक शंकर, पृष्ठ-५८

५ कथन त्रैमासिक (जुलाई-सितंबर-२०१३)-संपादक संज्ञा उपाधयाय, पृष्ठ-२५५

६ वही, पृष्ठ-१३

७ वागर्थ (जुलाई-२०१३) संपादक एकांत श्रीवास्तव,कुसुम खेमानी, पृष्ठ-२३

८ कथन त्रैमासिक (जुलाई-सितंबर-२०१२)-संपादक संज्ञा उपाधयाय, पृष्ठ-३०

९ वही, पृष्ठ-३१

१० परिकथा (जनवरी-मार्च-२०१३)-संपादक शंकर, पृष्ठ-२७

११ वागर्थ (जुलाई-२०१३) संपादक एकांत श्रीवास्तव,कुसुम खेमानी, पृष्ठ-२३

१३ उसके हिस्से का जादू-प्रियदर्शन, पृष्ठ-७७

आगे की कहानी

रमेश उपाध्याय

अंग्रेज़ी में होने वाली आख्यान-चर्चा में 'नैरेटिव' (आख्यान) के साथ-साथ 'स्यूडो-नैरेटिव' (छद्म-आख्यान) की चर्चा भी होती है, जिसका संबंध प्रायः सोवियत संघ की समाजवादी व्यवस्था का गुणगान करने के लिए लिखी या लिखवायी गई प्रचारात्मक कहानियों से जोड़ा जाता है। कहा जाता है कि 'समाजवादी यथार्थवाद' के नाम पर लिखी या लिखवायी गयी ऐसी कहानियाँ झूठी या गढ़ी हुई कहानियाँ थीं, जिनसे आख्यान का नाम बदनाम हुआ। लेकिन उस चर्चा में उन कहानियों का जिक्र कहीं नहीं होता, जो धर्म, नैतिकता, सदाचार, शिष्टाचार या व्यापार की शिक्षा देने के नाम पर अथवा जनता का मनोरंजन करने के नाम पर लिखी या लिखवायी जाती हैं। ऐसी कहानियाँ रूस की समाजवादी व्यवस्था के जन्म से पहले भी लिखी-लिखवायी जाती थीं और आज भी दुनिया भर में लिखी-लिखवायी जाती हैं, जबकि सोवियत संघ का नाम ही दुनिया के नक्शे से मिट चुका है।

लेखक को थोड़े-से पैसे या कोई प्रलोभन देकर किसी भी विषय पर कैसी भी कहानी लिखवा लेने वाले लोग केवल फिल्मी दुनिया में नहीं होते, वे पत्रकारिता, पुस्तक-प्रकाशन, इलेक्ट्रॉनिक मीडिया और धर्म तथा राजनीति के क्षेत्रों में भी होते हैं। मगर आख्यानशास्त्रियों का ध्यान या तो इस तरफ जाता ही नहीं, या वे ऐसी कहानियों को 'छद्म-आख्यान' की कोटि में नहीं रखते। आजकल मिथकों पर बच्चों और बड़ों के लिए कहानियाँ लिखवाने, चित्रमालाएँ बनवाने, फिल्मों और टी.वी. सीरियलों के लिए मिथक-आधारित कथाएँ-पटकथाएँ लिखवाने का धंधा दुनिया भर में खूब चल रहा है। लेकिन मिथकों को कोई आख्यानशास्त्री 'छद्म-आख्यान' नहीं कहता। उलटे, उन्हें 'पवित्र आख्यान' कहकर महिमामंडित किया जाता है। उदाहरण के लिए, १९८४ में कैलिफोर्निया विश्वविद्यालय (बर्कले) से प्रकाशित पुस्तक 'सेक्रेड नैरेटिव : रीडग्स इन दि थियरी ऑफ मिथ' को देखा जा सकता है, जो संपादक एलन डंडास के इस वक्तव्य से शुरू होती है कि ''मिथक पवित्र आख्यान हैं'' और पुस्तक में शामिल इक्कीस टिप्पणीकार इसका समर्थन करते हैं!

आख्यानशास्त्री जानते और मानते हैं कि टी.वी. पर दिखाये जाने वाले प्रायः सभी विज्ञापनों में एक आख्यान होता है। कुछ सेकेंड जितनी छोटी ही सही, एक कहानी होती है, और विज्ञापन का दूसरा नाम प्रचार है। लेकिन इन आख्यानों को न तो कोई छद्म-आख्यान कहता है और न प्रचारात्मक कहानियाँ। इसी तरह धर्म, सभ्यता, संस्कृति, नैतिकता, सदाचार, देशभक्ति या राष्ट्रवाद के नाम पर राजनीतिक प्रचार करने वाली कहानियों को भी कोई प्रचारात्मक नहीं कहता। मगर जनहित, जनवाद, समाजवाद इत्यादि की बात करने वाली कहानियों पर तुरंत 'प्रचारात्मक' का ठप्पा लगा दिया जाता है और उन्हें 'छद्म-आख्यान' की कोटि में डाल दिया जाता है।

यह सब देखकर लगता है कि पिछले कुछ वर्षों में पूँजीवादी भूमंडलीकरण के साथ-साथ जिस आख्यानशास्त्र का बोलबाला हुआ है, वह शायद स्वयं ही एक जबर्दस्त प्रचार और छद्म-आख्यान है। 'महा-आख्यानों' के अंत की घोषणा करने वाले उत्तर-आधुनिकतावाद से आख्यानशास्त्र का क्या संबंध है, यह जगजाहिर है। और अब यह भी कोई छिपी हुई बात नहीं रह गई कि उत्तर-आधुनिकतावाद आज के भूमंडलीय पूँजीवाद की विचारधारा है। अतः जब 'आख्यान' के आगे 'छद्म' और 'पवित्र' जैसे विशेषण लगाये जायें, तो इसमें निहित राजनीति और प्रचारात्मकता को समझना कुछ मुश्किल नहीं रहता।

लेकिन हमारा वर्तमान समय कुछ ऐसा है कि

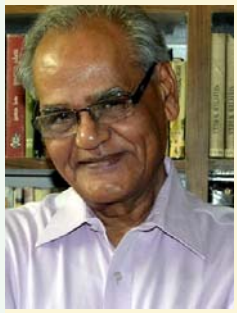

डॉ. रमेश उपाध्याय
१०७, साक्षरा अपार्टमेंट्स,
पश्चिम विहार, नयी दिल्ली-११००६३
ई-मेल : rameshupadhyaya@yahoo.co.in
मोबाइल : ०९८१८२४४७०८

इसमें सच और झूठ या 'फैक्ट' और 'फिक्शन' में फर्क कर पाना बहुत मुश्किल हो गया है। कारण यह है कि घर में माता-पिता और स्कूल में अपने शिक्षकों से झूठ बोलने वाले बच्चों से लेकर अपने देश की जनता और शेष सारी दुनिया से झूठ बोलने वाले राष्ट्राध्यक्षों तक तमाम लोग झूठी कहानियाँ गढ़ते हैं और मीडिया तो छोटे-छोटे विज्ञापनों से लेकर बड़ी-बड़ी खबरों तक में प्राय: झूठी ही कहानियों ('स्टोरीज') का कारोबार करता है।

उदाहरण के लिए, अमरीका ने इराक में व्यापक विनाशकारी हथियारों के होने की झूठी कहानी गढ़ी और उसके आधार पर किये गये आक्रमण से लाखों लोगों को तबाह करके उस देश पर कब्जा कर लिया। लेकिन इस महा छद्म- आख्यान का विरोध कितने आख्यान शास्त्रियों और उत्तर-आधुनिकता-वादियों ने किया? और इस सबमें मीडिया की भूमिका क्या रही, जिसने असंख्य छोटे-छोटे छद्म-आख्यान समाचारों के नाम पर सारी दुनिया में फैलाये?

साहित्य के बारे में कुछ लोग कहते हैं कि सच कहने के लिए यही एक जगह बची है। लेकिन क्या यह भी सच है? शायद नहीं। साहित्य में भी खूब झूठ बोला जाता है और, बकौल रामविलास शर्मा, कुछ लोग तो झूठ इतनी सफाई और खूबसूरती से बोलते हैं कि उसे सच से भी ज्यादा सुंदर, आकर्षक और प्रभावशाली बना देते हैं। यह चीज़ आज हिंदी या अन्य भारतीय भाषाओं के साहित्य में ही नहीं, सभी देशों की सभी भाषाओं के जन-विरोधी या मानव-विरोधी साहित्य में देखी जा सकती है।

ऐसी स्थिति में अगर कोई यह कहे कि वह यथार्थवादी है या यथार्थवादी कहानी लिखता है, तो सयाने लोग उससे शायद यही पूछेंगे कि यथार्थवाद क्या होता है। और निश्चित है कि आज बड़े से बड़े यथार्थवादी के लिए यह बताना मुश्किल हो जायेगा कि यथार्थवाद क्या है। यथार्थवाद के कुछ भिन्न और परस्पर-विरोधी रूप तो पहले के साहित्य में भी देखे जा सकते थे, मसलन, 'नेचुरलिस्ट' लोगों का यथार्थवाद, 'रोमेंटिक रिवोल्यूशनरी' लोगों का यथार्थवाद, 'बुर्जुआ क्रिटिकल रियलिज्म' या 'सोशलिस्ट रियलिज्म' में यकीन करने वालों का यथार्थवाद और हम हिंदी वालों का 'आदर्शोन्मुख यथार्थवाद'। इन विभिन्न प्रकार के यथार्थवादों के बीच चाहे जितना फर्क, अंतराल या अंतर्विरोध रहा हो, एक चीज़ समान थी : सच के पक्ष में खड़े होकर झूठ से लड़ना। ज्यादातर मामलों में सबके 'सच' और 'झूठ' अलग-अलग होते थे, फिर भी एक चीज सबमें समान रहती थी : असत्य के विरुद्ध सत्य के लिए लड़ना, अन्याय के विरुद्ध न्याय के लिए लड़ना, बुराई के विरुद्ध अच्छाई के लिए लड़ना, अनैतिकता के विरुद्ध नैतिकता के लिए लड़ना, भदेसपन के विरुद्ध उदात्तता के लिए लड़ना, कुरूपता के विरुद्ध सुंदरता के लिए लड़ना और बर्बरता के विरुद्ध मनुष्यता के लिए लड़ना। यथार्थवाद वास्तव में यही था, चाहे उसका नाम और रूप कुछ भी हो।

मगर आज? उत्तार-आधुनिकतावाद ने सारे यथार्थवादों की छुट्टी कर दी है। उसमें सत्य और असत्य के बीच, न्याय और अन्याय के बीच, अच्छे और बुरे के बीच, नैतिक और अनैतिक के बीच, उदात्त और भदेस के बीच, सुंदर और असुंदर के बीच, मनुष्यता और बर्बरता के बीच कोई फर्क ही नहीं किया जाता। उसमें तमाम परस्पर-विरोधी यथार्थ कथाकार के खिलंदड़ेपन या मसखरेपन और हर चीज को तुच्छ तथा हास्यास्पद बताकर खारिज कर देने वाले बड़प्पन के चलते एक जैसे हो जाते हैं! उत्तार-आधुनिकतावादी साहित्यिक सिद्धांत लेखकों को यही सिखाते हैं और उनके अनुसार लिखने वाले लेखक अपनी कहानियों में यही दिखाते हैं! शायद इसीलिए आज के अधिकांश फैशनेबल कथा-लेखन को देखकर तरह-तरह के संदेह मन में उठते हैं, जैसे, क्या हम एक विश्वव्यापी विराट् विभ्रम में जी रहे हैं, जहाँ सच, यथार्थ या वास्तविकता को पकड़ पाना और उसे समझकर उसकी कहानी कह पाना असंभव हो गया है? क्या कहानी लिखना ही व्यर्थ हो गया है? क्या इसीलिए बहुत-से कहानीकारों ने कहानी लिखना बंद कर दिया है? क्या इसीलिए नये कहानीकार भी कहानी में कुछ खास नया नहीं कर पा रहे हैं? क्या इसीलिए ऐसा लग रहा है कि कहानी ठहर-सी गयी है और आगे नहीं बढ़ पा रही है?

लेकिन कहानी हमारे जीवन की एक अनिवार्य आवश्यकता है। मानवीय जीवन जीने के लिए हमें बहुत सारी अमानवीयता से लड़ते-भिड़ते आगे बढ़ना होता है। उस लड़ाई में कहानियाँ कदम-कदम पर हमारा साथ देती हैं। इसीलिए हम कहानियाँ कहते-सुनते हैं, पुरानी कहानियों को नये रूप तथा नये अर्थ देते हैं (तथाकथित पवित्र आख्यानों को भी नयी व्याख्याएँ देकर फिर-फिर रचते हैं) और नई ज़रूरतों के मुताबिक नई कहानियाँ गढ़ते हैं। इसी तरह ज़िंदगी आगे बढ़ती है, इसी तरह कहानी आगे बढ़ती है।

१९६० के आसपास सारी दुनिया में यह महसूस किया जाने लगा था कि आधुनिकतावाद कहानी का दुश्मन है, क्योंकि वह कहानी को मनुष्य के उपयोग की वस्तु नहीं रहने देना चाहता, बल्कि एक शुद्ध कलात्मक या सौंदर्यशास्त्रीय वस्तु बनाना चाहता है। इसके लिए आधुनिकतावादियों ने कहानी में से आख्यान को निकालने की कोशिश की, जिससे कहानी का कहानीपन खत्म हुआ और वह कहानी ही नहीं रही, 'एंटी-स्टोरी' (या हिंदी की 'अकहानी') बन गयी। उन्होंने कहानी के जो सौंदर्यशास्त्रीय प्रतिमान बनाये, वे कहानी के ही विरुद्ध थे। इसीलिए उन प्रतिमानों के आधार पर की गयी कहानी-समीक्षा में यह प्रश्न कभी नहीं उठाया गया कि कहानीकार को अपनी कहानी की अंतर्वस्तु जिस समाज से मिलती है, उस समाज के प्रति और जिस भाषा में वह कहानी लिखता है, उस भाषा के प्रति और स्वयं कहानी की साहित्यिक विधाा के प्रति भी उसका कोई दायित्व होता है या नहीं!

हिंदी में 'जनवादी कहानी' ने आधुनिकतावादी 'नयी कहानी' और 'अकहानी' के आंदोलनों की कमियों, कमजोरियों और गलतियों से काफी कुछ सीखा। उसने स्वयं को जनता और जन-आंदोलनों से जोड़ा। कहानी को सामाजिक परिवर्तन का उपकरण बनाने का प्रयास किया। हिंदी कहानी की समृद्ध परंपरा को पहचाना और उसे आगे बढ़ाने का प्रयास किया। उसी के जरिये हिंदी कहानी, जो एकदम सपाट चेहरे वाले 'वह' की बकवास हो गयी थी, ऐसे जीते-जागते लोगों की कहानी बनी, जो अपने नाम-धाम और काम से पहचाने जा सकते थे। और उसी के जरिये कहानी में वह कहानीपन वापस आया, जो 'नयी कहानी' और 'अकहानी' के आधुनिकतावादियों ने लगभग गायब कर दिया था।

लेकिन देखते-देखते कहानी क्या, दुनिया ही बदल गयी। पूँजीवादी भूमंडलीकरण की प्रचंड आँधी पहले का बहुत कुछ उड़ा ले गयी। यहाँ तक

कि सोवियत संघ जैसी 'महाशक्ति' भी उसमें ध्वस्त हो गई और आत्मनिर्भरता की बात करने वाले हमारे देश में निजीकरण तथा उदारीकरण की तेज़ धूल भरी हवाएँ चलने लगीं, जिनके कारण समाजवाद का सपना तो धूमिल हुआ ही, जनवाद को भी बेकार बताने और बनाने के सिलसिले शुरू हो गये। 'जनवादी कहानी' साहित्य में 'आउट ऑफ फैशन' हो गयी और 'जादुई यथार्थवाद' का नया फैशन चल पड़ा।

ऐसा लगने लगा, जैसे कल तक जो सामाजिक यथार्थ कहानी में आ रहा था, वह किसी जादू के जोर से अचानक गायब हो गया हो! जैसे भूख, गरीबी, बीमारी, बेरोजगारी, शोषण, दमन, उत्पीड़न आदि की समस्याएँ छूमंतर हो गई हों! शोषक-उत्पीड़क पूँजीपतियों और भूस्वामियों को मानो आम माफी मिल गई हो और वामपंथी-जनवादी लोग ही कटघरे में खड़े किये जाने लायक रह गये हों! कल तक हिंदी का जो कहानीकार प्रेमचंद, निराला और मुक्तिबोध के नाम जपता हुआ दबे-कुचले, सताये हुए मजदूरों, किसानों और मध्यवर्गीय मेहनतकश स्त्री-पुरुषों को क्रांति का हिरावल दस्ता समझता था, वह मानो गरीब 'हिंदीवाला' से अचानक अमीर अंग्रेज़ी वाला हो गया और किसी ऊँचे आसन पर बैठकर हिंदी के लेखकों पर हिकारत के साथ हँसने लगा। यथार्थ को समझने और बदलने से संबंधित गंभीर चिंताएँ मानो एकाएक ही बेमानी हो गयीं और खिलंदड़ापन ही सबसे बड़ा साहित्यिक मूल्य बन गया। हिंदी के बहुत-से कहानीकार एकदम पलटकर जनोन्मुख से अभिजनोन्मुख हो गये। वे अपनी कहानियों में अभिजनों की-सी भाषा बोलने लगे तथा अभिजनों के प्रिय विषयों पर चटपटी कहानियाँ लिखने लगे।

इसी दौरान यह भी हुआ कि हिंदी के ऐसे बहुत-से लेखक, जो अपसंस्कृति, उपभोक्तावाद और बाजारवाद को तथा इन चीजों से समाज को प्रदूषित करने वाले मीडिया को कोसा करते थे, अचानक मीडिया में छाये रहने में ही अपनी कुशलता और सफलता समझने लगे। वे ''जन-जन तक अपनी बात पहुँचाने'' के लिए ''बड़े संचार माध्यमों का इस्तेमाल'' करने की बातें करने लगे और लघु पत्रिकाओं के बारे में कहने लगे कि ये लेखकों द्वारा और लेखकों के लिए ही निकाली जाती हैं, आम जनता तक तो पहुँचती नहीं, इसलिए इनमें लिखना व्यर्थ है! अब यह तो वे ही जानें कि मीडिया का इस्तेमाल उन्होंने किया अथवा मीडिया ने उनका, लेकिन उनके द्वारा लिखी जा रही कहानियों पर मीडिया का असर साफ दिखायी पड़ रहा है। मीडिया हर चीज को सनसनीखेज बनाता है, चाहे वह समाचार हो या विचार, लोगों की ज़िंदगी हो या उनकी कहानी। वह कहानी को सेक्स, हिंसा और स्केंडलबाजी से ही सनसनीखेज बना सकता था और यही उसने किया। विडंबना यह कि कुछ ही हजार छपने वाली कुछ साहित्यिक पत्रिकाएँ भी बड़े संचार माध्यमों की-सी सनसनीखेज पत्रकारिता करने लगीं। उनमें ऐसी कहानियाँ छपने लगीं, जिनकी साहित्यिक गुणवत्ता या मूल्यवत्ता चाहे अत्यंत संदिग्ध हो, पर उनसे किसी तरह की सनसनी पैदा होती हो!

यहाँ कहानी-समीक्षा एक सार्थक हस्तक्षेप कर सकती थी। लेकिन हिंदी में कहानी की समीक्षा नहीं, सिर्फ चर्चा होती है और चर्चित कहानी को ही अच्छी, श्रेष्ठ, महत्त्वपूर्ण और प्रतिनिधि कहानी मान लिया जाता है। इसलिए हिंदी के कहानीकार चर्चित हो जाने में ही अपनी सफलता समझने लगते हैं। उन्हें कहानी का सार्थक, सोद्देश्य, प्रासंगिक, कलात्मक आदि होना महत्त्वपूर्ण नहीं लगता, महत्त्वपूर्ण लगता है चर्चित होना। और चतुर कहानीकार जानते हैं कि चर्चा कैसी कहानियों की होती है तथा किस प्रकार करायी जाती है। लेकिन ऐसी प्रायोजित चर्चाओं से न तो कहानी आगे बढ़ती है, न कहानी-समीक्षा। आगे बढ़ने के लिए बदलती हुई वर्तमान परिस्थितियों को अतीत और भविष्य के संदर्भ में समझना तथा उनके बीच से आगे जाने का रास्ता निकालना जरूरी है।

आज के हिंदी साहित्य में परिवर्तन तो बहुत हो रहे हैं, लेकिन हर तरह के परिवर्तन विकास और प्रगति के सूचक नहीं होते। अत: उनकी गंभीर समीक्षा अत्यंत आवश्यक है। उदाहरण के लिए, पिछले कुछ ही वर्षों में हमारी साहित्यिक शब्दावली में जो परिवर्तन आये हैं, उन पर विचार करें साहित्य में तो कोई आंदोलन रहा ही नहीं, जन-आंदोलनों या सामाजिक आंदोलनों के प्रति भी हमारा रवैया किस तरह बदल गया है, इसे हम अपनी साहित्यिक शब्दावली के स्तर पर स्पष्ट देख सकते हैं। 'आंदोलन' देखते-देखते 'विमर्श' बन गये हैं। स्त्री आंदोलन की जगह स्त्री विमर्श! दलित आंदोलन की जगह दलित विमर्श! आंदोलन की कहानी लिखने के लिए लेखक को आंदोलनकारियों के बीच जाना पड़ता था, उनके सुख-दुख और संघर्ष में शामिल होना पड़ता था, कुछ कष्ट उठाने पड़ते थे, कुछ त्याग और बलिदान करने के लिए भी तैयार रहना पड़ता था; जबकि विमर्श मंचों पर बोलकर या घर में अकेले बैठकर लिखते हुए भी किया जा सकता है। अत: विमर्शों वाली कहानी जन-आंदोलनों से ही नहीं, जन-जीवन से भी कटती जा रही है।

इसी तरह 'वर्ग' की जगह 'जाति' की बात होने लगी है। 'जनता' की जगह 'अस्मिता' की बात होने लगी है। 'सामाजिक संघर्ष' की जगह 'पहचान के संकट' की बात होने लगी है। 'मुक्ति' की जगह 'मान' की बात होने लगी है। लेकिन इन परिवर्तनों से हासिल क्या हो रहा है? क्या वर्ग को भुलाकर जाति की बात करने से गरीब दलितों का शोषण, दमन और उत्पीड़न बंद हो जायेगा? क्या अलग-अलग अस्मिताओं की बात करने से जनता की समस्याएँ हल हो जायेंगी? क्या अपनी अस्तित्व-रक्षा के लिए सामाजिक संघर्ष करने वालों का अस्तित्व अपनी कोई अलग पहचान बना लेने से बच जायेगा? क्या 'मुक्ति' के लिए संघर्ष करने की जगह 'मान' की माँग करने से स्त्रियों और दलितों को समाज में आज़ादी और बराबरी के अधिकार मिल जायेंगे?

यदि नहीं, तो हिंदी कहानी और कहानी-समीक्षा में कहीं कोई ऐसी रचनात्मक या आलोचनात्मक पहल क्यों नहीं हुई, जिससे पता चलता कि सामाजिक समस्याओं के प्रति हमारे दृष्टिकोण में यह भारी परिवर्तन अचानक कैसे और क्यों हो गया? मसलन, क्या स्त्रियों और दलितों की शोषण, दमन और उत्पीड़न से मुक्ति हो चुकी थी कि अब सिर्फ उनके मान-सम्मान का सवाल हल करना ही बाकी रह गया था? यदि नहीं, तो क्या उनकी रोजी-रोटी के सवाल से ज़्यादा ज़रूरी उनके मान-सम्मान का सवाल था? समझ में नहीं आता कि हिंदी की कहानी और कहानी-समीक्षा ने इन बेहद ज़रूरी सवालों के जवाब खोजने की कोई कोशिश किये बगैर इन परिवर्तनों को क्यों और किस आधार पर स्वीकार कर लिया!

बीसवीं सदी के आठवें दशक में जब हिंदी में प्रगतिशील और जनवादी कहानी का एक नया दौर

शुरू हुआ था, ऐसे सवालों पर व्यापक विचार-विमर्श हुआ था, जिससे कहानी-लेखन पर छायी हुई बहुत-सी वैचारिक धुंध साफ हुई थी और नई सृजनशीलता की दिशाएँ स्पष्ट हुई थीं। उस समय की कहानी 'नई कहानी', 'अकहानी', 'समांतर कहानी' आदि के नारों और फार्मूलों में कैद थी और कहानीकार 'अपने जिये-भोगे' को 'स्वानुभूत सत्य' के रूप में व्यक्त करने को ही कहानी लिखना समझते थे। ये नारे और फार्मूले अब बेकार हो चुके थे, अत: उस समय की कहानी से आगे की कहानी की बातें होने लगी थीं। उदाहरण के लिए, १९७६ में हिंदी कहानी का पुनर्मूल्यांकन करने के लिए दिल्ली में आयोजित एक संगोष्ठी में सर्वेश्वर दयाल सक्सेना ने आगे की कहानी के लिए एक पंचसूत्री कार्यक्रम प्रस्तुत किया था :

१. पश्चिमी फैशनपरस्त अंधानुकरण से बचो।

२. शिल्प को आतंक मत बनाओ।

३. उनके लिए भी लिखो जो अर्द्धशिक्षित हैं और उनके लिए भी जो अशिक्षित हैं, जिन्हें तुम्हारी कहानी पढ़कर सुनायी जा सके।

४. इस देश की तीन-चौथाई जनता की सोच-समझ को वाणी दो, जो वह खुद नहीं कह सकती। और,

५. कहानी को लोककथाओं और 'फेबल्स' की सादगी की ओर मोड़ो, उनके विन्यास से सीखो, और उसे आम आदमी के मन से जोड़ो।

जाहिर है, ये बातें इसीलिए कही गई थीं कि उस समय की हिंदी कहानी में पश्चिमी फैशनपरस्त अंधानुकरण हो रहा था, शिल्प को आतंक बनाया जा रहा था, कहानी केवल शिक्षितों के लिए लिखी जा रही थी, उसमें देश की तीन-चौथाई जनता की सोच-समझ को वाणी नहीं दी जा रही थी और कहानी ऐसे जटिल विन्यास वाली कहानी बनती जा रही थी कि वह आम आदमी के मन से नहीं जुड़ पा रही थी। इन्हीं चीज़ों के विरुद्ध 'जनवादी कहानी' का आंदोलन शुरू हुआ था, जो उस समय के हिसाब से 'आगे की कहानी' थी।

क्या आज की हिंदी कहानी में, कुछ बदले हुए रूपों में, कमोबेश यही सब फिर से नहीं हो रहा है? धयान से देखें, तो लगेगा कि न केवल हो रहा है, बल्कि और ज़्यादा बुरे तथा विकृत रूपों में हो रहा है। जाहिर है कि 'जनवादी कहानी' के बाद हिंदी कहानी उस कार्यक्रम के अनुसार आगे नहीं बढ़ी। इसके विपरीत वह आगे बढ़ी ऐसी दो दिशाओं में, जो इस कार्यक्रम से कहानी को दूर ले जाने वाली थीं। एक दिशा थी ''पश्चिमी फैशनपरस्त अंधानुकरण'' तथा ''शिल्प को आतंक बनाने'' वाले कहानी-लेखन की दिशा, जिसमें आगे बढ़कर हिंदी कहानी जादुई यथार्थवादी और उत्तर-आधुनिकतावादी हुई। इस दिशा में जाकर हिंदी कहानी जनोन्मुख होने के बजाय बड़ी बेशर्मी से अभिजनोन्मुख हुई और ''आम आदमी के मन से जुड़ने'' के बजाय खास आदमियों के मन को मोहने की आकांक्षा से किये जाने वाले बौद्धिकता के व्यापार में बदल गई। दूसरी दिशा ऊपरी तौर पर हिंदी कहानी को जनोन्मुख बनाने वाली लगती थी, जिसमें आगे बढ़कर हिंदी कहानी स्त्रीवादी और दलितवादी विमर्शों की कहानी बनी। लेकिन वास्तव में यह दिशा कहानी को सेक्स, हिंसा और जातिवादी लेखन के फार्मूलों की ओर ले गयी और कहानी जनोन्मुख होने के बजाय बाजारोन्मुख हो गयी।

'जनवादी कहानी' से पहले के फैशनपरस्त कहानीकार पश्चिमी फैशनों का अनुकरण करते थे, तो कम से कम पश्चिम की चीजों को पढ़ते तो थे। आगे चलकर यह हुआ कि उस अनुकरण का ही अनुकरण करते हुए बहुत-सी कहानियाँ लिखी जाने लगीं। 'जनवादी कहानी' के बाद शिल्प को पुन: आतंक बनाया जाने लगा। अशिक्षितों और अर्द्धशिक्षितों की तो बात ही क्या, शिक्षितों में भी केवल कुछ प्रभुत्वशाली संपादकों तथा आलोचकों को ध्यान में रखकर कहानियाँ लिखी जाने लगीं। जनता की सोच-समझ को वाणी देने की बात दूर, बहुत-से कहानीकार तो जन, जनता, जनवाद, समाजवाद आदि के नाम से ही बिदकने लगे और स्वयं 'जन' होकर भी 'अभिजनों' की-सी सोच-समझ के साथ और उन्हीं के लिए कहानी लिखने लगे। 'सादगी' या 'आम आदमी के मन' से तो कहानी का मानो कोई संबंध ही नहीं रहा। आयातित उच्च प्रौद्योगिकी के साथ आयी और अंधानुकरण के रूप में अपना ली गयी पश्चिमी जीवन-शैली में सादगी कहाँ?

ऐसी स्थिति में आगे बढ़ने के लिए कहानीकारों को यह सोचना होगा कि आज के पूँजीवाद का विकल्प क्या हो सकता है। आज के वैश्विक पूँजीवाद का विकल्प वैश्विक समाजवाद ही हो सकता है। अत: सोचना यह है कि हम उसकी दिशा में कैसे आगे बढ़ें।

सर्वेश्वर दयाल सक्सेना ने आगे की कहानी का जो पंचसूत्री कार्यक्रम दिया था, वह अभी अप्रासंगिक नहीं हुआ है। लेकिन आज की नई परिस्थितियों में वह अपर्याप्त अवश्य लगता है। इसलिए मैं उसमें अपनी तरफ से पाँच सूत्र और जोड़ना चाहता हूँ :

१. चालू विमर्शों की कहानी लिखने से बचो।

२. बदलते हुए यथार्थ को देखो और यथार्थ को बदलने के लिए लिखो।

३. दुनिया भर के उत्कृष्ट कहानी-लेखन से सीखो, पर अपनी कथा परंपरा में और अपनी जनता के लिए लिखो।

४. साहित्य की बदली हुई शब्दावली को आँख मूँदकर मत अपनाओ।

५. वैश्विक पूँजीवाद के विरुद्ध वैश्विक समाजवाद का स्वप्न साकार करने के लिए अच्छी कहानियाँ बेखटके गढ़ो।

❐

RBC Dominion Securities

Tel : (905) 764-3582
Fax : (905) 764-7324
1800-268-6959

Professional Wealth Management Since

Hira Joshi, CFP
Vice President & Investment Advisor

RBC Dominion Securities Inc.
260 East Beaver Creek Road
Suite 500
Richmond Hill,Ontario L4B 3M3
Hira.Joshi@rbc.com

नई कथाभूमि की प्रासंगिकता एवं सार्थकता

रजनी गुप्त

समकालीन कथासाहित्य में कथ्य एवं शिल्प का स्वरूप तेज़ी से बदलता गया है। यूँ तो कथा साहित्य में आधुनिकता की सुगबुगाहट ८० के बाद तेजी से होने लगी थी सो यथार्थ व कहानी का अंतर्संबंध भी तदनुरूप बदलता रहा है लेकिन आज के कथाकार पुराने समय की भाववादी एवं परंपरागत यथार्थवाद को धता बताते हुए दिनोंदिन प्रयोगधर्मी एवं परिवर्तनकामी होने लगे। भावनात्मरक एवं मासूम संबंधों में सामाजिकता की संभावनाएँ ढूँढ़ने की बजाए आज के कहानीकार वैश्वीभकरण बनाम बाजारीकरण द्वारा प्रयुक्त लटकों झटकों या दुरभिसंधियों या नई नई रणनीतियों के पक्ष विपक्ष में खंडन मंडन करते देखे जाते हैं। आखिर क्यों हो रहा है ऐसा ? इस नए लेखन में कहीं आज का वातावरण या परिवेश तो हावी नहीं हो रहा ? आखिर क्या वजह है कि आज के कहानीकारों में नए-नए विषयों के पीछे भागने की प्रवृत्ति घर करती जा रही है? वे पूंजीवाद, नई तकनीक और कॉरपोरेट दुनिया के विकृत होते जटिल संबंधों को खोलने के पीछे दौड़ लगाते दिखाई देते हैं मगर उनकी रचना का सच क्योंकर व्यापक पाठक समाज का सच नहीं बन पाता ? उनका रचा गढ़ा लेखन आज के व्यापक जीवन जगत की संवेदना या मर्मस्थल को कतई नहीं छू पाता। तो फिर ये कहानीकार किस झुंड, किस संस्कृति और किस समुदाय का प्रतिनिधित्व कर रहे हैं ? नगरों, महानगरों की सभ्यता संस्कृति की कथाभूमि पर खड़ा लेखक कैसे किसी गाँव या मज़दूर वर्ग के स्त्री पुरुष की तकलीफ का सच्चा व खरा-खरा बयान कर पाएगा ?

जाहिर सी बात है कि ऐसा कथा लेखन पहले से तय की गई मनगढ़ंत धारणाओं या पूर्वाग्रह पर आधारित होगा। तभी तो इधर की अधिकांश रचनाओं में यांत्रिकता, फार्मूलाबद्धता और बनावटीपन नज़र आता है। इनमें कथाकार का निजी सिग्नेचर भला कैसे नज़र आएगा ? मसलन कुणालसिंह का पहला उपन्यास 'आदिग्राम उपाख्यान' को ही लें या नीलाक्षीसिंह के 'शुद्धिपत्र' का जिक्र करें जिसका बेजान कथ्य व्यापक जनमानस की कथाभूमि को भेदकर नीचे तल तक नही धँस नही पाता। 'शुद्धिपत्र' में महज नए अंदाज़ में चौंकाने के लिए अनावश्यक कथ्यगत व शिल्पागत कलाबाजियाँ दिखाने से तो बात पाठक के मानस के अंदर नही धँसेगी। यदि कथाभूमि में नमी व पोषक तत्त्व नहीं होंगे तो महज सूखी हुई ज़मीन पर हल चलाते रहने जैसी कलाबाजियाँ दर्शाने से तो फसल लहलहाने से रही। यही वजह है कि ऐसी रचनाओं में न तो जीवन की धड़कनें सुनाई देंगी और न ही जीवंत किरदारों के जरिए अँधेरों को दीप्त करती रोशनी। मसलन कविता के पहले उपन्यास को ही लें-'मेरा पता कोई और है' जिसके कथ्य में न तो सम्यक कल्पनाशीलता नज़र आती है, न ही यह कृति पाठक के मन में बेचैनी या संघर्ष करने का माद्दा जगा पाती है। सच तो ये है कि गंभीर से गंभीर विषय पर रची गढ़ी थीम जब तक कथाभूमि की गहराई तक नही पैठेगी, तब तक ऐसी रचना की नई प्रस्तुति बिजली की कौंध की तरह क्षण भर की चमक बिखेर कर लुप्त हो जाती है। ऐसा तभी होता है जब कहानी मौजूदा

रजनी गुप्त
५/२५९ विपुलखंड, गोमतीनगर, लखनऊ
मोबाइल ९४५२२९५९४३

यथार्थ को तोड़फाड़ व चीरफाड़ नहीं कर पाती या रचनात्मक स्तर पर पुर्नसृजित करके नए यथार्थ की तलाश न कर पाने के कारण होता है।

इधर के अधिकांश रचनाकार उपभोक्ता संस्कृति के दौर में लहराती कृत्रिम आधुनिकता को तो बखूबी पकड़ लेते हैं मगर इनका अतिक्रमण करके अंदरूनी तहों तक पहुँचने की जेहमत नहीं उठाते। समकालीन रचनाओं की कथाभूमि दुनिया बदलने की सूचना अवश्य देते हैं मगर जल्द ही इनकी थीम बाहरी विवरणों में फँसकर समग्र प्रभाव नहीं छोड़ पाती। सचमुच यहाँ भीतरी संवेगों या अनुभूति की तीव्रता का खासा अभाव है। ये रचनाकार इस परिचित यथार्थ को पुर्नसृजित करके नए यथार्थ की तलाश तो करना चाहते हैं लेकिन सूचना संजाल में फँसकर अपरिचित संवेदना संसार के नए नए अनुभवों को खोलने की रचनात्मक कला ईजाद नहीं कर पाते। वे सच की ऊपरी परतों को भेदकर अंदरूनी तलघर में जब तक नहीं पहुँचेंगे, तब तक न तो रचना में गहराई आ पाती है, और न ही रचना के जरिए स्वप्न, सौंदर्य व भावनात्मकता से गुँथा सृजनात्माक आलोक फैल पाता है और न ही ऐसी रचनाएँ पाठकों के मन चेतना को संस्पर्श कर पाती हैं।

इंटरनैट मोबाइल के दौर में लीक से हटकर नए-नए शैलीगत प्रयोग ढूँढ़ना हर लेखक को रुचता है लेकिन वे जीवन की अलक्षित संवेदनाओं को पूरे आवेग से उभारने में चूक जाते हैं। दरअसल पूर्वनिर्मित स्थितियों को उभारते हुए मनुष्य को पाशविक बनाकर छोड़ने वाले कार्पोरेट तामझाम के बखानों के घनचक्कर में वे पात्रों की आत्मपीड़ा पर पर्याप्त ध्यान एकाग्र नहीं कर पाते। ऐसी रचनाएँ नई कथासंस्कृति की छाप ज़रूर छोड़ती हैं लेकिन आख्यान के नएपन के बावजूद अनुभवजन्य केंद्रीय विजन या उदात्त्ता नजर नहीं आती। सच तो ये है कि उनकी सोच में आंतरिक ऊर्जा और भावावेग की तीव्रता भी उतनी नहीं जिससे गहरी व अविस्मरणीय कृति बन सके। जलती बुझती मोमबत्ती जैसी चंद सूचनात्मक पंक्तियों का प्रभाव कितनी देर तक टिका रह पाएगा ? बेशक उनके पास अच्छे व चमकदार शब्द ही शब्द हैं लेकिन शब्दों का भीतरी कसाव नहीं जो पाठकों को विचलित करके उनके मन या जीवन के अँधियारों को रोशनी से भर दें। समय के बदलाव की सूचनाएँ तो रचनाओं में भरपूर हैं मगर परदुख कातरता का सच्चा अनुभव यहाँ न के बराबर है और यही वजह है कि इनमें से कितनी ऐसी कृतियाँ हैं जो पाठकों की स्मृति में देर तक टिकी रह पाएँगी ? ये सोचने की बात है।

वरिष्ठ कथाकार काशीनाथ सिंह, ज्ञानरंजन और उदयप्रकाश की कथाभूमि में नए यथार्थ को नए रूप में व्यक्त करने के संघर्ष के साथ साथ पाठकीय मूल्य को वे कतई नहीं भूल पाते बल्कि यथार्थ को क्रिस्ट करके यथार्थ और कहानी के अंतर्संबंध को एक दूसरे में गूँथते हुए वे व्यापक जनमानस में इनकी व्याप्ति का खासा ध्यान रखते हैं। कुछ कालजयी कृतियों जैसे-कब तक पुकारूँ, काला जल, रागदरबारी, आधागाँव के पात्र क्योंकर दिक् काल की संवेदना को संस्पर्श करते हुए इतने व्यापक जनमानस की मनोभूमि में आज भी उतने ही प्रासंगिक है एवं इनकी रचना की अर्थवत्ता आज भी समय सापेक्ष है, यह विचारणीय है। ऐसी कृतियों में उनकी ज़मीन की नमी व जीवंतता के साथ प्रासंगिकता को तलाशना भी ज़रूरी लगता है।

समकालीन संदर्भ के मुताबिक कुछ कहानियों के दृश्य जोशीले व वेगवान जरूर होते हैं मगर क्षणिक उत्तेजना जगाकर अगले ही दिन वे दृश्य हमारी स्मृति से बाहर फिक जाते हैं क्योंकि वे कृत्रिम हैं, मायावी हैं, सायास पैदा किए गए हैं और जिंदा होते हुए भी हमें अपनी दुनिया का हिस्सा नहीं बना पाते क्योंकि पूर्वनिर्मित विषयों पर प्रायोजित ढंग से लिखने से स्वत:स्फूर्त लेखन की जगह ले लेती हैं यांत्रिकता एवं औपचारिकता। इधर ऐसा भी खूब देखने को मिला है कि एक लघु आख्यान को बड़ा या उदात्त बनाने के श्रम में रचनाकार (नदी जो बहती है-जयश्री राय का उपन्यास) कभी कभी तमाम सैद्धांतिक अवधारणाओं के पीछे पड़ जाते है जबकि ऐसे अनावश्यक श्रम से पाठक रचनात्मक उत्स तक नहीं पहुँच पाते एवं कथा रस फीका पड़ने लगता है। जैसे अनामिका का पहला उपन्यास जो कि बौद्धिक खंडन मंडन की प्रक्रिया में इतना दुरूह व अपठनीय हो गया था कि ऐसे कथ्य से पाठक दूर भागता है। सच तो ये है कि साहित्य में जब इतिहास या पुरातत्व ज्ञान की अभिवृद्धि होने लगती है तो पाठक कथारस में निमग्न नहीं हो पाता। साहित्य न तो इतिहास होता है, न भूगोल या राजनीतिशास्त्र, अध्यात्म वगैरा जहाँ पाठक शास्त्रों का ज्ञान अर्जित करने नहीं आता बल्कि पाठक तो विधात्मक झंझट में न पड़कर साहित्य को तभी छूता है जब उसे संवेदना संसार में पैठ लगाने का मन करता है।

इंटरनैट मोबाइल के दौर में लीक से हटकर नए नए विषयों पर शैलीगत प्रयोग ढूँढ़ना रचनाकार को रास आता है मगर वे जीवन की बची या पीछे छूट गयी संवेदनाओं को पूरे उफान के साथ उभारने में चूक जाते हैं क्योंकि बनी बनाई स्थितियों को उभारते हुए मनुष्य को पाशविक बनाकर छोड़ने वाले कार्पोरेट तामझाम के घनचक्कर में रचनाकार किरदारों की आत्मापीड़ा पर पर्याप्त गंभीरता से एकाग्र नहीं हो पाते या उन मर्मस्थलों पर ध्यान देने की आवश्यकता ही महसूस नहीं करते जैसे गीत चतुर्वेदी या चंदन पांडेय की कहानी दिल्ली पब्लिक स्कूील या मो.आरिफ का फूलों का बाड़ा जिनमें नई कथा संस्कृति की छाप तो प्रचुर मात्रा में हैं मगर आख्यान में नयापन के बावजूद अनुभवजन्य गहनता या विजन नहीं जिससे रचना को आंतरिक ऊर्जा मिले और जिससे कोई कालातीत गहरी बात बने। एसएमएसनुमा अंग्रेज़ी मिश्रित चलताऊ भाषा की बहुतायत से ऐसे तमाम शिल्पगत प्रयोग अधिकांश स्थलों पर ऊब या नीरसता पैदा करने लगते हैं। कथा भूमि में नमी (कोमल भावभूमि) का ध्यान रखा जाना अत्यावश्यक है वरना सूखी जमीन पर हल चलाने का भला क्या औचित्यि ?

परिवेश जो भी हो, किसी भी समय का हो लेकिन आज ज़रूरत इस बात की है कि किस्सागोई में विघ्न डाले वगैर कथाभूमि में नमी को ध्यान रखते हुए नए नए प्रयोगों की नई दिशाएँ तलाशी जाएँ गतिशील समय की आज की कहानी के लिए जरूरी है कि उसमें महज बाहरी दृश्यों की तस्वीरें न डाली जाएँ बल्कि नए सिरे से प्राणवायु भरकर कथा को सरस, संप्रेषणीय व प्रभावी बनाया जाए तभी वो दीर्घकालीन असर छोड़ेगी और तभी रचनाकार आधुनिक समय के सच्चे प्रवक्ता बनकर इस नए माहौल के साथ चहलकदमी करते हुए नए परिवेश की तकलीफें उभारने में सक्षम होंगे। सालों पहले हमारे मूर्धन्य कथाकार प्रेमचंद ने कितना सटीक लिखा था-'हमारी कसौटी पर वही खरा उतरेगा जिसमें उच्च चिंतन हो, जो हममें गति, संघर्ष और बेचैनी पैदा करे, हमें सुलाए नहीं, क्योंकि अब और ज़्यादा सोना मृत्यु, का लक्षण है।'

❐

आलोचक पहले अपनी आलोचना करें

अनिता भारती

(दलित लेखन पिछले कुछ समय में बहुत मज़बूत होकर उभरा है। कई अच्छी कहानियाँ और उपन्यास दलित लेखन ने हिन्दी साहित्य को दिये हैं। लेकिन क्या दलित लेखन को उस अनुपात में आलोचना मिल पाई है अथवा नहीं, अनीता भारती का ये आलेख उसी पड़ताल के क्रम में। -संपादक)

दलित साहित्य आलोचकों की वक्र दृष्टि झेलता हमेशा आलोचना का शिकार रहा है। हिन्दी जगत के स्वनाम धन्य आलोचकों, साहित्यकारों और विद्वानों द्वारा इतनी आलोचना, अवहेलना, आरोपों को झेलने के बाबजूद भी यदि दलित साहित्य कभी तेज तो कभी मंथर गति से हिन्दी व अन्य भाषाओं के साहित्य में अपनी महत्त्वपूर्ण जगह बनाने में कामयाब रहा है तो इसका सबसे बड़ा कारण दलित साहित्य की अपनी अदम्य जीवटता-संघर्षशीलता के अलावा उसमें किसी को भी घायल कर देने वाली अपने भावों की तीक्ष्ण मारक क्षमता ही मानी जायेगी। दलित साहित्य ने पिछले कई सालों से हिन्दी साहित्य में जबरदस्त इज़ाफ़ा किया है और बरबस सबका ध्यान अपनी ओर खींचा है और दलित साहित्य के पाठक वर्ग में भी जबर्दस्त बढ़ोतरी हुई है इसलिए अब प्रकाशक भी दलित साहित्य की मार्केट को देखते हुए दलित साहित्य को छापने को मजबूर हो रहे है।

यूँ तो बाज़ार में हज़ारों किताबें आ रही है। बिक रही है। पर सवाल है कि इन हजारों छपती किताबों में ऐसी कितनी किताबें है जिनके बारे में हम जान पाते हैं या उन्हें पढ़ पाते हैं। शायद ३०-४० या उससे भी कम २०-३० या फिर उससे भी कम १०-२०। हम याद करे इस साल कितनी किताबें आई तो मुझे लगता है यदि उसमें से हम १०-२० किताबों के नाम भी ठीक से गिनवा पाएँ तो गनीमत ही होगी। संभव इन किताबों के शीर्षक भी हमें याद ना हो या हम शायद ही उँगली पर गिनकर बता पाएँ कि किस लेखक की कौन कौन सी किताब आई है। आज आलोचकों की कमी और उनकी मठाधीशी के कारण किताब छपकर आने के बाद अपने विषय में बात करवाने के लिए बुरी तरह पहले अपने पाठक फिर अपने आलोचक ढूँढ़ती फिरती है।

पहले किताबें जब आती थीं तो उनका उत्सुकता से इंतजार होता था। किताबें पढ़ने के बाद उसपर चर्चा करने की उत्सुकता, शौक और जरूरत महसूस होती थी। उन किताबों को साहित्यकार, आलोचक और विद्वान समाज की कसौटी पर कस कर देखते थे। पर समय बदल रहा है, हम भी इस बदलते समय के साक्षी है। लगता है आज साहित्य अपनी जन हित की पक्षधरता वाली चमक खोकर वैयक्तिवादी भौतिकता से लबरेज होकर ग्लैमरी युग में अपने पूरे बल से घुसने का प्रयास कर रहा है। ग्लैमर के इस युग में हर चीज बिकाऊ है चमकदार है खनकदार है और दिखावे पर आधारित है। फिर साहित्य और साहित्यकार इससे कैसे अछूते रह सकते है। इसलिए अब मानवीय सद्गुणों धैर्य, ईमादारी, निष्ठा, खुद्दारी से ज्यादा चापलूसी, इर्ष्या-द्वेष, चलाकी और सब कुछ एकसाथ और एकदम तुरंत-फुरत पाने की लालसा आदि का ज्यादा महत्त्व बढ़ता जा रहा है। इसलिए इसी वजह से आज के दौर में किताब से ज़्यादा लेखक आलोचक, प्रकाशक, संपादक महत्त्वपूर्ण हो गया है। बड़ा लेखक कौन है और कैसे बड़ा लेखक बना जाता है यह साहित्य की राजनीति जानने व साहित्य में

अनिता भारती
ए डी ११८- बी, शालीमार बाग, दिल्ली-८८
मोबाईल-९८९९७००७६७
ईमेल-anita.bharti@gmail.com

राजनीति करने वालों बेहतर कौन जान सकता है।

किताब से बड़ा लेखक बनाने में आलोचक का ही योगदान सबसे ज्यादा रहता हे। अक्सर देखने में यही आता है कि आज आलोचक वही लिखता है या केवल उन्ही किताबों पर अपनी राय व टिप्पणी देता और लिखता है, उसकी जिससे दोस्ती होती है या जिनके साथ उसकी विचार साम्य या विचार प्रतिबद्धता होती है या जिसपर लिखने को उसे प्रकाशक कहता है। अक्सर आलोचक उन किताबों की प्रशंसा करते पाए जाते हैं, जिनमें उनका वर्गगत या विचारगत हित दिखता हो और उन किताबों या विचारों की आलोचना करते पाए जाते हैं जो उनके विचारगत प्रतिबद्धता के खिलाफ हो। इसी विचार शत्रुता के चलते दलित साहित्य को शुरूआती दौर में ही आलोचकों द्वारा एकदम नकार दिया गया। ना केवल नकारा गया बल्कि उसके रचने वाले दलित साहित्यकारों और दलित साहित्य में हो रही स्थापनाओं का भी खूब भद्दा मज़ाक भी उड़ाया गया।

आलोचकों द्वारा आलोचना में समतामूलक और प्रजातांत्रिक मूल्यों की लगातार उपेक्षा और अपने अंदर बैठे ब्राह्मणवादी पितृस्तात्मक पूंजीवादी सामंतीय मूल्यों के कारण धीरे-धीरे आलोचक की आलोचना की धार फीकी पड़ती गई जिसका दुष्परिणाम यह हुआ कि आलोचक और उसकी आलोचना अपनी निष्पक्षता और जनपक्षधरता जैसे सुंदर आलोचकीय तत्वों को खोकर वर्चस्वादियों के पाले में जाकर खड़ी हो गई। आलोचक और उसकी आलोचना के भटकने से एक और बड़ा नुक्सान यह हुआ कि लेखक के मुकाबले प्रकाशक मजबूत होता गया जिसके कारण उसकी लेखकों पर दादागिरी के साथ साथ उसकी दिन पर दिन आर्थिक समृद्धि और सम्मान में बढ़ोतरी होती गई। आलोचकों पर प्रकाशकों के दबदबे का एक असर साहित्य की विचारधारा पर भी पड़ा। जो प्रकाशक को भाया उसने वही लेखक से लिखवाया या लिखने का आग्रह किया। प्रकाशक के पावरफुल हो जाने के कारण छप रही पुस्तकों पर उसकी विचारधारा की छाप दिखाई देने लगी। आलोचक के अपने उत्तरदायित्व से भटकने से प्रकाशक की चाँदी हो गई और आज प्रकाशक अपनी राजनैतिक सामाजिक धार्मिक विचारधारा की समझ और बाज़ार की माँग को देखकर किताबें प्रकाशित कर रहे हैं। आज आलोचक तमाम तरह के प्रलोभन अपने अंदर लिए तथा एक तरह के वैचारिक घेरे में कैद होने और अपने सीमित समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण और समझ होने के कारण ना केवल अच्छे साहित्यकार समाज के सामने आ पाते बल्कि वह साहित्य भी सामने नहीं आ पाता जो जन मानस की वास्तविक तस्वीर पेश करता है। आलोचना विधा की तस्वीर अब यह हो गई है कि प्रकाशक पहले अपने प्रिय लेखक चुनता है फिर वह उन्हें विषय देकर लिखवाता है। या प्रकाशक पहले विषय चुनता है फिर विषयों के अनुसार लेखक। जब किताब छप कर आ जाती है तो वह अपने चुनिंदा और प्रिय आलोचकों से उसकी कई कई समीक्षाएँ करवाता है। और इस तरीके से प्रकाशक आलोचक और लेखक के साथ मिलकर किसी रचना को सर्वश्रेष्ठ घोषित करवाने की फिराक में लग जाता है। कभी-कभी उसकी यह फिराक पूरी भी हो जाती है। जब रचनाएँ और रचनाकार सर्वश्रेष्ठ घोषित हो जाते हैं तो वह पाठ्यक्रम से लेकर पुरस्कारों की रेस की दौड़ में अव्वल आ जाते हैं। पुरस्कार प्राप्त करने के बाद भी यह दौड़ रुकती नहीं है, बल्कि आगे बढ़कर कालजयी रचनाकार या अपनी रचना को कालजयी घोषित कराने की दौड़ में शामिल हो जाती है। निस्संदेह इस कालजयी रचना और कालजयी रचनाकार घोषित करने की दौड़ में आलोचक की भूमिका अक्सर निर्णायक होती है।

विचारधारा के तौर पर आज दलित साहित्य को स्थापित हुए अब काफी समय हो चुका है, पर इसमें क्या संदेह है कि दलित साहित्य और उसकी विचारधारा को अन्य साहित्य और विचारधारा के मुकाबले स्थापित होने में कितनी जद्दोजहद करनी पड़ी। दलित साहित्य और उसके चिंतन व दर्शन को वर्चस्वादी आलोचना के प्रतिमानों पर कसकर बार-बार नाकारा गया। सवाल दलित साहित्य की भाषा तक पर उठाए गए। इन आलोचकों ने अपने ब्राह्मणवादी सौन्दर्यशास्त्र के पैमानों से दलित सौन्दर्यशास्त्र के पैमानों को हाँकने की नाकाम कोशिश की। अब यह बात मेरी तरह किसी की भी समझ से परे हो सकती है कि क्या एक बार आलोचना को लेकर जो प्रतिमान गढ़ दिए गए, वह आलोचना और आलोचकों के लिए पत्थर की लकीर हो गए है, जिन्हें आज वक्त के अनुसार ना तो बदला जा सकता है और ना ही कभी मिटाया जा सकता है और ना ही उसमें कुछ भी नया जोड़ा जा सकता है? और क्यों अन्य कोई उन प्रतिमानों से हटकर लेखन नही कर सकता ?

सवाल यह है और सब जानते है कि इस जातिवादी और स्त्रीविरोधी समाज मे हज़ारों वर्षों से दलितों और स्त्रियों का दमन उत्पीड़न होता रहा। एक इंसान के तौर पर उनको कोई इंसानी अधिकार ही प्राप्त नही थे तो वे कैसे लिखते ? और अब उनको भारतीय संविधान के कारण के कारण लिखने पढ़ने और गरिमापूर्ण जीवन जीने का अधिकार मिला तो वे अपने भोगे कड़वे सच को अब अपनी अभिव्यक्ति देने लगे। अपने दुख-दर्दों अनंत दास्ताँ को साहित्य के माध्यम से सबके सामने मज़बूती से रखने लगे हैं। आलोचकों ने उनका और उनके दग्ध अनुभवों जिस हल्के तरीके से लिया वह बहुत अशोभनीय है। ना केवल हल्के से ही लिया अपितु जब मौका मिला उनका भद्दी तरह से मज़ाक उड़ाया गया। दलित और स्त्रियों की मौलिक और प्रमाणिक अभिव्यक्ति पर बार-बार यह तंज़ कसा जाता है कि क्या एक गैरदलित और पुरुष को दलित या स्त्री की अभिव्यक्ति करने के लिए या इन पर लिखने के लिए दलित और स्त्री बनकर जन्म लेना होगा ? कई बार यह तंज़ और कुतर्क इतने घटिया स्तर पर चला जाता है कि उसे सुनने मे भी बुरा लगता है। जैसे कई आलोचक दलित और स्त्रियों के इस तर्क की खिल्ली इतने निम्न स्तर पर उतर कर करते पाए गए कि उनकी बुद्धिमानी के बारे में क्या कहे। मसलन कि क्या किसी घोड़े पर लिखने के लिए क्या अब हमें घोड़े का जन्म लेना पड़ेगा ? दु:ख की बात है कि आलोचक जमात ने दलितों और स्त्रियों के अपने दलित और स्त्री होने के प्रामाणिक और सच्चे लेखन की बात के आग्रह के पीछे छिपी उनके मर्म और गहरी वेदना को समझे बिना अपनी कुतर्की आलोचना से उनका तन मन घायल करने में कोई कोर कसर नहीं छोड़ी।

दलित साहित्य जब हिन्दी में अपनी शुरूआत करने जा रहा था उसी समय हिन्दी के अधिकांश आलोचकों ने अपनी आलोचना की शक्ति का इस्तेमाल कर दलित साहित्य को नीरस उबाऊ घोषित करने की मुहिम चलाई। जिसके पीछे उनकी अपनी व्यक्तिगत व जातिगत सोच तथा उनकी वैचारिक प्रतिद्धता थी। हैरान कर देने वाली बात यह है कि जिस तरह से इन आलोचकों ने दलित साहित्य पर

प्रहार किया उस तरह से प्रहार पूरे हिन्दी साहित्य में किसी भी काल में रचे गये साहित्य पर नहीं किया गया। और जिन पर यह प्रहार किया गया वे सब दलित वंचित शोषित समाज से थे इसका एक मात्र कारण दलित साहित्यकारों का दलित होना तथा दूसरा दलित साहित्यकारों द्वारा हिन्दी साहित्य में रचे जा रहे साहित्य और उसके रचनाकारों को उनकी जातीय अस्मिता के आधार पर कसकर उनकी कटु आलोचना करना था। दलित साहित्यकारों ने देखा और महसूस किया कि साहित्य से लेकर समाज और राजनीति पर सभी जगह वर्चस्वादी ताकतों का बोलबाला और एकछत्र अधिकार है। दलित साहित्य और साहित्यकारों ने आलोचकों की अपनी जातीय अस्मिता के कारण विरासत में प्राप्त सुविधाओं और वर्चस्ववाद की प्रवृत्ति की ना केवल कठोर आलोचना ही की बल्कि उनके द्वारा स्थापित मान्यताओं को चुनौती तक दे डाली।

आलोचकों ने दलित साहित्य पर बार-बार उसके कथ्य को लेकर 'रीपिटिशन' का आरोप लगाया गया। क्या दलित साहित्य से पहले हिन्दी के किसी भी काल में रीपिटिशन वाला साहित्य नहीं लिखा गया। भक्तिकाल में बार-बार आत्मा परमात्मा पर ही बात की गई है। कभी कभी मुझे हैरानी होती है कि भक्ति काल के साहित्य में जिस तरह ईश्वर की आराधना की गई और उसमें बार-बार उसमें ईश्वर को सर्वोपरि मान नतमस्तक हो भाग्यवाद, अंधविश्वास को परोसा गया। तब भी आलोचक उसमें कला सौन्दर्य रस और छंद ढूँढ़ कर अपनी संस्कृति का महिमामंडन कर रहे थे। दूसरी तरफ दलित साहित्य में बार-बार अंधविश्वास के खिलाफ, भाग्यवाद के खिलाफ, मनुष्य द्वारा मनुष्य के ऊपर के जा रहे अत्याचार, उत्पीड़न के मार्मिक सृजन में आलोचकों को कुछ सकारात्मक नहीं नज़र आया क्योंकि दलितों के साहित्य सृजन ने एक धर्म विशेष पर सवाल खड़े कर दिये। रीतिकाल में नायिकाओं के नखशिख का वर्णन बार बार मिलता है। प्रगतिवादी साहित्य में मजदूर-किसान वर्ग की पीड़ा दुख और शोषण का वर्णन ही मिलता है। छायावाद की अधिकांश कविताएँ तो रहस्यवाद में जाकर पता नहीं कहाँ खो जाती है। प्रयोगवाद को भाषा कथ्य के नये नये प्रयोगों के नाम पर स्वीकार कर लिया गया। पर दलित साहित्य को स्वीकृति मिलने में इतना समय क्यों लगा? दलित साहित्य के नायक नायिका वही मजदूर किसान थे, पर फर्क सिर्फ इतना था कि वे अब दलित मजदूर और दलित किसान थे। अगर आलोचक पूर्व साहित्य में हो रहे 'रिपिटिशन' को मुग्ध भाव से लेता है, तो फिर उसे दलित साहित्य से शिकायत क्यों?

एक और बात दलित साहित्य ने हिन्दी व अन्य साहित्य में जो नई बात जोड़ी वह थी भारत की वर्ण व्यवस्था और उससे उत्पन्न शोषण उत्पीड़न, अत्याचार, दमन और हिंसा के खिलाफ विद्रोह करना। उसके शोषण के आधार चाहे वह धर्म में या सत्ता में सबके खिलाफ लिखकर समाज में समता स्वतंत्रता और बंधुत्व के पक्ष में अपनी आवाज़ बुलंद की। काफी हद तक दलित साहित्य इन मूल्यों को साहित्य में स्थापित करने में सफल भी रहा है। दलित साहित्य विशुद्ध कलावादी ना होकर सर्वजन हिताय और सर्वजन सुखाय का पक्षधर है। दलित साहित्य किसी आत्मा परमात्मा या किसी अवतार से यह आग्रह नहीं करता कि वह आए और उसे मोक्ष दे। या उसे इस मोहमाया से ग्रस्त भवसागर से पार कर जन्मजन्मांतर के बंधन से उसकी मुक्ति करवा दे। दलित साहित्य का उद्देश्य तो इसी समाज में रहते हुए उसके जातीय उत्पीड़न से मुक्ति पाकर एक समानता आधारित समाज की रचना है जिसमें किसी भी प्रकार का भेदभाव व असमानता ना हो। सबको ज़िंदगी जीने के सामान अवसर प्राप्त हों। सबका जीवन गरिमामय हो। इसीलिए दलित साहित्य में क्रोध, नकार, प्रतिरोध और विरोध के भाव प्रबल है। अपने इन्ही भावों से दलित साहित्य अपना सौन्दर्य शास्त्र गढ़ता है।

मुश्किल वहाँ होती है जहाँ हम चाहते है कि सारी-दुनिया एक तरफ से, एक ढंग से एक सलीके से और एक ही अनुशासन से बँधी हो। वे साहित्य में सबकी भागीदारी जैसे मूल प्रश्न से आँख चुराकर दलित साहित्य और साहित्यकारों के लेखन पर अनुशासनहीनता आरोप लगाते है। सवाल यह है कि आप 'अनुशासन प्रियता' के नाम पर नई विचारधारा को जगह नहीं देने की कब तक साजिश रचते रहोगे? बने बनाए 'सैट-पैटर्न' के मुकाबले नये सृजन को बर्दास्त करना बहुत मुश्किल होता है। हिन्दी साहित्य में आलोचकों द्वारा साहित्य सृजन की इसी सैट पैटर्न की परम्परा और उसके लिए खीचीं गई लक्ष्मण रेखा को तोड़ने-फोड़ने का काम दलित साहित्य और उसके साहित्यकारों ने किया। किसी भी आलोचक या आलोचक समाज का अपना सच लेखक और समाज का सच नही हो सकता। हमें दूसरों के सच को स्वीकार करने की भी हिम्मत होनी चाहिए चाहे वह स्वयं अपने ही खिलाफ क्यों ना हो। जब तक हिन्दी साहित्य में दूसरों के दुख-सुख की बात होती रही तब तक किसी की कोई परेशानी नहीं थी, पर ज्यूँ ही दलित साहित्य में दलित समाज ने अपने दु:ख सुख और उत्पीड़न के कारणों को चिन्हित कर उसके खिलाफ अपनी अभिव्यक्ति देनी शुरू की और अपनी भोगी दु:ख, दर्द, पीड़ा के लिए वर्ण व्यवस्था और उसके पोषकों के विरुद्ध लिखते हुए अपनी हिस्सेदारी का सवाल उठाया तो त्यूँ ही आलोचना के मठाधीशों ने उस हिस्सेदारी के सवाल को 'आरक्षण' और 'योग्यता' के सवाल में बदल दिया। वे सार्वजनिक जगह और अपने भाषणों में यह कहने से भी नहीं चूके कि यदि 'दलित वंचित शोषित अपनी भागीदारी पा जाते है तो उनके क्या उनके लड़के भैंस चराएँगे ? जूते पालिश करेंगे और सड़को पर झाड़ू मारेंगे?

इसमें क्या संदेह है कि इन आलोचकों और साहित्यकारों में यह असुरक्षा की भावना, एकाधिकार छिनने की तिलमिलाहट उनके अंदर जातीय श्रेष्ठता बोध की ग्रंथी के कारण है। एक आलोचक को पूर्वग्रह मुक्त होना चाहिए, अपनी आलोचना में लोकतन्त्रात्मक होना चाहिए। ताकि वह किसी पुस्तक और और उसमें आए विचार का मुक्त हृदय से मूल्यांकन कर सके। पर हमारे स्वनाम धन्य आचोलक तो ना तो जाति मुक्त हैं, ना धर्म मुक्त हैं और ना ही पूर्वग्रह मुक्त हैं। दलित साहित्य पर जिस गंभीरता से उसकी जरूरत पर सार्थक बहस की जानी चाहिए थी ताकि वह मजबूती से स्थापित हो सके, उसके लिए एक ऐसी ज़मीन तैयार की जानी चाहिए थी, वह नहीं हुआ बल्कि हुआ उसका उल्ट। दलित साहित्य में आई पुस्तकों को आलोचक प्रकाशक और संपादकों ने अपने बने बनाए पूर्वग्रह के चलते दरकिनार करने के साथ-साथ खारिज कर दिया और दलित साहित्य के असित्व पर ही यह कहते हुए सवाल उठा दिए, क्या साहित्य भी दलित होता है? क्या अब साहित्यकार भी दलित होगा ? जब पूरे साहित्य में एक वर्ग अनेक वर्षों से गायब रहा है और आपके हाथ में साहित्य की सत्ता रही तब यह सवाल अपने आप से क्यों नहीं पूछा गया कि इतने विशाल, विस्तृत ज्ञान के सागर साहित्य

में एक वर्ग की, अभिव्यक्ति और उसकी भागीदारी क्यों नहीं है? और उसे आगे लाने के लिए कितने प्रयास किए गए? एक 'हीरा डोम' की कविता ही बस अपवाद है। आलोचकों ने ना केवल दलित साहित्य को नकारा बल्कि दलित साहित्य के ऊर्जा स्त्रोत व दलित समाज के आइकन डॉ.अम्बेडकर की समतावादी विचारधारा और उसके योगदान को भी कभी स्वीकार नहीं किया। बाबा साहेब को हमेशा एक 'दुश्मन' 'बाहरी' और 'संदेह' की दृष्टि से ही देखा। और जहाँ-जहाँ आलोचकों का बस चला तुरन्त अम्बेडकर की मार्क्स और गाँधी से तुलना कर अम्बेडकर को उनके बरक्स कमतर सिद्ध कर उनकी योग्यता पर प्रश्नचिह्न लगा दिए गए।

साहित्य में आलोचना या साहित्यिक आलोचना बहुत कुछ निर्धारित कर सकती है। वह समाज में मूल्य बदलने और मूल्य स्थापित करने में अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती है। आलोचक अपनी पैनी आलोचना के हथियार से किसी पुस्तक, किसी विचारधारा से समाज में उसे सम्मान या खारिज करवाने की ताकत रखता है। पर यह ताकत तब बेकार साबित हो जाती है जब आलोचक आपने पूर्वाग्रही चश्मे से चीजों को देखने लगता है। वह अपनी जिम्मेदारी भूल अपना लाभ, हानि, प्रशंसा चापलूसी, जाति पद प्रतिष्ठा आदि के फेर में पड़ जाता है। जब आलोचक अपना आलोचकीय निष्ठा भूल इन चीजों के फेर में पड़ जाता है तब एक बड़े समुदाय, वर्ग या साहित्यिक दर्शक की उपेक्षा होना स्वाभाविक है। क्या आलोचक की नज़र इतनी पैनी नहीं होनी चाहिए कि वह यह तय कर सके कि वर्तमान में साहित्य समाज में क्या सृजनात्मक परिवर्तन आ रहे हैं। आज जितनी पुस्तकों की समीक्षा हो रही है उसमें कितनी ऐसी किताबें है जिनको आलोचक लेखक या कवि या प्रबंधक अथवा संपादक के बार-बार आग्रह करने के अलावा पढ़ता है। संपादकों प्रकाशकों के कहने से आलोचक एक ही पुस्तक कई कई समीक्षाएँ आलोचनाएँ लिख देते हैं। हास्यापद स्थिति जब होती है जब आलोचक किसी एक किताब को श्रेष्ठ बता रहा होता है। तो पूरा पाठक वर्ग उस किताब को खारिज कर किसी दूसरी किताब को बेहतरीन किताबों में गिन रहा होता है। आलोचक और आलोचना 'प्रोफ़ेसरों' के कब्जे में आने के कारण अपना अस्तित्व खोती जा रही है। यूनिवर्सिटी में पढ़ाने वाले प्रोफ़ेसर अपने चेलों और शोधार्थियों से बलपूर्वक समीक्षाएँ करवाते हैं। आज एक लेखक की लोकप्रियता का पैमाना उसकी कृति से ज़्यादा उस पर लिखी गई समीक्षाओं से आँका जाता है। जितनी समीक्षाएँ उतना बड़ा लेखक। जितना बड़ा लेखक उतना ज़्यादा पुरस्कार। जितने ज़्यादा पुरस्कार उतना बड़ा वह कालजयी लेखक। जितना बड़ा कालजयी लेखक उतना अधिक वह पाठ्यक्रम में शामिल लेखक। यानी अब आलोचना किसी कृति का मूल्यांकन या किसी विचारधारा के मूल्यांकन की जगह 'बेस्ट सेलर' और 'बेस्ट लेखक' बनाने व चुनने का काम कर रही है। सभी जानते है कि इस तरह बेस्ट सेलर बनाने और बेस्ट लेखक घोषित करने के पीछे क्या कारण होते है। यदि आपका आलोचक से अच्छा संबंध है। वह आपकी जाति व वर्ग का है, या आपकी पद प्रतिष्ठा से वह बेहद प्रभावित है या फिर आपका पी-आर बहुत अच्छा है और आपका नित्य होने वाली डिनर व शराब पार्टियों में अच्छी भागीदारी रहती तो है तो निश्चित ही आलोचकों को नजर में आप बेहद लोकप्रिय और चहेते हो सकते है। जो साहित्यकार इन सब बातों से दूर रहते है वह आलोचकों की नजरों से भी दूर रहते है, बल्कि कई बार तो वे उनकी आँखों की किरकिरी भी होते है। जिनकी रचनाएँ यह आलोचक गाहे-बगाहे खारिज करते रहते हैं। आज आलोचना की बजारीकरण और दिखावा प्रवृत्ति के कारण रचनाओं का सही मूल्यांकन नही हो पा रहा है। खासकर समाज के हाशिए के समाज के जो साहित्यकार हैं उनके साथ उनका और उनके साहित्य का मूल्यांकन नहीं हो पा रहा है हम अंदाज़ा लगा सकते हैं कि पिछले कुछ वर्षों से लगातार अपने आप को बड़ा लेखक कहलवाने और बड़ा लेखक घोषित करवाने की आड़ में लगी रेस और उसमें अपनी क्रांतिकारी भूमिका निभाते आलोचकों के कारण हाशिये के समाज की पूरी तरह से अवहेलना हो रही है।

इन तथाकथित मुख्याधारा की खासियतें दलित वंचित शोषित और उत्पीडित वर्ग के आलोचकों में भी गहरी पैठ बना चुकी है। आज दलित आलोचक भी उसी राजनीति के शिकार है जिसके सवर्ण आलोचक। सवर्ण आलोचक यदि जाति के नाम पर किसी कृति या कृतिकार को खारिज कर देता है तो दलित आलोचक अपने ही दायरे में, अपने ही समाज में अन्य वंचित अस्मिताओं पर ठीक उसी तरह सवाल उठा रहे है जैसे कि सवर्ण आलोचक। दलित साहित्यकार दलित स्त्रियों के लेखन के लिए एक चौहद्दी खीचना चाहते है जिसके पार जाकर वह ना लिखे ना सवाल उठाएँ। सवाल उठाने पर उनको येन केन प्रकरेण सवर्णवादियों की पक्षधर घोषित कर दिया जायेगा। कितने दलित साहित्यकार ऐसे है जो दलित स्त्रियों के लेखन पर बात करते है और उसका मूल्यांकन करना चाहते है। ठीक सवर्ण आलोचकों की तरह जो दलित लेखकों को लेखक मानने के लिए तैयार नहीं है उसी तरह दलित आलोचक भी दलित स्त्रियों को लेखक मानने को तैयार नहीं है। दलित आलोचकों में डॉ. तेजसिंह ही मात्र इस बात के अपवाद है।

स्त्री आलोचकों भी दलित स्त्रियों के साहित्य की पूरी तरह से अवहेलना की है। बल्कि स्त्री आलोचक और लेखिकाएँ तो ना अपने आप को दलित मानने को तैयार है ना ही दलितों की तरह अपनी स्थिति स्वीकार करने के पक्ष में। यह स्त्री आलोचक जिस शोषित आधी आबादी की बात बार बार करती है उनमें ना कहीं दलित स्त्रियाँ हैं और ना ही आदिवासी स्त्रियाँ हैं। बल्कि स्त्री आलोचक और लेखिकाएँ तो दलित स्त्रियों के सवाल पर और भी ज़्यादा वाचिक हिंसक हो जाती है। इन लेखिकाओं और आलोचकों का मानना है स्त्री लेखन और आलोचना को श्रेणियों में मत बाँटो।

गैर दलित स्त्रियों की पीड़ा दलित स्त्रियों को समझ में आती है यह वही पीड़ा है जो सवर्ण आलोचक को दलित और स्त्री से है और जो दलित पुरुष और स्त्री को दलित स्त्री से। यदि आज दलित आदिवासी स्त्री साहित्य में अपनी भागीदारी माँगेगी और अपना रचेगी तो उन लेखिकाओं की जगह चली जायेगी जो उनके हिस्से पर सिर्फ अपने स्त्री होने के कारण काबिज होकर बैठी हैं।

वह समय अब दूर नही है जब अपनी अपनी भागीदारी लेकर समाज के वंचित तबके के आलोचक लेखक प्रकाशक संपादक आएँगे और अपनी कसौटी से कसकर आलोचकों द्वारा साहित्य के माध्यम से हो रहे पूर्वग्रही मूल्यांकन की भूतकाल से लेकर वर्तमान और भविष्य तक की खबर लेंगे। ❐

व्यंग्य लेखन मुख्य धारा का लेखन नहीं है-मी लॉर्ड

सुभाष चंदर

(व्यंग्य, साहित्य की मुख्य धारा की विधा है अथवा नहीं है इसको लेकर लम्बे समय से बहस जारी है। व्यंग्यकारों को ये शिकायत भी रही है कि आलोचकों ने व्यंग्य की हमेशा उपेक्षा की है। सुभाष चंदर का ये आलेख 'व्यंग्य कथालोचना' खण्ड के अंतर्गत। -संपादक)

सुभाष चंदर
जी-१८६-ए
एच आई जी
प्रताप विहार
ग़ाज़ियाबाद २०१००९ उप्र
मोबाइल ९३११६६००५७

यह एक सर्वविदित सत्य है कि अन्य विधाओं की तुलना के व्यंग्य ने कहीं अधिक तेजी से ख्याति अर्जित की है। चाहे बात पत्र-पत्रिकाओं की हो या सोशल मीडिया की, व्यंग्य हर जगह छाया हुआ है। बड़े अखबारों से जहाँ कहानी, कविता, निबंधों आदि के स्तम्भ दूर हुए हैं, वहीं व्यंग्य ने अपनी पकड़ और मज़बूत बनाई है। पुस्तक प्रकाशन की दुनिया में भी व्यंग्य की अच्छी माँग है। यहाँ नये से नये लेखक के संग्रह भी अधिकाशत: बिना सहयोग राशि के प्रकाशित हो जाते हैं।

आप सोच सकते हैं कि ये सब मैं अपने व्यंग्यकार, व्यंग्यालोचक होने के कारण लिख रहा हूँ। यह व्यंग्य के प्रति मेरे अतिशय प्रेम का परिणाम है या अन्य विधाओं को व्यंग्य की तुलना में कमतर दिखाने की सस्ती कोशिश है। नहीं, मेरे ऐसा कहने के पीछे कुछ और कारण हैं। मुझसे अक्सर नए व्यंग्य लेखक पूछते हैं कि वे जो ये व्यंग्य नाम की चिड़िया उड़ा रहे हैं, इसका मूल्यांकन कैसे होगा। मैं हँसकार बात टाल जाता हूँ और कहता हूँ- तुम्हारे बीच में से कोई-कोई श्याम सुन्दर घोष, बालेन्दु शेखर तिवारी, कोई सुभाष चंदर निकलेगा, वही व्यंग्य लिखेगा, वही व्यंग्य की आलोचना करेगा, वही तुम्हारा मूल्यांकन करेगा। मैं और वे यह अच्छी तरह जानते हैं कि यह पूरा सच नहीं है। केवल इन्ही प्रयासों से व्यंग्य नहीं चल सकता। मुख्य धारा की आलोचना को भी कविता, कहानी, उपन्यास आदि के साथ व्यंग्य पर भी ध्यान देना होगा। यह जानकार आश्चर्य होगा कि डॉ.मलय, डॉ.धनंजय वर्मा आदि कुछेक आलोचकों को छोड़कर हिन्दी के मूर्धन्य आलोचकों ने व्यंग्य से यथासंभव सुरक्षित दूरी बनाये रखने की कोशिश अधिक की है। परसाई और श्रीलाल शुक्ल को अगर छोड़ दिया जाए तो व्यंग्य और व्यंग्यकारों पर गिनती की किताबें/ लेख ही मिलेंगे। वह भी शायद इसलिए कि दोनों ही महानुभावों को साहित्य अकादमी सम्मान मिल चुका था। शायद इसी कारण उन पर ध्यान देना मजबूरी हो चुका था। यहाँ यह उल्लेख करना की अप्रांसगिक नहीं होगा कि अधिकांश स्थलों पर परसाई के कहानीकार और श्रीलाल शुक्ल के उपन्यासकार ही आलोचना के केन्द्र में रहे हैं, उनके लेखन के केन्द्रीय तत्व व्यंग्य पर बात करने से बचने की ही कोशिश की गई है। वरना स्थिति और दयनीय होती।

एक प्रश्न उठता है कि पूरी दुनिया के साहित्य में हास्य और व्यंग्य को लेकर आलोचना उतनी ही सक्रिय रही है जितनी अन्य विधाओं के लिए। फिर हिन्दी में ऐसा उपेक्षा भाव क्यों हैं ? आलोचकों की दृष्टि में व्यंग्य क्यों मुख्य धारा का लेखन नहीं हैं? क्यों व्यंग्य के प्रति ऐसा उपेक्षा भाव हैं ? इन सब प्रश्नों के उत्तर खोजे जाएँ, इनके पीछे के कारणों का विश्लेषण किया जाये तो मोटे तौर पर कुछ बातें सामने आती हैं।

पहली यह कि आलोचक, मुख्य धारा के 'मूर्धन्य' आलोचक व्यंग्य लेखन को गंभीर लेखन कर्म नहीं मानते। उनकी दृष्टि में यह यूँ ही किस्म का लेखन है। ऐसे अगंभीर लेखन पर गंभीरता से लिखना समय और श्रम का अपव्यय मात्र है। दूसरी बात उनका यह मानना है कि परसाई, जोशी, त्यागी, श्रीलालजी के बाद व्यंग्य लेखन की बेल सूख चुकी हैं, अब तथाकथित सार्थक हास्य-व्यंगय लेखन हो ही नहीं रहा। ज्ञान चतुर्वेदी से सुशील सिद्धार्थ तक जो हज़ारों व्यंग्यकारों की फौज है वह भाड़ झोंकने के धन्धे में लगी है, व्यंग्य नहीं लिख रही है। मैं खुद भी मानता हूँ कि कुछ सम्मानीय अपवादों को छोड़ दिया जाये तो व्यंग्य को शिथिलता का सामना करना पड़ रहा है समझौते

करने पड़ रहे हैं लेकिन अभी भी सार्थक-सरोकारपरक व्यंग्य लेखन हो रहा है। हास्य में भी बेहतर प्रयोग हो रहे हैं। स्थिति निराशाजनक तो कतई नहीं। ज्ञान चतुर्वेदी के नेतृत्व में व्यंग्यकारों की एक समपित पीढ़ी गंभीर व्यंग्य कर रही है। व्यंग्य में कूड़े के साथ कुछ बेहतरीन किताबें भी आ रही हैं।

तीसरी और सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह कि कि मुख्य धारा के अधिकांश आलोचकों के पास व्यंग्य की आलोचना के लिए अपेक्षित उपकरणों की कमी है। यह एक अनिवार्य सच है कि व्यंग्य की जटिलता उसका विन्यास उसका उद्देश्य अलग है, उसे प्रचलित आलोचना पद्धति की तराजू से नहीं तोला जा सकता। उसकी आलोचना के लिए आपको या तो व्यंग्यालोचकों द्वारा निर्धारित प्रतिमानों को स्वीकार करना होगा या अपने प्रतिमान खुद गढ़ने होंगे। तभी आप व्यंग्य की आलोचना के साथ न्याय कर पाएँगे अन्यथा नहीं। आपको समझना होगा कि कहानी और व्यंग्य कहानी में क्या अन्तर है ? उपन्यास-व्यंग्य उपन्यास किन स्तरों पर अलग हैं। सामान्य निबंध और व्यंग्य निबंध का क्यों एक ही उपकरण से मूल्यांकन नहीं किया जा सकता। आपको जानना होगा कि व्यंग्य जब कहानी, कविता, नाटक या उपन्यास आदि का माध्यम के रूप में उपयोग करता है तो वह कैसे उनके केन्द्र में बैठकर उनका रूप परिवर्तित कर देता है। व्यंग्य कहानी की अनिवार्य शर्त प्रसंग वक्रता क्यों है ? व्यंग्य भाषा और प्रंसग वक्रता का आद्योपात संतुलन व्यंग्य उपन्यास को जन्म देता है ? कैसे व्यंग्य निबंध का फार्मेट, निबंध से अलग है। व्यंग्य निबंध की वह जो निर्बाधता है उसका मापन कैसे होगा ? व्यंग्य रचनाओं के शीर्षकों तक में तो विशिष्टता है क्योंकि उन्हें पाठक को दर्शाना है कि वह व्यंग्य पढ़ने जा रहा है। सब हैडिंग में व्यंग्य रचना लिखा हो ना हो तो भी पाठक शीर्षक भर से समझ लेता है 'नेकी कर कुँए में डाल' कहानी का शीर्षक हो सकता है, पर 'नेकी कर अख़बार में डाल' व्यंग्य का शीर्षक ही होगा। इन सब बातों को जाने बगैर व्यंग्य की आलोचना नहीं हो सकती। कई बार स्थिति हास्यास्पद की बन जाती है।

प्रसंगवश मुझे ज्ञान चतुर्वेदी के व्यंग्य उपन्यास 'बारामासी' पर हुई चर्चा की याद आ रही है जिसमें हिन्दी के कई 'बड़े' आलोचक उपस्थित थे। व्यंग्य की तराजू मैंने, हरीश नवल और प्रकाश ने संभाल रखी थी। 'मूर्धन्य' किस्म थे इन आलोचकों ने बारामासी को लेकर काफी बड़ी-बड़ी बातें की। मसलन वह ग्रामीण और कस्बाई परिवेश की सही तस्वीर उकेरता है। आधुनिक शिक्षा पद्धति पर सवाल खड़े करता है वगैरह..... वगैरह। व्यंग्य के नाम पर एकमात्र बात यह ज़रूर हुई कि यह हँसोड़ भाषा में लिखा गया उपन्यास है। किसी भी आलोचक ने उसे व्यंग्य उपन्यास कह कर पुकारने की ग़लती नहीं की थी जबकि लेखक ने उसे व्यंग्य उपन्यास लिखा था। एक सज्जन ने तो उसे व्यंग्य उपन्यास लिखने पर ही सवाल उठा दिया था। अरे भाई, जब लेखक खुद अपनी कृति को व्यंग्य उपन्यास कहा रहा है तो आपत्ति आपको क्यों है। पर आपत्ति थी वह इसलिए क्योंकि अगर आप 'बारामासी' का व्यंग्य उपन्यास कहकर विवेचन करते तो आपको खुद भी जानना होता और श्रोताओं को भी बताना होता कि सामान्य और व्यंग्य उपन्यास में अर्थ क्या है। उसके प्रतिमानों को लेकर बात करनी होती उसके विशिष्ट समीक्षा उपकरणों आदि पर की स्वयं को केन्द्रित करना होता। इससे बेहतर तो यही था कि व्यंग्य उपन्यास में से सिर्फ व्यंग्य हटा दो, बाकी तो अब तक जैसे सँभाला गया है, सँभाल ही लिया जाएगा।

खैर..... फिर लेख से ही जुड़ता हूँ कि यदि आप व्यंग्य की आलोचना के प्रति गंभीर हैं और बरसों से छूटी हुई इस ज़िम्मेदारी को पूरा करना चाहते हैं तो आपको अन्य बातों के अलावा व्यंग्य के शैलीय उपकरणों की अपनी परख को भी मज़बूत करना होगा। बक्रोक्ति, बाग्वैदग्ध्य, ताना कटूक्ति आदि के उपयोग का महत्त्व क्या है। व्यंग्य के सरोकार क्या हैं, प्रहारात्मकता का स्तर क्या है ? शुद्ध हास्य और शुद्ध व्यंग्य के बीच का अन्तर क्या है ? आपको जानना होगा कि क्यों कोई 'इन्सपेक्टर मातादीन चाँद पर' जैसी रचना प्रांरभिक हास्य की घटा बिखेरती हुई एक तीखे व्यंग्य में बदल जाती है, क्यों कोई 'बारामासी' अपनी खिलंदड़ी भाषा के बावजूद बेहतरीन व्यंग्य उपन्यास माना जाता है। ये सब बातें आपको जाननी ही पड़ेंगी, पर प्रश्न ये है कि इतनी सब मेहनत किस लिए ? उस व्यंग्य के लिए जो यूँ ही किस्म का लेखन है। फिर जब अच्छा भला काम पुरानी आलोचना पद्धति से चल रहा है तो इन सब लफड़ों में पड़ने की ज़रूरत क्या है ? प्रस्तावना, कारण, उपसंहार और शीर्षक, कथा वस्तु, भाषा-शैली आदि के पुराने फार्मूले हैं तो..... जब अब तक इनसे काम चलता रहा तो क्या आगे नहीं चलेगा। पुरस्कार-सम्मान तो कविता-कहानी की आलोचना पर मिलते हैं तो हमें वहीं कविता-कहानी के नए प्रतिमान खोजने होंगे। बिम्बों-प्रतीकों की छटा खोजनी होगी। उपन्यासों के नये अर्थ निकालने होंगे। रहा व्यंग्य.... तो व्यंग्य की आलोचना से क्या मिलना है ? वह तो हाशिये का लेखन है उसकी आलोचना पर काम कर के अपनी बनी-बनाई प्रतिष्ठा दाँव पर थोड़े ही लगानी है। सो हम तो यही सूत्र वाक्य कहकर मज़े से पल्ला झाड़ लेते हैं -'व्यंग्य लेखन मुख्य धारा का लेखन नहीं है मी लॉर्ड।'

❐

(आलोचक और लेखक के बीच हमेशा से ही खट्टे मीठे संबंधों का किस्सा रहा है। आलोचक अपना काम करता है और लेखक अपना। दोनों अपनी जगह महत्त्वपूर्ण हैं। इसीलिए ये जानना भी ज़रूरी है कि लेखक आलोचना को लेकर क्या सोचता है तथा यदि लेखक स्वयं आलोचना करे तो वह किस प्रकार की होगी। 'अपना पक्ष' खण्ड में शामिल हैं रचनाकारों के विचार।-संपादक)

आकांक्षा पारे
फीचर संपादक, आउटलुक हिन्दी
ए बी-5, सफदरगंज एन्क्लेव
नई दिल्ली
मोबाइल ९९९०९८६८६८

कितनी ज़रूरी आलोचना

आकांक्षा पारे काशिव

आलोचना क्यों ज़रूरी है यह प्रश्न जितना जटिल है उतना ही आसान भी। आसान इसलिए कि एक ही शब्द में कहना है हाँ आलोचना ज़रूरी है। लेकिन क्यों ज़रूरी है इसके लिए आलोचना प्रक्रिया की पूरी विवेचना ज़रूरी है। आखिर किसी कृति की आलोचना क्यों की जाए, से पहले ज़रूरी है कि किसके लिए आलोचना की जाए। आख़िर साहित्य के लिए आलोचक क्यों ज़रूरी है। किसी कृति पर उसकी आलोचना ही उस कृति को दरअसल पाठकों में स्थापित करती है। एक लेखक से ज़्यादा आलोचक की ज़रूरत पाठकों को है। लेखक जब लिखता है तो उसकी अपने समय विशेष, विषय या परिवेश पर ही पकड़ होती है। वह उस कृति में अपने वक्त के माहौल पर चोट करता है और कोशिश करता है कि वक्त से आगे जाकर वह पाठकों को रचना के जरिये सोचने के लिए प्रेरित कर सके।

एक कथाकार होने के नाते मुझे लगता है कि इस दौर में आलोचना की धार कुछ कम हुई है। लेखक ही एक दूसरे की कहानियों और उपन्यासों पर चर्चा कर रहे हैं। एक ही जमात लिख भी रही है और वही अपने समकालीनो का मूल्यांकन भी कर रही है। ऐसे में जो अच्छा लिख रहे हैं, लिख सकते हैं उनका मौका छिन जाता है। जब हम यानी कहानीकार कुछ लिखते हैं तो आम पाठक फोन कर बधाई देता है और समकालीन में से कुछ उसकी खूबियाँ या कमियाँ गिना देते हैं। बस इस तरह एक कहानी की चर्चा समाप्त हो जाती है। जबकि एक कहानी का विषय सोचने से लेकर उसके प्रकाशित होने तक जो प्रसव पीड़ा लेखक झेलता है वह सिर्फ और सिर्फ एक अच्छा आलोचक ही समझ सकता है। एक कथाकार या रचनाधर्मी से ज्यादा आलोचक की ज़रूरत एक पाठक को होती है। आलोचक की इतिहास पर पकड़ होती है और वह कई वर्षों की रचनाओं का तुलनात्मक अध्ययन कर सकता है। वह पाठक को बताता है कि दसअसल यह रचना श्रेष्ठ क्यों है और इसे क्यों पढ़ा जाना चाहिए। या फिर इस रचना में क्या कमी है और आख़िर कोई पाठक इस रचना को पढ़ने में अपना वक्त क्यों कर ज़ाया करे। यह ऐसी विधा है जिसमें वह रचना कुछ नहीं है फिर भी उसे पता होता है कि कोई कहानी या कविता किस रचना प्रक्रिया से गुजर कर पाठकों तक पहुँची होगी। आलोचक इसलिए भी ज़रूरी हैं क्योंकि यदि कोई रचना कथाकार कहानी या कविता को जन्म देता है तो आलोचक सही मायने में उसका पालन-पोषण करता है। पालने-पोसने की उसकी मेहनत ही होती है जो किसी रचना को श्रेष्ठ रचना में परिवर्तित कर देती है। टी.एस. इलियट की कविता वेस्टलेंड को उनकी श्रेष्ठ रचनाओं में गिना जाता है। लेकिन उनकी कविता का संपादन जिस कवि ने किया उसमें उसका भी योगदान था। एजरा पाउंड ने कविता के सीधे-सीधे चालीस पन्ने हटा दिए थे। एजरा को खुद बहुत दुरूह कवि माना जाता है। उन्हें समझना इतना आसान नहीं है। लेकिन एक बेहतर संपादन और आलोचनात्मक दृष्टि ने इलियट की कविता की छवि ही बदल दी। अपनी संपादित कविता को देख कर इलियट ने एजरा पाउंड को कहा था, बैटर क्राफ्ट्समैन। यह कविता उन्होंने एजरा पाउंड को ही समर्पित भी की है। किसी भी लेखन के लिए चाहे वह कविता हो या कहानी, आलोचक की ज़रूरत इसलिए है कि लेखक को खुद पता नहीं होता कि उसने महान रच दिया है। वह सिर्फ लेखन की सीमाएँ जानता है और अपना काम करता है। यह आलोचक नामक जीव ही है जो पाठकों को और अन्य लोगों को बताता है कि फलाँ रचना में कथाकार ने इतनी बड़ी बात कह दी है। यदि रामचंद्र शुक्ल ने प्रेमचंद के बारे में न बताया होता या उनकी रचनाओं को एक अलग दृष्टि न दी होती तो प्रेमचंद आमजन तक जितना पहुँचे हैं उतना न पहुँच पाते। रामचंद्र शुक्ल की आलोचना ने प्रेमचंद के साधारण बिंबों की महत्ता समझाई और उन्हें कथा सम्राट की ऊँचाईयों तक पहुँचाया। इसका मतलब यह न निकाला जाए कि प्रेमचंद को बनाने वाले रामचंद्र शुक्ल थे। लेकिन हाँ उन्हें पहचान दिलाने वाले वह ज़रूर थे। लेखक वैसा ही है जैसा किसी इम्तेहान में बैठने वाला छात्र। परीक्षा देने के बाद

जैसे किसी छात्र को नहीं मालूम होता कि वह प्रावीण्य सूची में आएगा वैसे ही लेखक को नहीं मालूम होता कि उसने क्या गढ़ दिया है। आलोचक बताता है कि इस लेखक को क्यों पढ़ा जाए। जैसे नामवर सिंह के लेखों से ही गजानन माधव मुक्तिबोध की कविताओं पर पाठकों का नजरिया बना और वह आम पाठकों की समझ में आने लगे। एक लेखक लिखता है और एक आलोचक उसका मूल्यांकन करता है। किसी भी व्यक्ति को अपनी क्षमता तो पता होती है लेकिन महानता नहीं। आलोचक यही काम करता है। वह किसी रचनाकार को महान बनाता है। आलोचना इसलिए भी ज़रूरी है कि इससे कथाकार को एक नया नजरिया मिलता है और लिखने का उत्साह भी। जब आलोचक किसी कहानी पर बात करता है तो वह उन बिंबो को भी रेखांकित करता है जो कथाकार के मन में लिखते वक्त तो थे लेकिन पाठक उसे नहीं पकड़ पाए। यदि आलोचक इसे पकड़ कर पाठकों तक पहुँचाता है तो कहानी को नया जीवन मिल जाता है। डेविड लॉज और एच.ई.बेट्स ने कथा साहित्य को नई दृष्टि दी और कई विदेशी कृतियाँ उनके लेखों की वजह से कई अन्य भाषाओ में अनुदित हुई और संसार भर में उन्हें प्रसिद्धि मिली। दरअसल पाठक के पास सभी कृतियाँ पढ़ने का न समय है न इच्छाशक्ति। वह श्रेष्ठ और अच्छा पढ़ना पसंद करता है। कई कृतियाँ सिर्फ इसलिए प्रचार पा जाती हैं क्योंकि उन पर विवाद की छाया आ जाती है। उनकी ख्याति या कुख्याति का मतलब यह नहीं होता कि वे अच्छी हैं। जब किसी कृति पर विवाद होता है तो एक आलोचक की ज़िम्मेदारी बढ़ जाती है और वही पाठकों को बताता है कि यह ख्यात कृति है या कुख्यात। किसी भी रचनाकार को आलोचक से बहुत सारी उम्मीदें होती हैं। हर रचनाकार चाहता है कि उसकी पीढ़ी में उसके साथ स्वस्थ्य प्रतियोगिता रखने वाले यदि रचनाकार हों तो साथ ही आलोचक भी हों। ऐसे आलोचक को निजी दोस्ती-दुश्मनी या रिश्तों से ऊपर उठ कर उनकी कृतियों पर लिखें और बताएँ कि वे श्रेष्ठ कैसे हो सकते हैं। एक अच्छा आलोचक रचनाकार के लिए प्रेरणस्त्रोत का काम करता है। अच्छे आलोचकों की वजह से ही साहित्य ने नए-नए विषयों की खोज की है। स्त्री और दलित विमर्श ऐसे ही विषय हैं जिन पर आलोचकों की दृष्टि पड़ी तो लेखकों ने अपनी कहानियों में इन विषयों को शामिल किया। इस वर्ग की परेशानियाँ बाहर आई और इस वर्ग से भी लेखक बाहर आ सके। क्योंकि दूसरे वर्ग के व्यक्ति सुन के लिख सकते थे और इस वर्ग के लेखकों ने जो भोगा, जिया वह लिखा। आलोचक जब किसी विषय को आगे बढ़ाते हैं तो लेखक उन विषयों पर ध्यान देते हैं और लिखते हैं। कभी-कभी लेखक जिन विषयों पर लिखते हैं आलोचक उन विषयों को प्रोत्साहित करते हैं और एक श्रृंखला चलती रहती हैं। कई बार इससे कुछ पंथ या वाद भी पैदा होने के खतरे होते हैं लेकिन इन्हें नजरांदाज किया जा सकता है। कई बार लेखकों को आलोचक प्रेरित करते हैं कि फलाँ विषय पर अपनी राय जाहिर करें और फिर कभी-कभी लेखक उस परंपरा का अनजाने ही परचम थाम लेता है। ज्याँ पॉल सात्र को जब नो बडी कैन रूल इनोसेंटली के लिए नोबेल देने की घोषणा हुई तो सार्त्र ने यह पुरस्कार लेने से इनकार कर दिया। उनका कहना था कि यह पुरस्कार उन्हें इसलिए नहीं दिया जा रहा कि यह श्रेष्ठ कृति है, बल्कि इसलिए दिया जा रहा है कि यह मार्क्सवादी माहौल के खिलाफ है। उस वक्त आलोचक मार्क्सवाद विरोधी माहौल बना रहे थे और उन्हें लगा कि सात्र की कृति प्रचार के लिए बिलकुल मुफीद है। एक तरह का बौद्धिक माहौल तैयार करने में आलोचकों की बड़ी भूमिका रहती है। ऐसे तो कई कहानियाँ लिख दी जाती हैं और उनमें से कई पढ़ भी ली जाती हैं। लेकिन कुछ कहानियाँ जहन में सितारे की तरह टँक जाती है क्योंकि उन पर इतनी व्यापक चर्चा होती है कि साहित्य से जुड़े लोगों के अलावा भी उसे आम जन भी पढ़ते हैं। तभी वह रचना लंबे समय तक जीवित भी रह पाती हैं। कार्ल मार्क्स ने कहा था, अपने वक्त का महानतम व्यक्ति वह नहीं है जो समाधान देता है, बल्कि वह है जो प्रश्न उठाता है। प्रश्न उठाना महत्त्वपूर्ण है। समाधान तो आज या कल मिल ही जाते हैं। जब प्रश्न होते हैं तभी समाधान खोजने की जद्दोजहद की भी जाती है। मार्क्स इसलिए महान थे क्योंकि उन्होंने जटिल प्रश्न उठाए। यह अलग बहस का विषय है कि उनके समाधान गलत थे। पर जो प्रश्न उन्होंने उठाए उसी ने उन्हें महानतम दार्शनिक बनाया। साहित्यकार भी यही करता है। वह प्रश्न उठाता है। वह जो प्रश्न उठाता है वह पाठकों तक पहुँचाने के लिए आलोचक मेहनत करता है। वह उन प्रश्नों में अंर्तनिहित आत्मा को समझता है और किसी कथाकार की मेहनत को सफल बनाता है या उसे प्रेरित करता है कि वह बेहतर और बेहतर काम करें। आलोचक के बिना कोई भी कला माध्यम का काम नहीं चल सकता। आलोचक के पास एक आँख होती है जो सामान्य पाठक के मुकाबले दूर तक और अन्य तरह की बातों को देखने में सक्षम होती है। पाठक जो समझता है आलोचक उसे और आगे बढ़ता है। वह पाठक की समझ विकसत करने के साथ ही समान्य दर्जे, श्रेष्ठ साहित्य और मध्यम रचनाओं के बीच के फर्क को आगे बढ़ाता है। आलोचक का ज्ञान सीमित नहीं होना चाहिए क्योंकि लेखक तो अपने सीमित ज्ञान से कल्पना शक्ति के साथ बहुत कुछ रच लेगा, लेकिन आलोचक के लिए ज़रूरी है कि वह इतिहास के साथ भविष्य की तुलना भी कर पाए।

एक अलोचक को राग-द्वेष और दोस्ती से ज़्यादा सिर्फ और सिर्फ रचना पर बात करना चाहिए ताकि कथाकार अपनी कमियाँ भी देख सके। फेणीश्वर नाथ रेणु ने जब मैला आँचल लिखा तब इसके महत्त्व को नहीं आँका जा सकता था। नलिन विलोचन शर्मा ने रेडियो पर एक लेख पढ़ा और उन्होंने इसके महत्व को रेखांकित किया। तभी आज मैला आँचल वह सम्मान पा सका है। लेकिन आज का दौर ऐसा है कि ज़्यादातर रचनाकार आलोचक न खोजते हैं न उनके लिखे को गंभीरता से लेते हैं। लेखक चाहते हैं कि आलोचक उनके लेखन के गुण तो बताए लेकिन दोष न कहे। ऐसा नहीं है कि आलोचक कभी चूकते नहीं है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने छायावाद के महत्व को नहीं पहचाना था। उन्होंने उसे बहुत महत्त्व नहीं दिया। उसी तरह छायावाद को सही विश्लेषित करने वाले नंददुलारे वाजपेयी, छायावाद के बाद की कविता को विश्लेषित करने में चूक गए थे। एक अच्छा कथाकार वही है जो आलोचना से न डरे और आलोचक को उसकी पूरी स्पेस दे। साहित्य का सही मूल्यांकन तभी संभव है। लेखक को याद रखना चाहिए कि वह सिर्फ समकालीनों के लिए नहीं लिख रहा, बल्कि आने वाली पीढ़ी के लिए भी लिख रहा है।

❐

गँवई आधुनिकता में साँस लेती हिन्दी कहानी

विजय गौड़

बेशक साहित्यिक रचनाओं को इतिहास न कहा जा सके पर उनमें दर्ज होता यथार्थ, दौर विशेष की सामाजिकी को ऐतिहासिक नज़रिये से खँगालने का अवसर तो देता ही है। कथादेश, अक्टूबर २०१२ में प्रकाशित कथाकार हरीचरण प्रकाश की कहानी ''सुख का कुँआ खोदते हुए-दिन प्रतिदिन'' मध्यवर्गीय जीवन के समकालीन यथार्थ को ऐसी ही करीबी से पकड़ती है। उसका पाठ भारतीय समाज के ऐतिहासिक अवलोकन की माँग करने लगता है। पिछले ६०-७० सालों की हिन्दी कहानियों में दर्ज होते समय से गुजरे बिना उसको समझा भी नहीं जा सकता है। कथ्य की संगतता में वह अपनी जैसी जिन अन्य कहानियों को याद करवाती है उनमें प्रमुख हैं-कथाकार ज्ञानरंजन की सबसे ज्यादा याद आने वाली कहानी 'पिता', उदय प्रकाश की 'तिरिछ' और सुभाष पंत की 'ए स्टिच इन टाइम'। आज़ादी के बाद लगातार आगे बढ़ते समय में पिता और पुत्र के संबंधों की एक श्रृंखला बनाती ये चारों कहानियाँ भारतीय समाज व्यवस्था के विकासक्रम का सांख्यिकी आँकड़ा जैसा प्रस्तुत करने लगती है। ''सुख का कुँआ खोदते हुए-दिन प्रतिदिन'' का पिता जहाँ कुछ ही समय पहले लिखी गई कहानी 'ए स्टिच इन टाइम' के पिता का हम उम्र साथी नजर आता है तो वहीं नब्बे के दशक में आयी 'तिरिछ' के पिता से उसका पुत्र का सा संबंध बन रहा है और 'पिता' का पिता उसे दादा-पोते के से रिश्ते में बाँधता हुआ है। कथाकार कामतानाथ की कहानी 'संक्रमण' भी पिता-पुत्र के ही संबंधों पर रची गयी है। सतत सामाजिक बदलावों की संगत में उसके कथ्य को इन चारों कहानियों के ठीक मध्य में रखा जा सकता है। दकियानूस सामंती जकड़न के विरूद्ध 'पिता' कहानी का अंदाज जहाँ 'लव-हेट' रिलेशनशिप के साथ है, वहीं 'तिरिछ' में मिथकीय आख्यान जीवन्त हो उठता है। सुभाष पंत के यहाँ भावनात्मक संवेदना के अतिरिक्त उभार में असंवेदनशील होता जा रहा समय बोलने लगता है तो हरीचरण प्रकाश की कहानी परिस्थितियों के वस्तुगत बदलाव में यकीन जताती है। सामाजिक बदलावों के इस प्रवाह की मध्यस्ता में खड़ी 'संक्रमण' उन अवस्थाओं को पुन:सृजित करती है जो बदलाव को एक सीमित गतिविधि या वय की एक अवस्था भर मान रही हैं और पुत्र में संक्रिमत होते पिता के साथ अपना होना सुनिश्चित करती है।

विजय गौड़
फ्लैट संख्या: ९१, १२वाँ तल, टाइप-III, केन्द्रीय सरकारी आवास परिसर, ग्राहम रोड़, टॉलीगंज, कोलकाता-७०००४०।
मोबाइल : ०९४७४०९५२९०

उद्धृत की जा रही कहानियाँ के अलावा भी कई कहानियाँ हो सकती है जिनमें पिता-पुत्र का संबंध करीब से गुज़रा हो। पर इन चारों कहानियों की तारतम्यता आज़ादी के बाद विकसित होते मध्यवर्ग के भीतर लगातार पनपती और घर बनाती गई गंवई आधुनिकता को चिह्नित करने में मद्दगार है। वैसे गंवई आधुनिकता एक भिन्न पद है लेकिन यह भिन्नता सिर्फ शाब्दिक नहीं है। बल्कि रचनात्मक दौर की प्रवृत्तियों को चिह्नित किये बगैर, उसको आंदोलन मान लेने वाली प्रवृत्ति से नाइत्तिफाकी है, जिसकी माँग हरी चरण प्रकाश की कहानी भी कर रही है। तात्कालिकता को एक आंदोलन मान लेने वाली गैर विश्लेषणात्मक पद्धति ही आलोचना के ऐसे मान दण्ड खड़ी करती रही है जिसमें रचना से इतर रचनाकार को ही ध्यान में रखकर, पहले से तय निष्कर्षों को ही आरोपित किया जाने लगता है। लेखक तो कहानी के इस दौर को 'गंवई आधुनिकता', से नवाजे जाने वाली संज्ञा के पक्ष में है और कहानी आंदोलन के नाम पर अभी तक जारी संज्ञाओं को तथाकथित मानने को मजबूर है।

पिछले लगभग ७०-८० वर्षो के भारतीय समाजिक ढाँचे को देखें तो उसका गँवई आधुनिकपन साफ तरह से समझा जा सकता है। आधुनिक काल के आरम्भिक समय में उसका व्यवहार किस तरह और कौन से मध्यवर्गीय रास्तों की राह को पकड़ कर वह आगे बढ़ रही है, इसे भी जाना जा सकता है। हरीचरण प्रकाश की कहानी यहाँ दूसरे छोर पर है और पहला छोर कथाकार ज्ञानरंजन की कहानी 'पिता' के मार्फत ज़्यादा साफ दिख रहा है। बिना किसी आग्रह-दुराग्रह के यदि बहस में उतरें तो अनेकों सवालों से टकराना होगा और गँवई आधुनिकता से मध्यवर्गीय आधुनिकता में छलाँग लगाते भारतीय मध्यवर्ग का चेहरा किस रूप में हमारे कथा साहित्य में दर्ज हुआ है उसे जानना-समझना संभव हो सकता है।

सवाल है कि गँवई आधुनिकता है क्या ? हरीचरण प्रकाश की कहानी और उसके बहाने याद आ रही अन्य कहानियों से उसका क्या संबंध बनता है ? स्पष्ट है कि गँवई आधुनिकता का वास्तविक अर्थ हिन्दी साहित्य की अभी तक की उस दुनिया से भिन्न नहीं है, जो मेहनतकश आवाम के प्रति पक्षधर रही। वैश्विक पूँजी के आक्रामक बदलावों से नाइत्तफाकी ही उसका आदर्श है। लाख कहा जाये कि हिन्दी साहित्य के पाठकों की दुनिया सीमित है तो भी इस सत्य से इंकार नहीं किया जा सकता कि भारतीय मध्यवर्ग का एक बड़ा हिस्सा साहित्य के आदर्शों की रोशनी में ही आवाम के प्रति संवेदनशील बना रहा है, यह उस गँवईपन की सकारात्मकता ही है। निम्न वर्गीय सामाजिक पृष्ठभूमि से भरे कथ्य के बावजूद संवाद की मध्यवर्गीय जड़ताओं के दायरे में सिमटा होना इसके कमज़ोर पक्ष के रूप में रहा है। भले-भले से विचार और मेहनतकश आवाम के प्रति पक्षधर होने के बावजूद भी बदलाव के सतही नारों की शिकार रही राजनैतिक पृष्ठभूमि इसकी सीमा निर्धारित करती रही। जिसके चलते तकनीकी बदलावों को ठीक से समझने और उस आधार पर सामाजिक आदर्श को गढ़ने की प्रक्रिया में अवरोध ही बना रहा। इसका सीधा असर उन मूल्य-आदर्शों पर पड़ा जो समाज की खुशहाली का स्वप्न बुनने में सहायक होते। सिर्फ कोरे आदर्शों के कुछ ऐसे प्रतिमान गढ़े गए जिसने आधुनिकता की ओर संक्रमण करते समाज को घोर निराशा में जीने को मजबूर किया। व्यक्तिगत महत्त्वाकांक्षाओं की तुष्टि के लिए बचाव की भूमिका ही व्यक्ति का आदर्श होती गई। जनतांत्रिक मध्यवर्गीय आधुनिकता की बजाय भ्रष्ट मध्यवर्गीय आधुनिकता को जन्म देने वाली स्थितियाँ ऐसे तथ्यों के साक्ष्य है।

चूँकि हरीचरण प्रकाश की कहानी ''सुख का कुँआ'' गँवई आधुनिकता के अंत होते दौर को बयान करती है। इसीलिए ज़रूरी हो जाता है कि इस अंत होती गँवई आधुनिकता की पड़ताल पूर्ववर्ती कहानियों के सहारे की जाए। और उस मध्यवर्गीय आधुनिकता को भी समझा जाए जो सामाजिक बदलाव की स्वाभाविक वैज्ञानिक प्रक्रिया की बजाय बलात आरोपित होती हुई है। पाएँगे कि गँवई आधुनिकता का परित्याग अकस्मात झटके के साथ नहीं हो रहा है बल्कि सामाजिक आदर्श और नैतिकताओं से धीरे-धीरे किनारा करते ऐसे मध्यवर्गीय रुझानों के साथ है जो अस्वीकार एवं स्वीकारोक्ति की स्थितियों की द्विविधा में गैर सामाजिक हो जाने के अंदेशों से काँपती भी रहती है। काँपने की थर-थरहाट को शिल्प और भाषा पर ज़रूरत से ज़्यादा ज़ोर देकर लिखी गयी कहानियों के रूप में देख सकते हैं। बिना किसी असमंजस के यदि ऐसी कहानियों का ज़िक्र करना पड़े तो योगेन्द्र आहूजा की ''पाँच मिनट'', मनोज रूपड़ा की ''रद्दोबदल'' गीत चतुर्वेदी की ''सावंत आंटी...'', ''पिंक स्लिप डेडी'' का ज़िक्र किया जा सकता है। ऐसी अन्य कहानियों से गुज़रते हुए देखा जा सकता है कि तरह-तरह के उपभोक्ता उत्पाद की भूख पैदा करने वाली मुनाफाखौर पूँजी के विरोध के नाम पर विषय की विशिष्टता, शिल्प और अति भाषायी सजगता में मनोगत कारणों के प्रभाव ही ज़्यादा प्रबल होते हुए हैं।

दुनियावी विकास का वास्तविक पैमाना हमेशा तकनीक से निर्धारित होता है और सामाजिक ठहराव में हलचल भी उसी के बदलाव पर निर्भर करती रही है। लेकिन पिछले लगभग दो सौ सालों से मुनाफाखौर बाज़ार ने एक ही तरह के उत्पाद की भिन्न-भिन्न किस्मों को ही तकनीक की तरह प्रचारित कर विज्ञान का भी कर्मकाण्ड फैलाया है और तकनीक के बदलावों को दो भिन्न स्तरे पर विभाजित किया है। ये दो स्तर हैं-'मेजर टैक्नोलॉजिक एडवांस्मेंट' एवं 'माइनर टैक्नोलॉजिक एडवांस्मेंट'। 'माइनर टैक्नोलॉजिक एडवांस्मेंट की राह चलता समकालीन विज्ञान उत्पादों के विशिष्ट 'वर्जन' के साथ ही पूँजी की सेवादारी में संलग्न है। हिन्दी ही नहीं, भारतीय मध्यवर्ग की गैर-वैज्ञानिक गँवई आधुनिकता तकनीक और उत्पाद के फर्क को अलग-अलग न मान पायी। बल्कि उत्पाद को ही तकनीक मानती रही और पुरज़ोर तरह से तकनीक के ही विरोध में जुटी रही। इस गैर वैज्ञानिक समझदारी के प्रति तार्किक रुख अपनाते हुए जिस मध्यवर्गीय आधुनिकता का विकास होना चाहिए था, सामंती सरोकारी से मुक्त न हो पाई राजनैतिक स्थितियों में वह होना संभव नहीं था। जिसके चलते गंवईपन से मुक्ति की राह खोजता मध्यवर्ग उत्पाद को ही तकनीक मान लेने वाली लपक में आता रहा। लोभ और भ्रष्टता का दल-दल समाज में ऐसे भी अपना दायरा बढ़ता जा रहा है। वर्ष २०१२ में प्रकाशित कथाकार हरीचरण प्रकाश की कहानी उसके होने और उससे निषेध की बहुत क्षीण आवाज़ का प्रमाण प्रस्तुत कर रही है।

सामंती मानसिकता में रंगी जिस गँवई आधुनिकता ने आज़ादी के आंदोलन में भारतीय जन मानस का नेतृत्व किया, आगे के समय में पीढ़ी दर पीढ़ी उसका ज्यों का त्यों बना रहना भी सामंती मूल्यों को पोषित करती राजनीति की ही

देन रहा। उपभोक्ता संस्कृति की मुखालफत में मशीनीकरण का ही विरोध भारतीय मध्यवर्ग की भी आवाज़ होता गया। परिणामत: नाक भौं सिकोड़ोते हुए भी वैश्विक पूँजी की मंशाओं को पूरी तरह से पर्दा फाश करने में प्रगतिशील धारा की राजनीतिक सीमायें भी सामाजिक निराशा को जन्म देती रही है। व्यवस्था रूपी संख्याबल से बाहर हो जाने की चिन्ताओं में वह खुद अपने भीतर के मैकेनिज्म में भी वैसी ही स्थितियों को यथावत बने रहने देने वाली कार्यशैली को अपनाने वाली रही, जिसने गैर वैज्ञानिकता का ही साथ दिया। भारतीय राजनीति के इस 'प्रगतिशील रूप' की बहुत साफ तस्वीर हिन्दी साहित्य में देखी जा सकती है। विचारभूमि की ऐसी स्थितियों में ही हिन्दी कहानी का केन्द्र दया, करुणा वाले नैतिक आदर्शों से आगे नहीं बढ़ पाया। शोषण के प्रतिरोध की सद् इच्छायें, साम्प्रदायिकता जैसे कुत्सित विचार की मुखालफत में भी एक ऐसा दार्शनिक अंदाज जो धर्म पर चोट करने को कतई ज़रूरी नहीं मानता रहा। प्रगतिशीलता के ऐसे ही मानदण्ड संस्कृति और कला के घालमेली करण में वहाँ-वहाँ तर्क बन कर सामने आते रहे जहाँ पूजा पंडालों वाले उत्सवों के साथ बली प्रथाओं जैसी अमानवीय प्रवृत्तियाँ आज तक खुले आम जारी हैं, बल्कि सरकारी संरक्षण देता वर्दी धारी कानूनी राज मानो उनके लिए ही पहरे पर हो।

उन कहानियों का ज़िक्र फिर कभी जो भ्रष्ट मध्यवर्गीय आधुनिकता का चेहरा हो रही हैं, अभी तो गँवई आधुनिकता की तलाश में जुटते हुए कहा जा सकता है कि भारतीय समाज के चेहरे पर उभर आने वाले गँवईपन को पूरी तरह से मिटा पाने में असमर्थ और स्वयं को आधुनिक मान लेने के मुगालते में जीता मध्यवर्ग, न टूट पाये सामंती मूल्यों की जड़ता में वर्ण संकर जैसा ज़रूर हुआ। सामंतवादी मूल्य और आदर्शों से मुक्ति की स्थितियाँ इस वर्ग के निजी दायरे में भी वहीं तक प्रवेश कर पाई हैं जिनकी वजह से उसकी मौज मस्ती में खलल पड़ सकती थी। यदा कदा के प्रतिरोधी प्रदर्शनों वाले 'इवेन्ट' को खबर बनाकर पेश करने वाले मीडिया पर भी इस वर्ग का यकीन ही जनतंत्र का झूठ रचकर आज़ादी का झण्डा फहराती मुनाफाखोर पूँजी की षडयंत्रकारी गतिविधियों में भी सहायक हुआ है। सिर्फ मुनाफे की हवस से

"आज तक की हिन्दी कहानी मुख्य तौर पर शिल्प और पासंग में भाषायी बदलाव के साथ ही दिखायी देती हैं। आलोचना के स्तर पर भी कलात्मक सौन्दर्य के ऐसे ही प्रतिमानों की स्थापना में रचनात्मक साहित्य के मूल्यांकन की जो पद्धति अपनायी गयी वह दृष्टि में तात्कालिक और प्रस्तुति में निर्णायक ही ज्यादा रही, जिसके लक्ष्य न सिर्फ खुद में अति महत्त्वाकांक्षा से भरे रहे बल्कि रचना जगत के सामने जिसने व्यक्तिवादी होने के मानदण्डों वाली नैतिकता के आदर्श को स्वीकारोक्ति प्रदान की। चूकती गयी स्थापनाओं ने ही रचनात्मक जगत को भी ऐसे तार्किक आधार दिये कि सामंतवाद को उसके क्रूरतम में चिह्नित करना प्राथमिक नहीं रहा।"

भरी दलाल पूँजी ने सामंतवादी मूल्यों को पोषित करती शासन-प्रशासन की नीतियों को ही राष्ट्रीयता का नाम दिया। वैश्विक पूँजी ने स्वयं के विस्तार के लिए भी, तंत्र की इस खूबी को पहचानते हुए उसे यथावत बना रहने देने की हर भरसक कोशिश की। उसके दोहरेपन ने, जो एक ओर तो स्वतंत्रता और संप्रभुता का स्वीकार प्रस्तुत करता रहा और दूसरी ओर वैसी स्थितियों में जारी स्थितियों को छुपाये रखने वाली मानसिकता का पक्ष चुनता रहा, स्वतंत्रता के मायने कभी पूरी तरह से परिभाषित नहीं होने दिये और स्थानीय पूँजी के दलाल रूप पर भी पर्दा पड़ा रहा। जात-पाँत, क्षेत्र, धर्म और लैंगिक भेदभाव को फैलानी वाली विभेदकारी शक्तियों के लगातार आगे बढ़ते रहने की स्थितियाँ भारतीय राजनीति की सीमा रही। बदलाव की वैश्विक भूमिका में स्वयं को प्रगतिशील मानती ताकतें भी व्यवहार में भिन्न नहीं हो पाईं। सीमित स्वतंत्रता वाली स्थानीय पूँजी को अपना पिछलग्गू बनाये रखने और संसाधनों पर सीधे कब्जे वाली एफ.डी.आई. की हिस्सेदारी पर मन मसोस-मसोस कर भी स्वीकारोक्ति का वातावरण मौजूद रहा। इस प्रक्रिया में इतिहासबोध और सांस्कृतिकपन की जितनी ज़रूरत थी, भारतीय मध्यवर्ग ने उसे स्वीकारने में कभी कोई हिचक नहीं दिखायी। घुड़सवारी, तैराकी और तमाम रोमांचक गतिविधियों में दक्षता के साथ पुरुष को पति परमेश्वर मानते रहने वाली स्कूली शिक्षा के आदर्श इसका एक नमूना मात्र है। ऐसी विशेष भारतीय सामाजिकी में जिस तरह की रचना उपज सकती हैं, वे गँवई आधुनिकता से भिन्न हो नहीं सकती थी। न ही हो पायी हैं। देख सकते हैं कि दलित धारा की रचनाएँ भी इसी गँवई आधुनिकता के भीतर साँस लेती हुई हैं। लेकिन आलोचना की चालू पद्धति में वे भी उसी तरह एक अलग धारा के रूप में परिभाषित हुई हैं, जैसे स्त्री सवालों की वे रचनाएँ जो सामंती मूल्यों की बगावत में तो लिखी गईं लेकिन विमर्श के भीतर आकार लेते आर्थिक स्वतंत्रता और दैहिक सजगता से भरे दो भिन्न पाठों में बँट कर रह गईं।

आज तक की हिन्दी कहानी मुख्य तौर पर शिल्प और पासंग में भाषायी बदलाव के साथ ही दिखायी देती हैं। आलोचना के स्तर पर भी कलात्मक सौन्दर्य के ऐसे ही प्रतिमानों की स्थापना में रचनात्मक साहित्य के मूल्यांकन की जो पद्धति अपनायी गयी वह दृष्टि में तात्कालिक और प्रस्तुति में निर्णायक ही ज्यादा रही, जिसके लक्ष्य न सिर्फ खुद में अति महत्त्वाकांक्षा से भरे रहे बल्कि रचना जगत के सामने जिसने व्यक्तिवादी होने के मानदण्डों वाली नैतिकता के आदर्श को स्वीकारोक्ति प्रदान की। राजनैतिक ढुलमुलपन में वास्तविक प्रतिरोध के प्रतिमानों की चूकती गयी स्थापनाओं ने ही रचनात्मक जगत को भी ऐसे तार्किक आधार दिये कि सामंतवाद को उसके क्रूरतम में चिह्नित करना प्राथमिक नहीं रहा। संस्कृति को ध्वस्त किये बगैर आजादी के आंदोलन में पैदा होती आधुनिकता, आजादी के बाद भी सामंती संस्कारों से मुक्त नहीं हो सकी बल्कि शासन प्रशासन के भीतर तक घुसपैठ करते हुए संवैधानिक ढाँचे की शक्ल अख्तियार करती गई। भारतीय नौकरशाही के मूल चरित्र को उसने 'बॉसिज्म' की ऐसी ठकुराई प्रदान की कि कानून चौराहे पर खड़े सिपाही का हाथ होता गया। यानी किसी भी सीट पर बैठा कर्मचारी अपनी सीमित समझ और मनोगत कारणों से जन्म लेती व्याख्यायों को ही कानून बनाकर सामान्य जन की मुसिबतों को बढ़ाने की छूट पाता रहा।

६० के दशक में लिखी गयी कथाकार ज्ञानरंजन की कहानी 'पिता', दौर विशेष के भीतर मौजूद

सामंती मूल्यों की भिड़न्त में आधुनिकता की जिस तस्वीर को प्रस्तुत करती है उसमें नए जीवन मूल्य के समर्थन में खड़ी भारतीय राजनीति की प्रगतिशील धारा के तत्कालिन मानदण्ड साफ दिखायी देते हैं। पिछड़ी तकनीक को जिद्दीपन की हद तक जीवन का आदर्श मान रहे पिता से आधुनिक तकनीक के इस्तेमाल के पक्ष को चुनने वाले पुत्र का मतभेद कहानी का मूल विषय है। लेकिन इस प्रगतिशीलता की अपनी सीमाएँ रही जिसमें तकनीक के बजाय उत्पाद के प्रति मोह को आधुनिक मान लिये जाने का खतरा था और उसी की गिरफ्त में फँसती गई आधुनिकता का प्रवाह ही परवर्ती काल की विशेषता बन कर उभरने लगा। सामंती अन्तर्विरोधों को उभारते हुए भी उनसे पूरी तरह से मुक्त न हो पाने की त्रासदी भारतीय मध्यवर्गीय आधुनिकता की वह तस्वीर है जो वास्तविक रूप में आधुनिक होने की बजाय गँवईपन के झूठे विलगाव में भ्रष्ट हो जाने का आधार प्रदान करती है। संबंधों में एक किस्म का आत्मीय अनुराग लेकिन अभिव्यक्ति पर ताले लगाने को मजबूर करता सामंतीपन यहाँ सतत् मौजूद रहता है। विवरणों में पुत्र की नफरत है, लेकिन नफरत की वजह पुत्र का अपनी पहचान का संकट है। वह झूठी पहचान, जो सामंती ठसक में नाक को ऊँची रखने के लिए ज़िंदा रहती है। लू के थपेड़ों वाली गर्मी की रात पंखे में लेटने की बजाय पिता घर के बाहर 'बान वाली' चारपाई को भिगो-भिगो कर उस पर लेटते हुए गर्मी से निपटने की युक्ति खोज रहे हैं। पंखे की हवा में लेटा पुत्र चिन्तित है कि गर्मी के कारण हो रही बेचैनी से पिता निजात पा जाएँ और चैन की नींद सो सकें इस निजात पाने में पिता की हरकतों पर ध्यान देने की आशंका से भरा ऐसा आस-पास है, जो पुत्र को इस कदर डराये है कि अब नाक कटी कि तब। नाक का यह सवाल ही भारतीय मध्यवर्ग की आधुनिकता के साथ आगे बढ़ता गया है। स्वस्थ पूँजीवादी प्रभावों के असर में नहीं बल्कि आरोपित किस्म के पूंजीवाद ने जिस तरह सामंती गठजोड़ को आकार दिया, बिल्कुल वही। संजय की एक कहानी है ''मूँछ'' जिसमें इस विशेष भारतीय पूंजीवादी-सामंती गठजोड़ की स्थितियों पर करारा व्यंग्य हुआ है।

'पिता' भारतीय समाज के उस वर्ग का चेहरा बनती है जिसने आजादी के बाद आकार लेना शुरू किया है। तकनीक का उपयोग जिसे खुद के जीवन को सरल बनाता हुआ लग रहा था और अपने सीमित संसाधनों में वह उनका उपयोग भी करने लगा था। यथा,

''उसने जम्हाई ली, पंखे की हवा बहुत गरम थी और वह पुराना होने की वजह से चिढ़ाती सी आवाज़ भी कर रहा है।''

वह एक पुराना पंखा है जो खड़खड़ाहट करने की स्थिति तक पहुँच चुका है। उपभोक्तावाद ने यहाँ अभी अपने पाँव नहीं पसारे हैं। यानी ज़रूरत के हिसाब से पुरानी-धुरानी चीज़ों के साथ जीवन आगे बढ़ रहा है। अपने सीमित साधनों में ही पहुँच की सीमाएँ हैं।

'' ..लेकिन दूसरे कमरे के पंखे पुराने नहीं हैं।'' ये अनिवार्य सुविधाएँ नये उभरते वर्ग की ज़रूरत का हिस्सा होती जा रही हैं और नयी और पुरानी पीढ़ी के बीच जीवन मूल्यों की खींचतान ऐसे मुद्दों पर ही अपने-अपने तर्क के साथ आगे बढ़ती है।

''वे पुत्र, जो पिता के लिए कुल्लू का सेब मँगाते और दिल्ली एम्पोरियम से बढ़िया धोतियाँ मँगाकर उन्हें पहनाने का उत्साह रखते थे, अब तेज़ी से पिता विरोधी होते जा रहे हैं।''

पिछड़ेपन की ज़िद पर अड़े रहने वाले पिता से मतभेद के बावजूद अपने विरोध को सीधे रखने की एक स्पष्ट हिचकिचाहट यहाँ नई पीढ़ी के भीतर सत्त मौजूद है। बल्कि पिता की भूमिका यहाँ कुछ आक्रामक ही बनी रहती है और गैर जनतांत्रिकता और सामंतीपन सामाजिक मूल्य के रूप में ज्यों के त्यों बचे रहते हैं।

''आप लोग जाइए न भाई, कॉफी हाउस में बैठिये, झूठी वैनिटी के लिए बेयरा को टिप दीजिए, रहमान के यहाँ डेढ़ वाला बाल कटाइए, मुझे क्यों घसीटते हैं ?''

इस आक्रामकता का तार्किक जवाब देने की बजाय स्थिति को यथावत् जारी रहने देने के लिए तात्कलिक तौर पर किनारा कर लेने में ही विरोध की गढ़ी जाती तमीज ने उस मध्यवर्गीय व्यवहार को जन्म दिया जो भले-भले बने रहने की मानसिकता में ही समाज का चेहरा होती गई।

''कमरे से पहले एक भाई खिसकेगा, फिर दूसरा, फिर बहन और फिर तीसरा चुपचाप। सब खीझे हारे खिसकते रहेंगे। अंदर फिर माँ जाएँगी और पिता, विजयी पिता कमरे में गीता पढ़ने लगेंगे या झोला लेकर बाज़ार सौदा लेने चले जाएँगे।''

आधुनिकता के नाम पर बचा रह जा रहा यह सामंतीपन अगली पीढ़ी तक स्थायित्व होता चला गया। 'तिरिछ' कहानी में ऐसे ही पिता की तस्वीर आदर्श पिता के रूप में दर्ज है। जीवन मूल्यों में बदलाव की हिमायती होने के बावजूद भी समय के साथ वैसी ही ज़िद के संक्रमण का यही रूप बाद के दौर में कथाकार कामतानाथ की कहानी 'संक्रमण' में दिखता है।

''थोड़ा समय गुज़र जाने के बाद फिर लोगों का मन पिता के लिए उमड़ने लगता है। लोग मौका ढूँढ़ने लगते हैं, पिता को किसी प्रकार अपने साथ की सुविधाओं में थोड़ा बहुत शामिल कर सकें'' -'पिता', ज्ञानरंजन

यूँ ग़ैरजनतांत्रिक प्रक्रिया के खिलाफ यहाँ मुखरता की स्थिति फिर भी साफ-साफ है। कहानी के विवरण बतातें हैं कि पिता अपनी ही तरह की अकड़ और ज़िद के साथ हैं। सामंती मानसिकता ने पिता को इस कदर जकड़ा हुआ है कि बढ़ती तकनीक की आधुनिकता में भी उन्हें असहजता महसूस होती है और वे उसका विरोध करने को मजबूर होते हैं। उनकी सांस्कृतिक शुद्धता के आगे तकनीक की आधुनिकता भी, बेशक वह कितना ही मनुष्य के हक में हो, त्याज्य है। भारतीय आज़ादी के आंदोलन में यह विचार गाँधी के प्रभाव से मुखर हुआ और जिसे बाद के काल में स्वतंत्र चिंतन की सीमित स्थितियों के साथ, मौखिक रूप से गाँधी से असहमति के बावजूद, ज्यों का त्यों स्वीकार कर लिया गया। एक लम्बे समय तक, बल्कि आज तक, ऐसे प्रभाव में जकड़ा हिन्दी भाषा, समाज और उसका पूरा बौद्धिक वातावरण इसका गवाह है। गाँधी का गाँधीवाद तो गँवई दौर की स्थितियों में साँस लेता था लेकिन आधुनिक होते समाज के भीतर भी उसकी ज्यों की त्यों स्थिति को फिर 'गँवई आधुनिकता' क्यों नहीं कहा जाना चाहिए ? भारतीय राजनीति का यह एक ऐसा चेहरा था जिसके कारण औपनिवेशिक दासता की छाया से पूरी तरह मुक्ति का रास्ता तलाशना भी मुश्किल हुआ। वामपंथी राजनीति के भटकाव की गलियाँ भी एक हद तक ऐसी ही खाइयों में धँसी देखी जा सकती हैं। जहाँ उत्पाद को ही तकनीक मानते रहने की समझ काम करती रही। पाएँगे कि इंक्लाब का नारा बुलन्द करती क्रान्तिकारी धारा तक ने अपने

को ट्रेड यूनियन आंदोलन से बचाये रखते हुए नवजनवादी क्रान्ति के उस नारे को बुलन्द किया है जो पिछड़े तरह के औजारों और दैवीय अनुकम्पा में टिकी खेती का हिस्सा हो जाता है। 'आधुनिक' किस्म के उपक्रमों में काम कर रहे मजदूर और कर्मचारियों की तकलीफें उसके दायरे से बाहर रही और झूठे जनवाद की वकालत में जुटी संसदीय राजनीति के आसरे मज़बूत संभावनाओं वाले ट्रेड यूनियन आंदोलन का जो हश्र और पतन होना था, वह लगातार जारी रहा। बौद्धिक जमात और साहित्य, संस्कृति और कला में जुटे समाज से भी क्रान्तिकारी धारा की एक हद तक दूरी इसी लिए बनी रही- खासतौर पर हिन्दी भाषी क्षेत्र में तो इसे दूरी के रूप में भी चिह्नित नहीं किया जा सकता। परिणामत: सांस्कृतिक बिरादरी का अधिकांश हिस्सा सामाजिक परिवर्तन की किसी सकारात्मक कार्यवाही से बाहर ही खड़ा रहा और बदलाव की क्रान्तिकारी धारा ही नहीं बल्कि बदलाव का परस्पर रास्ता तक विकसित नहीं हो पाया। स्थितियों की यह विकटता जनपक्षधर प्रतिबद्ध रचनाकार जमात को भी अपने औजार तलाशने के अवसरों से वंचित करने वाली साबित हुई। साहित्य की दुनिया के ऐतिहासिक पड़ाव को रचनाकारों के नामों के साथ जोड़कर, या कोई नया सा नाम देकर, स्थापित होने की व्यक्तिवादी प्रवृत्ति ही आगे बढ़ती रही। १९ वीं सदी से शुरू हुई आधुनिक हिन्दी साहित्य की पड़ताल में जुटी हिन्दी आलोचना का ऐतिहासिकताबोध तो इस बात की तथ्यात्मक पुष्टि करता है। जहाँ कितने ही पड़ावों से हिन्दी की आधुनिक धारा को परिभाषित होते हुए देखने के बाद भी किसी एक रचना को पढ़कर यह अनुमान लगाना संभव नहीं कि इसे किस खाँचे में रखकर पढ़ा जाए जब तक कि रचनाकार का नाम और रचना के काल एवं उसको प्रकाशित करने वाले ग्रुप के साथ जोड़ने वाली सूचनाओं का अभाव हो। यानी प्रवृत्ति में एक ही तरह की रचनाएँ, कमोबेश कालक्रम के कारण आ रहे छोटे मोटे बदलावों में साँस लेने के कारण कुछ भिन्नता भी बेशक लिए हों, लगातार पनपती और विकसित होती व्यक्तिवादी प्रवृत्तियों के कारण जन्म लेते गये खेमों में बँटी हुई रही। व्यवहार में गिरोहगर्द होते जाने का इतिहास निर्माण जारी रहा और आलोचना, आत्मालोचना का दायरा सिकुड़ता चला गया। भारतीय राजनीति के संसदीय चेहरे को निखारने में जुटे साहित्यिक संगठनों ने इस प्रक्रिया में खाद पानी का काम किया और मनोगत कारणों से व्याख्यायित होती झूठी प्रगतिशीलता की स्थापनाओं को आधार प्रदान किया। हिन्दी कथा साहित्य में ऐसे यथार्थ की अनेकों तस्वीरें साफ-साफ दर्ज हुई हैं जो स्वत: इस बात का भी प्रमाण हैं कि बिना किसी दूरगामी राजनीति के साहित्य भी किसी नए कल्पनालोक की स्थापनाओं का वास्तविक पक्षधर नहीं हो सकता।

संदर्भित कहानी 'पिता' में निसंदेह सामंतवाद के प्रति एक निषेध तो दिखता है लेकिन समाज में बहुत भीतर तक जड़ जमायी सामंती प्रवृत्ति से पूरी तरह से मुक्त न हो पाये रचनाकार का मानस भी अपना असर डालता है। कथाकार ज्ञानरंजन की आलोचना में कहा जाए तो स्पष्टतौर से कहना पड़ेगा कि वे 'अकहानी' के दौर के ऐसे रचनाकार हैं जिनके यहाँ मानवीय संबंधों की आत्मीय पुकार सामंती मुक्ति से पूरी तरह विलग संसार रचने में एक पड़ाव भर ही रही। प्रतिरोध की मुकम्मल तस्वीर नहीं बनाती। हाँ, यह ज़रूर है कि पिता कहानी में मानवीय संबंधों की ऊष्मा को बचाए रखने की कोशिश अपने समय के हिसाब से ज़्यादा तार्किक और संबंधों में आ रहे बदलावों को ज़्यादा करीब से पकड़ती है। इस कहानी के साथ ही शुरु हुआ दौर कुछ भिन्न इसीलिए भी दिखायी देता है कि यहीं से हिन्दी कहानी ज़िंदगी के ऊबड़ खाबड़ पन को ज़्यादा मारक तरह से रखने वाली भाषा को गढ़ने के साथ आगे बढ़ती हुई दिखने लगी। लेकिन अनुतरित रह जा रही सामंती स्थितियों से छलांग लगाकर मध्यवर्गीय होते जीवन के उस कथा संसार से बहुत भिन्न न हो पायीं जो छायावादी युगीन काव्य-कोमलता से आगे निकल आने के बावजूद मध्ववर्गीय जीवन के कलह-झगड़े, प्रेम और नफरत के कोमल-कोमल से दृश्य ही लगातार रच रही थी। यहाँ तक कि निर्ममता से भरी मुनाफाखोर संस्कृति पर राजनैतिक दृढ़ता से भरे हमले की ठोस पहल को प्रेरित करने में भी अपनी सीमाओं के साथ रहीं। सांस्कृतिक वातवारण के निर्माण में ही नहीं अपितु वास्तविक अर्थों में भी वित्तीय पूँजी की बढ़ती चौधराहट के साथ कामगार वर्ग पर तेज़ हो रहे हमलों से बच निकल जा रहा हिन्दी का रचनात्मक संसार सिर्फ भाषायी प्रयोग और कलात्मक अभिव्यक्ति में बदलाव के साथ भिन्न नहीं हो सकता था और न ही है भी।

इतिहास अपनी व्याख्याओं में 'ऐसा था' होने की स्थितियों का नाम नहीं बल्कि 'यही था' होने की तार्किकता का समर्थक होता है। और उस 'यही था' को प्रस्तुत करने के लिए उसे साक्ष्यों को रखना अनिवार्य शर्त जैसा हो जाता है। गल्प और कथाएँ 'ऐसा था' होने की आवृत्ति के साथ इतिहास जैसी आवाज़ हो जाती है। क्योंकि तथ्यों का अनुसंधान और उनके अनिवार्य विश्लेषण में वे अपना होना साबित करती हैं। साक्ष्यों की उपस्थिति की वहाँ कोई ज़रूरत भी नहीं लगती। साहित्य की यह खूबी किसी भी घटना के एकांगी पाठ की सीमाओं को तोड़ देती है और रचनाकार के मंतव्य का भी अतिक्रमण करते हुए अनेकों पाठ की छूट ले लेती है। संभावनाओं की अनंत दिशाओं के द्वार खोलते पाठों के रास्ते ही 'ऐसा था' से 'ऐसा होगा' तक की व्याख्याऐं जन्म लेना शुरू होती है। यानी, साहित्य की प्रासंगिकता इस दृष्टिकोण से भी महत्त्वपूर्ण होती है कि वह मात्र सांख्यिकी आँकड़ों के आधार पर किसी मसले को पूरी तरह से समझने की सीमाओं को चिह्नित करती है। 'तिरिछ' कहानी का पाठ घटना के विश्लेषण को विभिन्न स्तरों पर माँग का पक्षधर है। पिता की मृत्यु हो जाना एक घटना है और मृत्यु के कारणों की खोज में जो ताना-बाना है वह किस कदर वास्तविक कारणों तक पहुँचना चाहता है कि उससे गुजरना दिलचस्प है। मृत्यु तिरिछ के काट लेने से हुई है। लेकिन प्रश्न है कि वह तिरिछ एक जहरीला जंगली जानवर भर है, जो किसी अंधेरी खोह में रहता है, या सर्वत्र व्याप्त तिरिछ की स्थितियाँ मृत्यु का कारण हैं ? साथ ही उपचार की वह कौन सी पद्धति है जो पूरी तरह से स्वस्थ कर पाने में कारगर हो सकती है ? कल्पनाओं की अनंत उछालों के साथ रची गई यह कहानी अभी तक की ज्ञान-विज्ञान की जानकरियों से उपजी पद्धति तक को सवालों के घेरे में लेती है और अज्ञात रह गये बहुत से क्षेत्रों तक आगे बढ़ने का इशारा करती है। तिरिछ के काट लिये जाने पर समुचित रूप से उपचारित होने की संभवानायें बेशक यहाँ निशाने पर नहीं हैं पर धतूरे का काढ़ा पिलाकर किये जा रहे उपचार की विधि पर आधारित तथाकथित 'आधुनिक चिकित्सा पद्धति' की सैद्धान्तिकी तो निशाने पर है ही। 'तिरिछ' कहानी का यह पाठ भी उसको एक महत्त्वपूर्ण कहानी

बनाता है। भाषा और शिल्प के स्तर पर गँवई आधुनिकता में धँसे समाज की अनेको-अनेक पर्तों को उद्घाटित करने की सचेत कोशिश भी कहानी को महत्त्वपूर्ण बना रही है।

गाँव-गँवई का ठेठ देशीपन जो सामूहिकता के साथ ही विपदाओं से निपटने को तैयार रहता है, बदलती सामाजिक स्थितियों में 'तिरिछ' के पिता को धतूरे का काढ़ा पिलाकर निश्चित हो जाता है। लेकिन एक ऐसा पिता (एक समय का पुत्र) जो सामंती जकड़न से अपने को पूरी तरह से मुक्त नहीं कर पाया, साम्राज्यवादी शहरीकरण के बीच उसके खो जाने की आशंका निर्मूल नहीं थी। भविष्य के पिता और वर्तमान पुत्र द्वारा पूर्व पुत्र और वर्तमान पिता को खोजने के लिए बहुत से बंद पड़े दरवाजों को खड़-खड़ाना इसीलिए जरूरी भी था।

''पिताजी के साथ एक दिक्कत यह भी थी कि गाँव या जंगल की पगडंडियाँ तो उन्हें याद रहती थीं, शहर की सड़कों को वे भूल जाते थे।''- तिरिछ

तिरिछ कहानी का पिता 'पिता' कहानी का वह पुत्र है जो एक दौर में पिछली पीढ़ी से एक हद तक आधुनिक हुआ था। और इस आधे-अधूरे आधुनिकत पिता पर उसके पुत्र का यकीन स्पष्ट है। पिता का जिक्र यहाँ कुछ इस तरह से होता है,

''बाल बिल्कुल मक्के के भुट्टे जैसे सफेद। सिर पर जैसे रूई रखी हो। वे सोचते ज़्यादा थे बोलते बहुत कम। जब बोलते तो हमें राहत मिलती जैसे देर से रुकी हुई साँस निकल रही हो।''

आदर्शवादी और दूसरों से कुछ आधुनिक पिता पर मुग्ध यह पुत्र चश्मदीद गवाह, पत्रकार सत्येन्द्र थपलियाल के कहे पर यकीन नहीं कर सकता कि उसका पिता किसी सर्राफ की बीबी और बेटी पर हमला करने वाला शख्स हो सकता है। पिता के आदर्श और उनकी नैतिकता पर उसका पूरा भरोसा है। किन्हीं अनजानों को बेवजह गालियाँ देने वाले पिता की तो वह कल्पना ही नहीं कर सकता।

''मेरा अनुमान है कि पिताजी उनके पास या तो पानी माँगने गए होंगे या बकेली जाने वाली सड़क के बारे में पूछने। उस एक पल के लिए पिताजी को होश जरूर रहा होगा। लेकिन इस हुलिये के आदमी को अपने इतना करीब देखकर वे औरतें डरकर चीखने लगी होंगी।''

भारतीय राजनीति के इंकलाबी दौर का सातवाँ, आठवाँ दशक इस बात का गवाह है कि सामंतवाद को पहला शत्रु मानने वाला पुत्र नव औपनिवेशिक ढांचे के साथ विस्तार लेती जा रही स्थितियों को नजरअंदाज़ कर रहा था, ट्रेड यूनियन आंदोलन में हिस्सेदारी से परहेज कर गाँव-देहातों से जंगल के भीतर तक सुरक्षित आधार तैयार कर लेना उसकी प्राथमिकी में रहा और आज तक बना हुआ है। इसीलिए वह उन गहरे अँधेरों के तिरिछों से निपटना तो जानता था जो किसी खोह में, नदी के तट पर या किसी गाछ की जड़ में दिख जाते हैं लेकिन शहरी वातावरण में हर ओर मौजूद ज़्यादा ज़हरीले तिरिछ की उसे पहचान नहीं हो सकती थी।

किराये के मकान में रहते हुए मध्यवर्गीय जीवन की त्रासदी ढोता तिरिछ कहानी का पिता साठ के दशक के पुत्र होने के पूरे प्रमाण छोड़ता है। पारिवारिक ढाँचा यहाँ सिर्फ पत्नी और बच्चों वाली तस्वीर में मौजूद है। संयुक्त परिवारों वाली सामूहिकता यहाँ गायब होने लगी है। साथ ही छल-छद्म और हर तरह से मारकाट के निर्मित होते वातारवरण में परिवार के मुखिया की चिंताएँ अपने परिवार की सुख-सुविधाओं को बचाये रखने की है। जीवन के इस संघर्ष में न सिर्फ मध्यवर्गीय जड़ताएं हैं बल्कि सामंती प्रभावों में जन्म लेती बहुत-सी दैनिक दिक्कतें हैं जो उसे घेरे रहती हैं।,

''उस समय पिताजी सिर्फ तिरिछ के ज़हर और धतूरे के नशे के खिलाफ ही नहीं लड़ रहे थे बल्कि हमारे मकान को बचाने की चिन्ता भी कहीं न कहीं उनके नशे की नींद में बार-बार सिर उठा रही थी।''

यहाँ पिता का अपने परिवार और बच्चों से जो रिश्ता है, उसमें एक हद तक खुलापन है। वह यदा-कदा बच्चों के साथ घूमने भी जाता है। पारिवारिक ढाँचे में एक सीमित हद तक बराबरी के भाव भी रखना चाहता है। पुरानी पीढ़ी से भिन्न उसकी यह छवि ही उसे अपनी संततियों के सामने एक आदर्श पिता का व्यक्तित्व प्रदान करती है।

''कभी-कभी, वैसे ऐसा सालों में ही होता, वे शाम को हमें अपने साथ टहलाने बाहर ले जाते। चलने से पहले वे मुँह में तंबाकू भर लेते। तंबाकू के कारण वे कुछ बोल नहीं पाते थे। वे चुप रहते। यह चुप्पी हमें बहुत गंभीर, गौरवशाली, आश्चर्यजनक और भारी-भरकम लगती।''

कितना साफ दर्ज है कि पिता कहानी में जहाँ पुत्र पिता का विरोधी नज़र आता है, वहीं तिरिछ का पुत्र विरोध तो बहुत दूर की बात, उस तरह की किसी अभिव्यक्ति को भी अपने भीतर नहीं उपजने देता। पिता पर यकीन के ढेरों साक्ष्य कहानी में हैं,

''एक तरह की राहत और मुक्ति की खुशी मेरे भीतर धीरे-धीरे पैदा हो रही थी। कारण, एक तो यही कि पिताजी ने तिरिछ को तुरन्त मार डाला था और दूसरा यह कि मेरा सबसे खतरनाक, पुराना परिचित शत्रु आखिरकार मर चुका था। उसका वध हो गया था और मैं अपने सपने भीतर, कहीं भी, बिना किसी डर के सीटी बजाता घूम सकता था।''

देख सकते हैं कि संबंधों को बचाये रखने के नाम पर सामंती सरोकार से मुक्ति की कोई स्पष्ट राह नहीं बन पाती। बल्कि जो थोड़ा-बहुत रास्ता बन भी रहा होता है उसमें भी गतिरोध पैदा होने लगा। जनतांत्रिक प्रक्रिया बाधित होने लगी है और अन्तर्विरोधों के उभरने की बजाय स्वीकारोक्ति का यथास्थितिवाद जन्म लेने लगा। पिता की आधुनिकता को ही अन्तिम रूप से स्वीकारते हुए, पीढ़ीगत अन्तर्विरोध जैसा भी कुछ नहीं उभरता। पूरी तरह से सहमत पुत्र के भीतर स्थापित हो रहे आदर्शों को अपनाने में किसी भी तरह की कोई दुविधा नहीं रहती। यह विचारणीय है कि सामाजिक बदलाव

"देख सकते हैं कि संबंधों को बचाये रखने के नाम पर सामंती सरोकार से मुक्ति की कोई स्पष्ट राह नहीं बन पाती। बल्कि जो थोड़ा-बहुत रास्ता बन भी रहा होता है उसमें भी गतिरोध पैदा होने लगा। जनतांत्रिक प्रक्रिया बाधित होने लगी है और अन्तर्विरोधों के उभरने की बजाय स्वीकारोक्ति का यथास्थितिवाद जन्म लेने लगा। पिता की आधुनिकता को ही अन्तिम रूप से स्वीकारते हुए, पीढ़ीगत अन्तर्विरोध जैसा भी कुछ नहीं उभरता। पूरी तरह से सहमत पुत्र के भीतर स्थापित हो रहे आदर्शों को अपनाने में किसी भी तरह की कोई दुविधा नहीं रहती। यह विचारणीय है कि सामाजिक बदलाव की यह गति क्या उतनी ही स्वाभाविक थी जितनी सरलता से वह साहित्य में दर्ज हो रही थी ?"

की यह गति क्या उतनी ही स्वाभाविक थी जितनी सरलता से वह साहित्य में दर्ज हो रही थी ?

यह विवरण भी कहानी में ही है कि पिता को जहाँ सबसे ज्यादा प्रताड़ना मिली वह इतवारी कालोनी है। विकसित होती आर्थिक व्यवस्था का स्थायी कहा जा सकने वाला डेरा, जहाँ साम्राज्यवादी पूँजी की खुरचन से जीने के नए अंदाज़ों की ओर बढ़ते मध्यवर्ग का विस्तार दिखाई देता है। तिरिछ कहानी के पुत्र का अपने पिता के बारे में दिया जा रहा यह विवरण उल्लेखनीय है,

''इस घटना का संबंध पिताजी से है। मेरे सपने से है। और शहरों से भी है। शहर के प्रति जो एक जन्मजात भय होता है, उससे भी है।''

मध्यवर्गीय जीवन शैली कैसे नितांत व्यक्तिगत बनाती जाती है और सामूहिकता को नष्ट करती जाती है, बदलते भारतीय समाज की आरम्भिक पदचापों में ही उसके संकेत दिखने लगे थे।

''एक सबसे बड़ी विडम्बना भी इसी बीच हुई। हमारे ग्राम-पंचायत के सरपंच और पिताजी के बचपन के पुराने दोस्त पंडित कंधई राम तिवारी लगभग साढ़े तीन बजे नेशनल रेस्टोरेंट के सामने, सड़क से गुज़रे थे। वे रिक्शे पर थे। उन्हें अगले चौराहे से बस लेकर गाँव लौटना था। उन्होंने उस ढाबे के सामने इकट्ठी भीड़ को भी देखा और उन्हें यह पता भी चल गया था कि वहाँ पर किसी आदमी को मारा जा रहा है। उनकी यह इच्छा भी हुई कि वहाँ जाकर देखें कि आख़िर मामला क्या है। उन्होंने रिक्शा रुकवा ली थी। लेकिन उनके पूछने पर किसी ने कहा कि कोई पाकिस्तानी जासूस पकड़ा गया है जो पानी की टंकी में जहर डालने जा रहा था, उसे ही लोग मार रहे हैं। ठीक इसी समय पंडित कंधई राम को गाँव जाने वाली बस आती हुई दिखी और उन्होंने रिक्शेवाले से अगले चौराहे तक जल्दी-जल्दी रिक्शा बढ़ाने के लिए कहा। गाँव जाने वाली यह आख़िरी बस थी। अगर उस बस के आने में तीन-चार मिनट की भी देरी हो जाती तो वे निश्चित ही वहाँ जाकर पिताजी को देखते और उन्हें पहचान लेते।''

आरोपित शहरी जीवन की सामूहिकता यहाँ निशाने पर है, बेशक स्वााभाविक रूप से विकसित होते शहरों की बुनावट का ज़िक्र नहीं लेकिन उस तरह के क्रमिक विकास पर सोचने का रास्ता तो कहानी देती ही है। गफलतों में विकसित होती

"हिन्दी कहानी की राजनैतिक और वैचारिक सीमा उस समाज से भिन्न नहीं, जो हर स्तर पर गँवई मानसिकता में सिमटा रहा। घटना के कारणों को बहुस्तरीय मानते हुए भी समाज निर्माण में विभिन्न स्तरों को निधारित करती चलाक व्यवस्था के पेचोंखम इसीलिए अपने तीखेपन के साथ दर्ज नहीं हो पाते। उनका आभाव ही समाज को निर्णायक बदलाव वाले संघर्ष तक ले जाने में बाधा बन जाता है। सिर्फ प्रचलित शहरी और गँवई मानसिकता के अन्तर्विरोध ही प्रधान बने रहते हैं। जबकि वे कारण, जो समाज को पिछड़ा बनाये रखने के लिए पूरी तरह से ज़िम्मेदार हैं और जिनके कारण यह दिखायी देता हो कि चालाक व्यवस्था किस तरह से अपने मंसूबों को साधने के लिए 'आधुनिक' चोला ओढ़ती है, अछूते रह जाते हैं।"

शहरी मानसिकता के शिकार पिता भीड़ के हत्थे चढ़े हैं।

कहानी से बाहर जाकर यदि तत्कालीन समय को खँगालें तो तथ्य बताने लगेंगे कि सामंतवाद को पहला शत्रु मानने वाले पिता ने नव औपनिवेशिक विस्तार के खतरों से बिना डरे और उससे निपटने के ट्रेड यूनियनवादी तरीकों को गैर इंकलाबी रुझान मानकर उनसे किनारा करना ही उचित समझा। आंदोलन के केन्द्र सिर्फ पिछड़े इलाकों तक ही केन्द्रित होते चले गए। कहानी में दर्ज समय १९७२ अनायास नहीं माना जा सकता। बावजूद बदलते हुए समय के, पुत्र अपने पिता के प्रति अभी भी सहृदय है। पिता सामंती प्रवृत्तियों के तिरिछ के काटे जाने के शिकार हुए हैं। बल्कि कथा विवरणों के सहारे आगे बढ़े तो कह सकते हैं कि सामंती दौर से भी पहले की समाज व्यवस्था का प्रतीक,

''तालाब के किनारे जो बड़ी-बड़ी चट्टानों के ढेर थे और जो दोपहर में खूब गर्म हो जाते थे, उनमें से किसी चट्टान की दरार से निकलकर वह पानी पीने तालाब की ओर जा रहा था।''

हिन्दी कहानी की राजनैतिक और वैचारिक सीमा उस समाज से भिन्न नहीं, जो हर स्तर पर गँवई मानसिकता में सिमटा रहा। घटना के कारणों को बहुस्तरीय मानते हुए भी समाज निर्माण में विभिन्न स्तरों को निधारित करती चलाक व्यवस्था के पेचोंखम इसीलिए अपने तीखेपन के साथ दर्ज नहीं हो पाते। उनका आभाव ही समाज को निर्णायक बदलाव वाले संघर्ष तक ले जाने में बाधा बन जाता है। सिर्फ प्रचलित शहरी और गँवई मानसिकता के अन्तर्विरोध ही प्रधान बने रहते हैं। जबकि वे कारण, जो समाज को पिछड़ा बनाये रखने के लिए पूरी तरह से ज़िम्मेदार हैं और जिनके कारण यह दिखायी देता हो कि चालाक व्यवस्था किस तरह से अपने मंसूबों को साधने के लिए 'आधुनिक' चोला ओढ़ती है, अछूते रह जाते हैं। उस करीब के समय में ही सामाजिक वंचना के नये-नये रूप भी दिखाई देने लगे हैं। बेरोज़गारी उन्हीं में से एक ऐसी आधुनिक अवधारणा है जिसकी शुरूआत पारम्परिक और पुश्तैनी कार्यव्यापार के ध्वस्त होने के साथ और उद्योग की नई केन्द्रीकृत स्थितियों में जन्म लेती है। ज्ञानरंजन की कहानी 'पिता' का दौर भारतीय समाज में आ रहे बदलावों का वह दौर है जिसमें पुश्तैनी कार्यव्यापार को ध्वस्त कर सृजित होते हुए नये उद्योगों की आर्थिकी पनपती है। इस आर्थिकी की परिणिति में ही नए किस्म की बेरोज़गारी भी जन्म लेती है। यहीं से भारतीय राजनीति का वह घुमावदार रास्ता भी शुरू होता है जो कारणों की तलाश में उत्पाद को ही तकनीक मान लेने वाली गैर तार्किकता के साथ तकनीक का ही विरोधी करने लगता है। इस तरह की स्थितियों से पूँजी के षड़यंत्रों का पर्दाफाश होने की बजाय षड़यंत्रकारी ताकतों को पूँजी के विभ्रम का तानाबाना बुनने में ही मदद मिली और आरोपित बेरोजगारी के भी भयावह मंजर दिखायी देने लगे। कथाकार सुभाष पंत की कहानी 'ए स्टिच इन टाइम' में

'तिरिछ' से आगे बढ़ते हैं तो सुभाष पंत की कहानी 'ए स्टिच इन टाइम' पिता की भूमिका में तब्दील हुए पुत्र का साक्ष्य बनती है। बहुत करीब से गुज़रता समय यहाँ दिखायी देने लगता है। उस

आरोपित की जा रही बेरोजगारी का चेहरा ज़्यादा भयावह है। ज्ञान रंजन की कहानी के दौर की बेरोजगारी की स्थितियों से भिन्न यहाँ पैने नाखूनों वाले जालिम जमाने का अदृश्य विभत्सपन लेखकीय चिन्ताओं के दायरे में है। चमचमाती दूनिया की चकाचौंध से पैदा होते अंधकार में ठीक से पाँव भी न उठा पाने की बेचैनी यहाँ साफ दर्ज होती है। स्थिति का सामना करने की बजाय अवसाद में डूबते जाने की मजबूरियाँ लेखकीय बेचारगी की भी गवाह बन रही हैं। अपने चुराये एकान्त में बेरोजगार बना दिये जा रहे कारणों की पहचान करने का अवकाश भी यहाँ मौजूद नहीं है। बावजूद इसके कि 'ए स्टिच इन टाइम' ऐलानिया बाजार के प्रतिरोध में लिखी रचना है लेकिन देख सकते हैं कि ऐलानिया बाजार के आदर्शों का हव्वा कहानी के उस पात्र के भीतर भी मौजूद है जो प्रतिरोध के प्रतीक के तौर पर लेखकीय आदर्श के रूप में दिखता रहता है। यह वही पिता है जो तकनीक और उत्पाद को अलग-अलग देख पाने में चूक जाने के कारण प्रतिरोध की किसी सामूहिक कार्यवाही का हिस्सा होने की बजाय खुद को हारा हुआ महसूस करता है। ऐलानिया बाज़ार से मतभेद के बावजूद झूठी जीत के आदर्शों से भरी उसके भीतर की अभिव्यक्तियाँ कुछ इस तरह हैं,

''मैंने फोरन अमन टेलर्ज से सिलवाई कमीज निकालकर मेज पर फैला दी। यह सिर्फ मेरे लिए सिली गई कमीज थी, जो ऐलानिया बाज़ार में खरीदी या बेची नहीं जा सकती थी और मेरी एक अलग पहचान कायम करती थी।''

यूनिक होने और यूनिक दिखने के ये जो आदर्श हैं, ऐलानिया बाज़ार के प्रतिरोध को बेहद बचकाना साबित कर दे रहे हैं। जबकि 'यूनिकनेस' का प्रोपोगण्डा फैलाता ऐलानिया बाजार वस्तुओं को उपयोगिता से ज़्यादा उनके विशिष्ट होने के ही आदर्श से गढ़ रहा है। पक्ष का यह ऐसा प्रतिपक्ष है जिसकी पहचान में ही न सिर्फ राजनैतिक दिशा गड़बड़ायी है बल्कि इस देश की तमाम बौद्धिकता लाचार साबित हुई है। खास तौर पर हिन्दी क्षेत्र में सतही तरह के विरोध। इस देश के कामगार वर्ग ने ऐसे बौद्धिकपन की कमजोरी को अच्छे से पहचाना है। पाठक का रोना रोते हिन्दी समाज का विश्लेषण करें तो देख सकते हैं कि संकटों से बाहर निकलने की कोई स्पष्ट राह न सुझा पा रहे साहित्य से आम जन की दूरी दिखायी दे सकती है,

''दरअसल अब रेडीमेड गारमेंट्स का जमाना है। इन्हें बचाने के लिए आइ बड़ी कम्पनियों ने दर्जियों के कारोबार को मंदी में धकेल दिया है। कारीगरों का मेहनताना निकालना ही मुश्किल हो गया। हमारा यह धंधा बंद होने के कगार पर है। बच्चों का मन दुकान से पूरी तरह उचट गया है। बड़ी मछली के सामने छोटी मछली बहुत दिन टिकी नहीं रह सकती।.. कभी हमारे भी दिन थे।''

यहाँ देख सकते हैं कि अमन टेलर न सिर्फ खुद की स्थिति और सहानुभूति की आवाज़ में बतियाते किसी ग्राहक के भीतरी मन से वाबस्ता है बल्कि व्याप्त माहौल की गिरफ्त में जीवन जीती खुद की संततियों से भी उसे कोई उम्मीद नज़र नहीं आती। उसे कोई अंदेशा नहीं कि यूनिकनेस का जादू एक दिन उसे अपने ग्राहकों से पूरी तरह से जुदा कर देगा क्योंकि मशीनी कुशलता के आगे तो मानवीय कौशल वैसे भी पिछड़ना ही है। फिर रंग की यूंनिकनेस, स्टफ की यूनिकनेस और दूसरे ऐसे बहुत से कारक जिन पर बड़ी पूँजी का स्पष्ट नियंत्रण है। सचमुच की यूनिक कमीज जो किसी एक ग्राहक विशेष के लिए ही हो सकती है, वैसा मानदण्ड खड़ा करने के लिए मात्र कारीगरी काफी नहीं है। उसे अपने ग्राहक की भीतरी मनस्थिति भी अच्छे से मालूम है जो बाज़ारू पूँजी के विरोध में उत्पाद की नहीं बल्कि तकनीक का ही विरोधी करती है और स्वयं कलात्मक यूनिकनेस की सी

जद में होती जा रही है,

''उसे पहनते ही मैंने महसूस किया मैं बदल गया हूँ मैं ज्यादा संस्कारित, सभ्य और कीमती हो गया। बड़प्पन की ऐंठ से मेरी छाती फैल गई। सीना गदबदाने लगा और आँखों की झिल्लियाँ फैल गईं। मेरे पीछे ताकतें थी। आला दिमाग, श्रेष्ठ अभिकल्प और महानायक थे। मैं सतह से ऊपर उठ चुका था।''

ब्राण्डेड कमीज और अमन टेलर की सीली कमीज के बीच तुलना की एक अन्य स्थिति भी कहानी में देखी जा सकती हैं जो अमन टेलर वाले समाज के भीतर निराशा पैदा करती है,

''टीना की कमीज मेरी नाप के अनुसार नहीं थी। ऐसी कमीजें किसी के भी नाप के मुताबिक नहीं होती। ये पहनने वाले से रिश्ता कायम करके नहीं बनाई जाती। इनका नाप स्टेटिस्टीस्कम की मोस्ट अकरिंग फ्रिक्वेंसिज है। बहरहाल, ढीली फिटिंग के बावजूद उसमें आक्रामक उत्तेजना थी। शोख, गुस्सैल और मोहक लड़की की तरह। इनके साथ समझौता करना होता है। मैंने भी किया और कमीज पहन ली।''

उत्पाद और तकनीक को एकमेव मानते हुए बड़ी पूँजी के विरोध का जो रूप 'पिता' में दिखता हैं उससे भिन्न समझदारी 'ए स्टिच इन टाइम' के पिता की भी नहीं बन पा रही है। 'पिता' कहानी में पिता अपने पुत्रों को लताड़ते हुए कहते है,

''मैं सबको जानता हूँ, वही म्यूनिसिपल मार्केट के छोटे-मोटे दर्जियों से काम कराते हैं और अपना लेबल लगा लेते हैं। साहब लोग, मैंने कलकत्ते के 'हाल एण्डरसन' के सिले कोट पहने हैं अपने ज़माने में, जिनके यहाँ अच्छे-खासे यूरोपियन लोग कपड़े सिलवाते थे। ये फैशन-वैशन, जिसके आगे आप लोग चक्कर लगाया करते हैं, उसके आगे पाँव की धूल हैं। मुझे व्यर्थ पैसा नहीं खर्च करना है।''

- 'पिता', ज्ञानरंजन

ठीक वैसे ही मन:स्थिति 'ए स्टिच इन टाइम' के कारीगर को फंतासी में ले जाती है,

''आखिरकार हमारी फैक्ट्री ने घुटने टेक दिए और वह ठेके पर 'एक्सेल गारमेंट्स मल्टीनेशनल' का माल बनाने लगी। इन बड़ी और सारी दुनिया में फैली कम्पनियों की अपनी फैक्ट्रियाँ नहीं होती। ये गरीब मुल्कों की फैक्ट्रियों में अपना माल बनवाती है। इनका तो बस नाम चलता है। ये नाम का पैसा

बटोरती हैं। गरीब मुल्क की फैक्ट्रियाँ तालाबंदी के डर से लागत से भी कम में इनका माल तैयार करने को मजबूर हो जाती है।''

अन्ततः अनिच्छा के बावजूद लाचारी भरी स्थितियों में ब्राण्डेड कमीज को पहन कर जश्न का हिस्सा हो जाते पिता का चेहरा भारतीय मध्यवर्ग का यर्थाथवादी चित्र उकेरता है। भले-भले बने रहने और भले-भले दिखने का इससे साफ चित्र दूसरा नहीं हो सकता। एक लम्बे अंतराल में बहुत सी हो चुकी तब्दीलियों में देखा जा सकता है कि पिता अब मजबूर हैं पुत्री के सामने। यहाँ पुत्र के रूप में पुत्री की उपस्थिति उस सामाजिक बदलाव का एक ऐसा सकारात्मक संकेत ज़रूर है जहाँ पुरुष प्रधान समाज के सामने चुनौतियाँ पेश होनी शुरू हो चुकी हैं। एक खास तबके में पुत्र और पुत्री में भेद को जायज़ नहीं माना जाने लगा है।

साम्राज्यवादी पूँजी का प्रसार ब्रांडेड उपभोक्ता वस्तुओं के रूप में स्थापित हो चुका है। देशी किस्म कारीगरी तक को मशीनी उत्पादन ने लील लिया है। गुणवत्ता के पैमाने बहुत चुस्त दुरस्त दिखने वाले हुए हैं। पैकेजिंग के तीखे नोकदार उभार गुणवत्ता की प्राथमिकी में स्थापित हुए हैं। लेकिन पिता अभी भी देशी कारीगर के हाथ से बनी हुई कमीज पहनना चाहता है। उसका पूरा यकीन उस कारगरी पर है जो रोजी-रोटी के अवसरों का विकेन्द्रीकरण कर सकती है। लेकिन उसका यह चाहना सिर्फ मनोगत भाव है। वरना व्यवहार में उसके लगातार खत्म होते जाने की स्थितियाँ बनी रहती हैं। 'कपड़े विचार हैं', यह सूत्र वाक्य है 'ए स्टिच इन टाइम' का। बर्थडे पार्टियों की स्थितियाँ यहाँ एक क्षण-विशेष को जीना मात्र नहीं बल्कि बाजारू संस्कृति की लगातार चाहत का नमूना है। एक तरफ बदलती स्थितियों से विरोध तो दूसरी ओर उसकी स्वीकार्यता की मजबूरी। इन्हीं स्थितियों की संगत में समाज के उस चेहरे को देख सकते हैं जहाँ दुनिया के बदलाव के संघर्ष के लिए हमेशा बेचैन रहने वाले पिताओं तक की भावी संततियाँ कैसे बाज़ारू मूल्यबोध के साथ अपने होने को साबित करती रही है। किसी व्यक्ति विशेष का नाम लेकर अलोचना को व्यक्ति केन्द्रित कर देना होगा। एक लम्बे दौर की राजनैतिक शख्सियतों एवं बदलाव की राजनीति से इतफाक रखने वाले बौद्धिकों तक की भावी संततियाँ किन रास्तों से

"साम्राज्यवादी पूँजी का प्रसार ब्रांडेड उपभोक्ता वस्तुओं के रूप में स्थापित हो चुका है। देशी किस्म कारीगरी तक को मशीनी उत्पादन ने लील लिया है। गुणवत्ता के पैमाने बहुत चुस्त दुरस्त दिखने वाले हुए हैं। पैकेजिंग के तीखे नोकदार उभार गुणवत्ता की प्राथमिकी में स्थापित हुए हैं। लेकिन पिता अभी भी देशी कारीगर के हाथ से बनी हुई कमीज पहनना चाहता है। उसका पूरा यकीन उस कारगरी पर है जो रोजी-रोटी के अवसरों का विकेन्द्रीकरण कर सकती है। लेकिन उसका यह चाहना सिर्फ मनोगत भाव है। वरना व्यवहार में उसके लगातार खत्म होते जाने की स्थितियाँ बनी रहती हैं। 'कपड़े विचार हैं', यह सूत्र वाक्य है 'ए स्टिच इन टाइम' का।"

गुजरी हैं और गुजर रही हैं, यह छुपा हुआ नहीं है। साम्राज्वाद विरोध का दावा घर की चारदीवारी के भीतर ही ध्वस्त हुआ है। तुर्रा यह कि व्यक्तिगत आजादी का सिद्धान्त बघारते हुए भी झूठ से लिपटे रहने की स्थितियाँ चहूँ ओर हैं। 'ए स्टिच इन टाइम' के पिता का संकट ऐसी ही स्थितियों की उपज है जहाँ घर के भीतर साम्राज्यवादी चाल-चलन के नशे में धुत होकर लड़खड़ाता परिवारिक वातावरण है। हर तरह की सुविधा संपन्नता का ताउम्र इंतजाम करते पिता की दुविधा उसे स्वयं ही उन अवस्थाओं तक नहीं ले जाती जब जाने और अनजाने उसने ही अपनी संततियों के आगे कोई आदर्श गढ़ा होता है या उसके लिए वातावरण बनाया होता है।

भारतीय समाज की इस यात्रा से गुजरते हुए यह देखना दिलचस्प है कि कथाकार हरी चरण प्रकाश की कहानी के विवरण गँवई आधुनिकता से मुक्त होते भारतीय समाज का इससे भिन्न चेहरा नहीं रचते। कहानी के मार्फत जान सकते हैं कि 'प्रोफेशनली अप-टू-डेट' न हो पा रही मध्यवर्गीय आधुनिकता कैसे तकनीक के ही प्रतिरोध में जाने को विवश है। कहानी का एक हिस्सा इस बात का गवाह है कि घर में काम करने वाली बाई से बतियाते हुए नायिका ऋचा अपनी चिन्ताओं को दोहराती है,

''करता तो तुम्हारा आदमी भी कुछ नहीं।''

''ऐसा न बालो मैडम जब मैंने शादी की तो खूब काम करता था। मैं तुम्हें बताऊँ, मेरी मौसी ने शादी नहीं बनाई क्योंकि शादी के बाद मालिक का घर छोड़ना पड़ता था। मुझे भी कहा, सोच समझ कर शादी कर। मैं बोली मेरा हसबैण्ड इतना अच्छा कैमरा चलाता है उसे काम की क्या कमी। आज झोपड़पट्टी में रह लूँगी, कल को अच्छा मिलेगा, लेकिन फिर वही किस्मत, नए किस्म के कैमरे आ गए और उसका काम खत्म हो गया।''

''सून रहे हो'' ऋचा की आवाज़ वेद के कान खींचने लगी। ऋचा हमेशा यह कोशिश करती थी कि वेद सॉफ्टवेयर की नई टेक्नालॉजी सीखे और प्रोफेशनली अप-टू-डेट रहे लेकिन यह अलहदी लड़का आगे बढ़ने का तैयार नहीं था।'

हरीचरण प्रकाश की कहानी का नैरेटर इस बात से सचेत तो दिखता है कि तकनीक के साथ प्रोफेशनली अप-टू-डेट होना आज की ज़रूरत है। वह बाज़ारूपन की उस चालाकी से भी वाबस्ता है जो किसी भी उत्पाद को बेचने के लिए आइडेन्टिटी पॉलिटिक्स करता है। मसलन, भोजन के ही रूप में शाकाहार की आइडेन्टिटी पॉलिटिक्स जहाँ पंजाबी थाली, राजस्थानी थाली, वैष्णव थाली इत्यादि नामों से अपने ग्राहकों को लक्षित करती है। लेकिन उसके पास भी यह तर्क एक दूसरे किस्म के बाजारूपन को प्रसारित करती मानसिकता से पैदा होता हुआ दिखता है। वह मानसिकता जो न सिर्फ आर्थिक स्तर पर बल्कि सांस्कृतिक स्तर पर भी गुलाम बना लेना चाहती है। सौन्दर्य का मतलब, तराशा हुआ जिस्म जिसके पैमाने हैं और देख सकते हैं कि कहानी उन्हीं रास्तों से आगे बढ़ने लगती है। जिम जाने को ही आधुनिक मान लिया जाना एक लक्षण के तौर पर उभरता है। बेशक यह स्वास्थय की चिन्ता करती मासूमियत के साथ आता है। स्वतंत्रता के मायने यहाँ निर्वस्त्र होकर घूम सकने की छूट ले लेना जैसे हो रहे है।

सकारात्मक स्थितियों के तौर पर यहाँ पति-पत्नी के आपसी रिश्तों में एक हद तक आ रही बराबरी की भावना को पुरानी पीढ़ी की स्वीकार्यता मिलने लगी है। लेकिन बदलाव की गति सामंती सरकारों से पूरी तरह अभी भी मुक्त नहीं हुई है। बहुत सी दुविधाएँ अभी भी ज्यों की त्यों हैं। परिस्थितियाँ जिस तरह का मोड़ ले रही उसमें उनको

टूटना ही है। कहानी में एक प्रसंग आता है जहाँ कुछ रोज़ के लिए मेड छुट्टी पर जा रही है। मेड की अनुपस्थिति में घर को सँभालने का संकट दोनों काम-काजी पति-पत्नी, वेद एवं ऋचा के सामने है। बच्चे की केयरिंग को लेकर उनके बीच के संवाद और कहानी के विवरण उल्लेखनीय है,

''डोन्ट वरी, मैं घर से काम कर लूँगा।'' वेद ने सीनियर सॉफ्टवेयर इंजिनियरों की इस सुविधा का उल्लेख किया।

''आज तो नहीं।''

''आज मैं छुट्टी लूँगी। कल से चाहे जो करना। बस इस समय मैं तुम्हारी शक्ल नहीं देखना चाहती।'' कहने हेतु उसने ऐसी साँस खींची कि वह भी सुनाई पड़ गई।

''मैं चुपचाप बैठा अवि की पीठ सहलाता रहा। ऋचा ने जब मेरी ओर देखा तो सहमकर मैंने पीठ सहलाना बन्द कर दिया।''

क्या यह अनायास है कि सुभाष पंत की कहानी में जहाँ पुत्री को पुत्र के रूप में देखना संभव होता है वहीं हरीचरण प्रकाश की कहानी पुत्र एवं पुत्रवधु दोनों के साथ ही आधुनिक पुत्र रूपी पात्र प्रकट हो रहे हैं। बदलाव के ये चिह्न जिस तरह से गँवई आधुनिकता को लाँघते हुए हैं, उसी के साथ ही मध्यवर्गीय आधुनिकता का चेहरा भी आकार लेता हुआ सामने होने लगता है। लैंगिक समानता की स्थितियों के एक हद तक स्वीकार की ये सकारात्मक मध्यवर्गीय मानसिकता समाज में दिखाई देने लगी है। यद्यपि व्यापक जनसमाज में अभी भी वह पिछड़ी मानसिकता की जकड़ में ही है। परिस्थितिजन्य बदलाव से असमहति का स्वर कहानी में ही दर्ज होता हुआ है, पिता की त्रासद स्वरों में उसे सुना जा सकता है,

''कल मेरा बेटा ही माँ का दायित्व निभाएगा, यह ख्याल आते ही मुझे सीरियल गुस्सा आने लगा। पहले बहू पर, फिर बेटे पर और अन्त में अपने आप पर।''

भारतीय मध्यवर्ग के व्यवहार में होते गये इस बदलाव को उस पृष्ठभूमि में समझा जा सकता है जो उसे परम्परागत और पुरातन मूल्यों से पूरी तरह मुक्त नहीं होने दे रही थी। बहुत सी ऐसी स्थितियाँ जिनसे लोकतांत्रिक प्रक्रिया अवरूद्ध हो रही हो, उसे जानते बूझते हुए भी उससे पूरी तरह मुक्त न हो पाने की भारतीय मध्यवर्गीय समझदारी यहाँ अपनी सीमाओं में दिखती है। अन्य स्थितियों में भी ऐसे प्रभावों को देखने के लिए यह कहानी हवाला बन जाती है, ''हमने कभी आध्यात्मिक होने की तैयारी नहीं की। मैं आस्तिक जरूर था लेकिन पूजा पाठ में मन नहीं लगता था, वह भी आस्तिक थी लेकिन इतना ही कि जल चढ़ाने के बाद ही सबेरे की चरय पीती थी।'' हरीचरण प्रकाश

'योजनामय प्रेम विवाह' के दौर की ओर बढ़ रही सामाजिक स्थितियों में अपने बुढ़ापे को इन्जाय करते इस पिता की तस्वीर अभी तक की गँवई आधुनिकता का अन्तिम सोपान बन रही है लेकिन आधुनिकता की जिस उछाल में वह प्रवेश करती है, वहाँ उत्पाद को ही पूरी तरह से तकनीक मान लेने की वह आरम्भिक गड़बड़ जिस तरह का माहौल रचती है उसे नये ज्ञान की उत्सुकता और चीजों के प्रति मात्र आकर्षण से परिभाषित नहीं किया जा सकता। नव-औपनिवेशिक आदर्शो के प्रति ललचायी दृष्टि से भरी 'मध्यवर्गीय आधुनिकता' का वह रूप जो बड़ी पूँजी के प्रतिरोध में होने की सदइच्छा के साथ भी उसके समर्थन में जुटा होता है, उसे पहचानने तक की सुध-बुध यहाँ पूरी तरह से गायब हो जाती है।

''उन दिनों मैं और पत्नी विवाह प्रस्तावों की कटाई-छँटाई में लगे हुए थे कि बेटे ने खुद ही अपने विवाह का प्रस्ताव कर दिया। लड़की मुसलमान नहीं है, हमने राहत की साँस ली। इसके बाद तो हम दोनों के बीच अनुलोम प्रतिलोम किस्म का संवाद होने लगा। हिन्दू है तो जाति क्या है ? जाति से क्या मतलब जब वह हमारे तरफ की हिन्दू नहीं है, केरल की हिन्दू है, कोई पूछे तो ? कौन पूछता है और कौन सी हमें दूसरी औलाद ब्याहनी है, इकलौता बेटा।''

रोज़गार ने क्षेत्र विशेष की हदबंदी को जिस तरह से तोड़ा है, उसमें एक हद तक जातिगत विभेद का तंत्र थोड़ा ढीला हुआ है। शहरीकरण की प्रक्रिया में जातिगत जड़ताएँ अपने पुराने रूप में रह पाने की स्थिति में नहीं रह गयीं। लेकिन सामाजिक बदलाव की यह प्रक्रिया सामंती नैतिकता और आदर्श को पूरी तरह से बदलने वाली नहीं रही क्योंकि प्रगतिशील नैतिक मूल्यों और आदर्शों की स्थापना की प्रक्रिया आरोपित शहरीकरण के कारण जन्म लेने वाली रही। स्वाभाविक गति में उसका विकास न हुआ। स्पष्ट है कि विकास के टापू खड़े करता बड़ी पूँजी का मॉडल सामाजिक बदलाव के प्रति किसी भी तरह की सजग जिम्मेदारी लेने को तैयार नहीं था। मुनाफे के मंसूबे उसकी प्राथमिकता को तय करते रहे। इसीलिए क्षेत्र और एक हद तक जातिबंधन से मुक्त हो चुकी मानसिकता में धर्म की चार दीवारियाँ ज्यों की त्यों खड़ी दिखायी देती हैं। बल्कि इसे धर्म की धार्मिकता की तरह भी चिह्नित नहीं किया जा सकता। विभेदों का दानव घृणा को ही जन्म देने वाला रहा और धार्मिक वैमनस्य के साथ श्रैष्ठताबोध में संलग्न धार्मिकता का मॉडल तैयार होता रहा। विकास की असंतुलित और लड़खड़ाती गति में पीछे छुट जा रहे लोगों के धर्म विशेष के प्रति घृणा फैलाता राजनैतिक ताना-बाना बुनना आसान हुआ है। यूँ विश्लेषण की इस पद्धति से सीधे तौर पर हरीचरण प्रकाश की कहानी से तथ्य नहीं जुटाये जा सकते। बल्कि अपने मिजाज में ऐसी मुखालफत के साथ वह इस ओर ही सोचने को मजबूर करती है कि क्या जाति और क्षेत्र के बंधनों को तोड़ने में सूक्ष्म से सूक्ष्म होते जा रहे परिवारिक ढाँचे की कोई भूमिका है ? सीमित संतानों वाली स्थिति में सामाजिक बदलाव की कोई नयी स्थिति जन्म ले रही है ? यह निश्चित ही एक दिलचस्प विचारणीय पहलू है। हिन्दी कथा साहित्य में दर्ज सामाजिक बदलाव के ऐसे विवरण साहित्य की भूमिका को महत्त्वपूर्ण तरह से स्थापित कर रहे हैं। ऐसे ही वातावरण में गँवई आधुनिकता से मध्यवर्गीय आधुनिकता की ओर सरक रहे जमाने का जो रूप दिख रहा है वह बहुत आशान्वित नहीं करता।

हिन्दी कहानी ही नहीं किसी भी विधा के लिए यह प्राथमिक सवाल होना चाहिए कि गँवई आधुनिकता से मुक्त होते दौर को वास्तविक जनतांत्रिक मूल्यों के लिए माहौल बना सकने वाली मध्यवर्गीय आधुनिकता का पाठ रचे। उसे ठीक से चिह्नत कर पाए। ताकि झूठे रूप में भले-भले बने रहने की बजाय वास्तविक जनवाद का माहौल जन्म ले। तकनीक और उत्पाद के फर्क के साथ वैश्विक पूँजी के उस षड्यंत्र का भी पर्दाफाश हो सके, जो अनुसंधान पर अबोली रोक बनाए रखते हुए विज्ञान के भी कर्मकाण्ड का माहौल रच रही है। एक रचना की सार्थकता इस बात में भी है कि वह ऐसे सवालों से टकराने को प्रेरित कर सके।

❐

आलोचक दोस्तों जितने ज़रूरी हैं बनाम छपने के दस साल

विमल चन्द्र पाण्डेय

हालाँकि मैं भी युवा पीढ़ी का एक रचनाकार हूँ लेकिन आप इस बात को भूल कर भी इस लेख को पढ़ सकते हैं, क्योंकि यह लेख एक ऐसे पाठक का है जिसने अपने साथ की पीढ़ी की कहानियों को सूक्ष्मदर्शी लगाकर पढ़ा है गो इस मामले में उसे व्यवस्थित तरीके से अपनी बात कहने का मौका इसलिये नहीं मिला क्योंकि वह अपने साथ के अन्य कहानीकारों की तरह खुद की कहानियों से जूझ रहा था। वह हिंदी के बजाय गणित का विद्यार्थी था और बड़े लेखकों से बात करने में उसे बहुत घबराहट महसूस होती थी। उसने कहानियाँ लिखने से पहले नाम मात्र की कहानियाँ पढ़ी थीं और जब वह पाता था कि उसके समकालीन फलाँ कहानीकार ने बहुत से विदेशी और देसी लेखकों को पढ़ रखा है, तो उसके आत्मविश्वास में कमी आ जाती थी। जो अपने समकालीनों की अच्छी कहानियाँ पढ़ कर पहले तो खूब खुश हो जाया करता था फिर यह सोच कर उदास हो जाता था कि वह शायद कभी इतनी मेच्योर और अच्छी कहानियाँ कभी नहीं लिख पायेगा।

मुझे इस लेख में समकालीन आलोचना पर अपनी राय देने के लिए कहा गया है लेकिन मैं अचानक नज़र घुमाता हूँ तो पाता हूँ कि मेरी पहली कहानी छपे इस जुलाई पूरे दस साल हो जाएँगे। मैं जानता हूँ कि साहित्य के लिहाज़ से यह निहायत छोटा सा कालखण्ड है लेकिन मेरे लिए यह सीखने की एक पाठशाला जैसा रहा है, जिसमें मैंने कहानियाँ कम ज़िंदगी ज्यादा सीखी है। इस मौके पर मैंने अपनी बात कहने को सोचा था और अब कह रहा हूँ मेरी बातें मुख्य मुद्दे से जुड़ी रहें, इसकी पूरी कोशिश करूँगा।

तो मैं उस लड़के की बात कर रहा था जिसने ज़िंदगी के एक अंधे कुँए से निकलने की कोशिशों में कहानियाँ लिखनी शुरू कर दी थीं। उसे नहीं पता था कि यह दिल में चुभे हुए काँटे को काँटे से निकालने की कोशिश है जो उसकी ज़िंदगी बदल देगा। वह तो लिख रहा था क्योंकि बेचैन था। मंच पर अभिनय करने की उसकी कोशिश को निष्फल कर दिया गया था और कहा गया था कि पढ़ने लिखने वाले लड़कों का यह काम नहीं है। उसने नागरी नाटक मण्डली का एक ग्रुप ज्वाइन किया था, जो छुड़वा दिया गया। इसके बाद भले उसने कहानियाँ लिखना शुरू कर दिया था, बनना उसे कुछ और था। जब लगान देखकर सिनेमाहॉल से निकलते हुए उसने अपने दोस्तों से कहा था कि वह भी फिल्म निर्देशक बनेगा तो उसकी उम्र सिर्फ २१ साल थी फिर भी उसके दोस्तों ने उसकी बात को गंभीरता से लिया था। उसे नहीं पता था कि

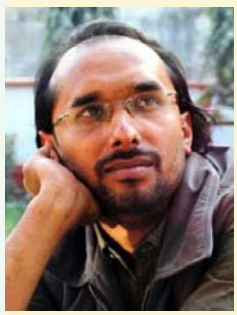

विमलचंद्र पाण्डेय
प्लॉट नं. १३०-१३१
मिसिरपुरा, लहरतारा
वाराणसी-२२१००२ (उ.प्र.)
फोन-९८२०८१३९०४
ईमेल: vimalpandey1981@gmail.com
मोबाइल: 9820813904, 9451887246

उसके आसपास माँ, बाप, परिवार और समाज के जो बनाये हुये खाँचे हैं, उसे तोड़ने में उसकी ज़िंदगी के दसियों साल गर्क होने हैं। उसे कंप्यूटर सीखने के लिये दिल्ली भेजा गया, तो उसने चुपके से दिल्ली विश्वविद्यालय के दक्षिण परिसर में हिंदी पत्रकारिता का फॉर्म भर दिया, जहाँ खराब लिखित और खराब साक्षात्कार के बावजूद उसका एडमिशन हो गया। पत्रकार बनने की उसकी कोई इच्छा नहीं थी। उसने चुपचाप एफटीआईआई का फॉर्म डाला घर पर बिना बताए क्योंकि पत्रकारिता की पढ़ाई में प्रवेश लेने पर घर वाले नाराज़ हो गए थे और पैसे आने बंद हो गए थे। रहने खाने का जुगाड़ करने के लिये वह एचडीएफसी बैंक की योजनाएँ बता-बता कर संगम विहार और मदनपुर खादर के इलाकों में इंश्योरेंस कर रहा था और खाता खुलवा रहा था। एफटीआईआई में उसका नहीं होना था नहीं हुआ, वह विश्व सिनेमा क्या बताता जब हिंदी सिनेमा के नाम पर बचपन से उसने अमिताभ और धर्मेंद्र की फिल्में देखी थीं। वह कुरोसावा, फेलिनी और गोदार्द की फिल्मों के बारे में कैसे बताता, जब उस समय वह पालिका से पागलों की तरह लाकर मण्डी, आक्रोश और द्रोहकाल देख रहा था। अब तक की ज़िंदगी टीवी पर दीवार, नास्तिक और हॉल में करण अर्जुन और दिल तो पागल है देखते हुए गुज़री थी। पसंद में सुधार आ रहा था, अब ज़िंदगी में सुधार लाना था।

पहली कहानी जब 'साहित्य अमृत' के जुलाई २००४ अंक में आई तो वह साल भर पहले दिल्ली पहुँचा था। पता चला कि बनारस के पते के कारण पत्रिका घर पहुँच गई है। वह दरियागंज गया और प्रभात प्रकाशन की दुकान से जाकर उसने यह पत्रिका खरीदी जिसके संपादक विद्यानिवास मिश्र थे। फोटो पत्रिका वालों ने बाद में माँगा था और उसने भेजा भी था लेकिन शायद डाक में या कहीं और देर होने के कारण फोटो नहीं छपी थी। सिर्फ नाम था और उसमें से उसने पहले ही पाण्डेय हटा दिया था। दरियागंज से कनॉट प्लेस पैदल जाने में उसने कहानी की सारी लाइनें कई कई बार पढ़ीं। उसे पछतावा हो रहा था कि उसने फोटो जल्दी क्यों नहीं भेजा था। कहानी के साथ फोटो छपती तो कितना मज़ा आता। उस दिन वह लेखक हो गया था। चार साल से लगातार लिखते-लिखते और हर पत्रिका से लौटते-लौटते उसकी कहानियाँ थक गई थीं लेकिन वह नहीं थका था। वापसी के लिफाफे पिता देख लेते तो नाराज़ होते। उनका कहना था कि लेखक पैदा होते हैं, बनते नहीं। उन्हें शायद बेटे के चेहरे पर अस्वीकृति का दुख सालता होगा। उन्होंने एक दिन बाकायदा उसे समझा कर कहा कि बेटा चाहने भर से लेखक नहीं बना जा सकता। वह भी थक जाता, उसे लगता पिता हैं, दुनिया देखी है ठीक ही कह रहे होंगे। माँ अलबत्ता थोड़ी आशा भरने की कोशिश करती, उसमें भरोसा कम स्नेह ज़्यादा होता। वह फिर से नई कहानी उठाता और लिखना शुरू कर देता।

> **"कहानीकारों की अचूक निशानदेही करने वाले विट और ह्यूमर के वज़ीर उस पारखी संपादक ने उस अंक से कई नये कहानीकारों को खोज निकाला और अचानक ही एक नयी पीढ़ी का शोर सा फिज़ा में गूँजने लगा। वागर्थ के अगले कई अंकों में जिन दो चार कहानियों की तारीफ होती रही, उनमें से उसकी कहानी एक थी। वह दुगुने जोश के साथ लिखने लगा। कई सारे आलोचक थे जो इस पीढ़ी के बारे में प्रचुरता से लिख रहे थे।"**

साहित्य अमृत में छपी कहानी पर कुछ चिट्ठियाँ मिलीं जिनमें कहानी की तारीफ थी। वह बार-बार उन पोस्टकार्डों को पढ़ता, लिखने वालों के चेहरे बनाता, उनसे बातें करता, उनका शुक्रिया अदा करता। उनके जवाब लिखने में उसने बहुत मीठी भाषा का प्रयोग किया। साहित्य अमृत का अगला अंक भी उसने खरीदा। उसमें पिछले अंक में छपी सामग्री के बारे में चिट्ठियाँ थीं, जहाँ-जहाँ उसकी पहली कहानी की तारीफ की गई थी, उसने उन्हें काली कलम से अंडरलाइन किया। दिल्ली विश्वविद्यालय में पत्रकारिता में एडमिशन के लिए लिखित निकालने के बाद बताया गया कि अगर पहले कुछ छपा हो तो लेकर आया जाए। वह साहित्य अमृत का अंक लेकर इंटरव्यू देने गया जहाँ उसका परिचय उन लोगों से हुआ जिनमें से कई उसके प्यारे दोस्त बनने थे। बेदिका, विभव, सुंदर, शशि और आनंद के चेहरे और वह दिन एकदम दिमाग में छपा हुआ सा है। उसने अपनी कहानी के एक बड़ी साहित्यिक पत्रिका में छपने की बात कही और अचानक से आम से खास हो गया। वह कहानी तो इंटरव्यू में खैर किसी ने नहीं देखी लेकिन उसका एडमिशन हो गया। वहाँ उसे हीरे जैसे दोस्त मिले जिन्होंने उसे खूब प्यार दिया और एक कहानीकार होने के कारण उसका अपने अंदाज़ में ही सही, सम्मान भी किया।

पहली कहानी छपने के बाद वह और तेज़ गति से लिखने लगा। खूब सारे प्लॉट दिमाग में नाचते रहते। कई कहानियाँ लिख कर यहाँ वहाँ पत्रिकाओं में भेज दीं। इसी बीच उसने वागर्थ का एक अंक देखा जिसमें अगले किसी अंक के नवलेखन विशेषांक होने की बात कहते हुए कहानियाँ माँगी गयी थीं। वह एक कहानी पर काम कर रहा था जिसका नाम डर था। उसने कहानी पूरी कर अपने एक रूममेट को सुनाई जो अक्सर उसके दबाव में आ जाया करता था और ना नुकुर करते हुए भी पूरी कहानी सुन ही लेता था। सुनकर दोस्त ने एक राय दी कि सरपंच की बेटी और अजगर वाला प्रसंग हटा दिया जाय। उसने नहीं माना और कहानी छपने को भेज दी। कहानी छपी और उसके पास चिट्ठियों और फोनों का ताँता लग गया। कहानीकारों की अचूक निशानदेही करने वाले विट और ह्यूमर के वज़ीर उस पारखी संपादक ने उस अंक से कई नए कहानीकारों को खोज निकाला और अचानक ही एक नई पीढ़ी का शोर सा फिज़ा में गूँजने लगा। वागर्थ के अगले कई अंकों में जिन दो चार कहानियों की तारीफ होती रही, उनमें से उसकी कहानी एक थी। वह दुगुने जोश के साथ लिखने लगा। कई सारे आलोचक थे जो इस पीढ़ी के बारे में प्रचुरता से लिख रहे थे। वह खूब सारी पत्रिकाएँ खरीदता था और संघर्ष के दिनों में यह खर्चा उसे ख़ासा महँगा पड़ रहा था।

लेकिन वह एक आश्चर्य देख रहा था। उसके समकालीनों में से कुछ हिंदी साहित्य से प्रकारांतर से जुड़े थे तो कुछ साहित्यकारों से। लगभग हर कोई ऐसा था जो किसी न किसी वरिष्ठ या अपने से थोड़े पुराने कहानीकार कवि का दोस्त या परिचित था। वे आपस में मिलते और साहित्य की दुनिया की बातें करते और बीच-बीच में उसे भी याद करते। कुछ समकालीनों से उसकी भी दोस्ती हुई जो बतौर कहानीकार ही नहीं बतौर दोस्त बहुत

कमाल के इंसान थे। लेकिन वह थोड़ा अंतर्मुखी टाइप का था और अपनी ओर से लोगों से मिलने की पहल करने में सकुचाता था। इस बीच उसने एक आश्चर्य देखा कि उसके समकालीनों की कहानियों की चर्चा अन्य पत्र पत्रिकाओं में तो होती थी लेकिन उसकी कहानियों की कोई बात नहीं होती थी। उसकी कहानियाँ जिन भी पत्रिकाओं में छपती, अगले कई अंकों में उसकी पाठकों द्वारा तारीफें होतीं लेकिन अन्य पत्रिकाओं में जहाँ वह नवागंतुकोचित उत्साह से अपने नाम खोजता, वह नदारद रहता। उसके समकालीनों की यहाँ वहाँ छपी पत्रिकाओं की तारीफें होतीं लेकिन उसका नाम कहीं नहीं होता। उसे आश्चर्य हुआ। वह खुद को साहित्य में बुरी तरह से आउटसाइडर महसूस करता। उसके कुछ समकालीनों को भी इस बात पर आश्चर्य होता, बाद में कुछ ने कहा भी कि आप ज़रा फलाँ सर को फोन कर लीजियेगा, वह आपकी चिलाँ कहानी की बहुत तारीफ कर रहे थे। उसे माजरा समझ में आने लगा, उसने घर लौटते हुए सोचा कि क्या बात करेगा उस टिप्पणीकार से कि अगले अंक में वह उसकी कहानी पर भी बात करे। रास्ते में वह सोचता कि पहले उनकी सेहत के बारे में पूछेगा, फिर उसे लगता कि उनके पिछले लेख की तारीफ से बात करना ठीक होगा। घर पहुँचते पहुँचते यह निर्णय डगमगाने लगता, लगता जैसे कहानी लिखने के बाद किसी को फोन कर उससे कहना कितना गंदा साउंड करेगा कि सर मेरी कहानी पढ़िये और इस पर अपनी बहुमूल्य राय दीजिए, यानी पत्रिका में इसकी तारीफ कीजिए। वह नहीं करता और यह धीरे-धीरे उसकी आदत बनता गया। दोस्त कई बार कहते कि तुम्हें थोड़ा मिलना जुलना चाहिए लेकिन उसने सोच लिया था कि आसान रास्ता तो यही है कि जो आलोचक उसे इसलिये इग्नोर कर रहे हैं कि वह मिलने जुलने में ख़ास विश्वास नहीं रखता, उनकी परवाह किये बिना कहानियाँ ही ऐसी लिखने की कोशिश करे कि उन्हें इग्नोर करना मुश्किल हो। उसने अपनी ऊर्जा उस ओर लगाने की कोशिश की। वह कहानियाँ लिखता रहा, उसके समकालीनों में से कइयों ने एक से बढ़कर एक बेहतरीन और नैचुरल है कि काफी बदतरीन भी कहानियाँ लिखीं। वह भी अच्छी बुरी कहानियाँ लिखता रहा, सीखता रहा और दस साल की यात्रा के बाद उसने पाया कि शुरू में भले

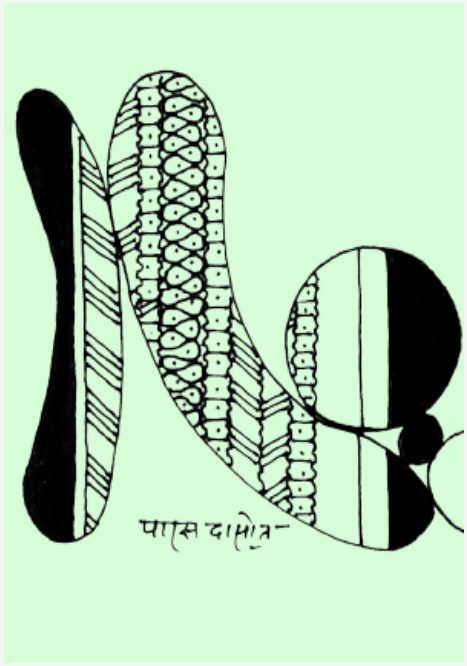

उसे असमंजस था, लेकिन उसका रास्ता सही था। अब वह दस साल की यात्रा के बाद देख रहा है कि साहित्य की दुनिया और साहित्य के पुरोधाओं से दूर रह कर कुछ बेहतरीन हस्तियों से करीब होने, उनका दोस्त होने का मौका खो तो ज़रूर दिया लेकिन उस समय को उसने लिखने और मिटाने में लगाया, खूब लिखा और अच्छे बुरे की परवाह किये बिना वह लिखने की कोशिश की जो उसे अच्छा लगा। दस साल में तीन कहानी संग्रह, एक संस्मरण और एक उपन्यास संख्या के हिसाब से अच्छा प्रयास है, गुणवत्ता के बारे में मतभेद हो सकता है।

आलोचकों की ज़िम्मेदारी लेखक की ज़िम्मेदारी से कहीं से कम नहीं होती बल्कि कई बार ज़्यादा ही होती है। आलोचकों की नज़र एक्सरे मशीन की नज़र होती है जो बाहर से स्वस्थ दिखते हिस्से की अंदरूनी समस्या को सामने ले आती है। इसमें कोई दो राय नहीं है कि हिंदी साहित्य में आज २०१४ में कुछ ही आलोचक हैं, जिनसे उम्मीद जागती है लेकिन यह कोई बुरी बात नहीं है। ऐसे आलोचक हमेशा से कम रहे हैं और कम ही रहेंगे। हाँ यह ज़रूर कहा जा सकता है कि अगर किसी ने ठान लिया है कि उसे लिखते हुए सीखना है और सीखते हुए लिखना है तो वह यह ज़रूर कर लेगा। इसमें आलोचकों की कोई ख़ास ज़रूरत नहीं होती अगर लिखने वाली की महत्त्वाकांक्षा सिर्फ़ अच्छा और ऐसा लिखना है जिससे उसे संतुष्टि मिले। कोई भी नया लेखक अगर लिखना शुरू कर रहा है तो हो सकता है उसे उस स्वाद के बारे में पता न हो जो अच्छा लिखने पर मिलता है, हो सकता है उसने नाम पाने के लिए लिखना शुरू किया हो, हो सकता है उसने अपनी गर्लफ्रेण्ड अपने दोस्तों पर धाक ज़माने के लिए लिखना शुरू किया हो, हो सकता है उसने इसलिए लिखना शुरू किया हो कि वह अपने माँ बाप को बताना चाहता हो कि वह वैसा नहीं है जैसा वे उसे समझते रहे हैं, उसने चाहे जिस भी वजह से लिखना शुरू किया हो, वह उस स्वाद उस सुख तक ज़रूर पहुँचेगा अगर उसे अपनी कहानियों से दो चीज़ें नहीं चाहिए। अपनी कहानियों से अगर आपको हिंदी साहित्य का कोई पुरस्कार नहीं चाहिए और किसी कॉलेज में हिंदी पढ़ाने की नौकरी नहीं चाहिए तो फिर आप देर-सवेर ज़रूर उस सुख तक ज़रूर पहुँचेंगे जो रचने का सुख होता है। इन दोनों तत्त्वों को दूरगामी प्रभाव होते हैं। ज़्यादातर पुरस्कारों के लिये हिंदी साहित्य में जो चलन है वह बतौर लेखक आपको कमज़ोर करता है, आपके सम्मान को कम करता है जो आपको बतौर लेखक आपके विकास के लिये बहुत ज़रूरी है। आप जिस दिन न किसी आलोचक की परवाह करेंगे और न किसी ज्यूरी की तो आप अपने मन का लिखेंगे। वह अच्छा होगा या बुरा होगा, इन सबसे ऊपर वह आपके आज़ाद दिमाग से निकला होगा। किसी आलोचक के करीब आप रहें तो हो सकता है वह आपको लिखने के बारे में कुछ अच्छी और काम की बातें बता दे लेकिन तय मानिए आपको लिखने के बारे में जो ज़िंदगी बतायेगी वह दुनिया का कोई भी आलोचक नहीं बता सकता।

आलोचक दोस्तों जितने ज़रूरी होते हैं, लेकिन आज की तारीख में जिस तरह सच्चा और खरा-खरा बोलने वाले दोस्तों की जीवन में कमी है, साहित्य में वैसे आलोचकों की भी कमी है। समाज में ऐसे लोग, जीवन में ऐसे दोस्त और साहित्य में ऐसे आलोचक कम होते जा रहे हैं, यह बाघों के कम होते जाने से कहीं अधिक गंभीर विषय है। यह लेख भले ही पढ़ने पर 'राष्ट्र के नाम संदेश' जैसा फील दे रहा हो, यह आत्ममुग्धता की परवाह किये बिना सिर्फ़ इसीलिये लिखा जा सका है कि इससे किसी के नाराज़, आहत या खुश होने की परवाह नहीं जुड़ी।

❐

कहानी में कहानी कहाँ ?

वंदना गुप्ता

(आलोचक, लेखक और पाठक, ये तीनों आपस में जुड़े होते हैं। लेखक लिखता है और पाठक पढ़ता है। आलोचक पाठक को बताता है कि वो क्या पढ़े और क्यों पढ़े ? ऐसे में पाठक की प्रतिक्रिया भी आलोचना कर्म पर जानना बहुत अवश्यक है। तो 'पाठकीय प्रतिक्रिया' खण्ड में वंदना गुप्ता का यह लेख। - संपादक)

वंदना गुप्ता
डी-१९, राणा प्रताप रोड
आदर्श नगर, दिल्ली ११००३३
मोबाईल : ९८६८०७७८९६

कहानी एक चित्र सा खींच देती है आँखों के आगे, जब भी नाम लिया जाए जो बचपन में सुना करते थे या पढ़ा करते थे। जिसमें हुआ करती थी सिर्फ़ कहानी, कहीं कोई व्यर्थ प्रलाप नहीं, कहीं कोई जोड़ तोड़ नहीं, कहीं कोई बेवजह का चित्रांकन नहीं तब एकरसता बनी रहती थी, कोई ऊब को स्थान ही नहीं मिलता था बल्कि एक इच्छा बनी रहती थी जानने की कि आगे क्या हुआ ? कहानी स्वयं अपने प्रवाह में बहाए लिए जाती थी, ज़रूरत नहीं होती थी कहीं भी पीछे मुड़कर देखने और समझने की तो दिल दिमाग पर गहरी छाप छोड़ जाया करती थीं क्योंकि सीधी सरल और सहज सम्प्रेक्षणीय हुआ करती थीं, जो मानस पटल पर ज्यों की त्यों अंकित हो जाया करती थीं यहाँ तक कि उपन्यास भी ऐसे हुआ करते थे जिनमें अनर्गल प्रलाप कम हुआ करता था या ज़रूरत के मुताबिक वर्णन हुआ करता था। मगर आज जाने क्या हो गया है, आज के वक्त के बड़े से बड़े कहानीकार की कहानियों में प्रकृति, आस पास के माहौल, छोटी से छोटी चीज़ का तो विशद वर्णन मिला करता है मगर यदि खोजने बैठो तो कहानी पूरी तरह नदारद होती है और उन्हें और उनके लेखन को एक उच्च दर्जा मिला होता है जो एक आम पाठक की समझ से परे होता है। वो जान ही नहीं पाता कि जो किताब उसने खरीदी नाम देखकर, जिसकी इतनी चर्चा है उसमें तो उसे उसके मुताबिक कुछ मिला ही नहीं, सब कुछ है मगर कहानी में कहानी ही नहीं है तब वो खुद को ठगा सा महसूसते हैं।

आज तो बाढ़ सी आ रही है लेखकों की, सभी अपने-अपने अनुभवों को किसी न किसी विधा में व्यक्त कर रहे हैं, ऐसे में कौन क्या लिख रहा है सब तक तो पहुँच नहीं पाता सिर्फ़ कुछ नामी गिरामी लेखकों के लेखन को ही आधार मिलता है जिस कारण जाने कितनी ही प्रतिभाएँ वंचित रह जाती हैं जिनका लेखन वास्तव में लेखन होता है, जिनकी कहानी वास्तव में कहानी होती है, आज के साहित्यकारों ने जाने कैसे मापदंड बना दिए हैं कि कहानीकार उनके चक्रव्यूह में घिरा रह जाता है और लेखक उसी तरह के लेखन पर ध्यान देने लगता है और अपनी मौलिकता को भूल जाता है जबकि किसी भी लेखन के लिए मौलिकता का होना बहुत ज़रूरी है क्योंकि जो मौलिक होगा वो ही अपनी छाप छोड़ेगा और वो ही टिका रहेगा। ऐसे में ज़रूरी है कि उपयुक्त मापदंड बनाए जाएँ और सबसे ज़रूरी चीज़ कहानी के नाम पर चित्रांकन ना पेश किया जाए तभी वो कहानियाँ पाठक के बीच चर्चित होंगी और अपनी छाप छोड़ेंगी वरना तो आज हर दूसरा इंसान लेखक है मगर ज़रूरी है उनके कथन का असरदार होना और सब तक पहुँचना। जाने कितने लेखकों को पढ़ते हैं मगर ऐसे गिनती के ही मिलते हैं जिनका लेखन असर छोड़ता है या जिनकी कहानियाँ मन मस्तिष्क को झकझोरती हैं और वो ही लेखन और लेखक की सफ़लता होती है क्योंकि उनमें सिर्फ़ चित्रांकन नहीं होता, बेवजह विस्तार नहीं होता बल्कि कहानी की माँग के अनुसार चंद लफ़्ज़ों में खाका खींचा जाता है और कहानी को आगे बढ़ाया जाता है। वही वास्तविक कहानी होती है, जिसमें कहानी हो, क्या कहना चाह रहा है लेखक उसका पूरा

विस्तार हो। कम से कम एक पाठक की दृष्टि से मेरा तो यही ख्याल है वरना आजकल ऐसी कहानियाँ और उपन्यास छप रहे हैं बड़े बड़े लेखकों के नाम से जिन्हें खरीदने के बाद पढ़ना भी खुद के साथ अन्याय सा लगता है क्योंकि अंत तक आपके हाथ कोई सिरा ही नहीं लगता तो ऐसे लेखन का क्या औचित्य बस ये ही समझ नहीं आता। क्या नाम कमाने के लिए या बड़ा नाम होने भर से पाठक के साथ ये अन्याय नहीं है, उसकी भावनाओं से खिलवाड़ नहीं है आज ये प्रश्न विचारणीय है क्योंकि कोई भी लेखन पाठक के बिना अधूरा है ये एक लेखक को समझना बेहद ज़रूरी है।

कुछ लोग कहते हैं वक्त के साथ सब कुछ बदल रहा है तो कहानी क्यों न बदले, बेशक बदले मगर उसमें कहानी के होने की तो कम से कम अनिवार्यता होनी ही चाहिए सिर्फ़ दृश्यों को चित्रित करना भर तो नहीं हुई कोई भी कहानी, अधूरा छोड़ देना तो नहीं हुई कहानी जहाँ कोई सिरा किसी से मिले ही नहीं, जहाँ समझ न आए आख़िर लेखक कहना क्या चाहता है तो उसे कहानी कैसे कह सकते हैं जब तक वो पाठक को अंत तक न ले जाए उसके मानस को न झकझोरे।

कहानियाँ तो मानव जीवन का अभिन्न अंग रही हैं फिर वो कोई भी काल रहा हो और पंचतंत्र की कहानियों का क्या कोई मुकाबला किया जा सकता है जो आज भी अपनी पहचान बनाए हैं। सीधे शब्दों में कथ्य क्या पाठक तक नहीं पहुँचा बल्कि हर काल में सर्वग्राह्य रहा। कहानी में अंत भी सुरुचिपूर्ण तरीके से किया गया तो क्या ज़रूरत है अंत को लिखने से कतराना आज तो बहुत से लेखकों की कहानियों में समझ ही नहीं आता कि वो पात्र से आख़िर चाहता क्या है ? कोई अंत देता ही नहीं लेखक सब पाठक के विवेक पर छोड़ देता है ये कैसा चलन शुरु हुआ समझ से परे है। यदि लेखन आज भी अपना स्तर न छोड़े तो ज़रूर अपनी पहचान बनाने में कामयाब होगा ये समझना बहुत ज़रूरी है, सिर्फ़ एक साहित्यिक बिरादरी को खुश करना ही अंतिम विकल्प नहीं होना चाहिए। एक लेखक को आम मानस का लेखक होना चाहिए ताकि उसका लेखन अनपढ़ तक पहुँच सके यदि वो सुन ले तो उसके मानस पर अंकित हो जाए तभी उस लेखन और लेखक की सार्थकता है और वो ही कहानियाँ कालजयी बना करती हैं जो आम मानस के हृदय तक पहुँचा करती हैं। कौन सी नानी दादी पहले पढ़ी लिखी हुआ करती थीं मगर तब भी एक कहानी सुन लेती थीं तो हमेशा के लिए उनके ज़ेहन में अंकित हो जाया करती थी जो एक कहानी के कहानी होने की प्रमाणिकता को स्वयं सिद्ध करती है। आज भी पीढ़ी दर पीढ़ी वो कहानियाँ अपनी पहचान बनाए हुए हैं मगर आज का लेखन क्या इस तरह कालजयी पहचान बना पायेगा संदेह के घेरे में आता है, जहाँ कहानियाँ महज वक्ती लिबास ओढ़े वाह वाह के समंदर में गोते तो बेशक लगा रही हैं मगर आम मानस के हृदय तक नहीं पहुँच रहीं ये कहानी के भविष्य का दुर्भाग्य है जो आज एक भी मुकम्मल कहानी आम जन की कहानी नहीं बन पा रही, आम जन तक नहीं पहुँच पा रही उनके जीवन में, मनोमस्तिष्क में हलचल नहीं मचा पा रही। कहानी के उज्ज्वल भविष्य के लिए आज के कथाकारों को सोचना होगा और ऐसी कालजयी कहानियों को लिखना होगा जो कभी प्रभावहीन न हों तभी कहानी अपना वर्चस्व बचा पायेगी वरना तो पाठक कहानी में कहानी ढूँढ़ता खुद को ठगा महसूसने पर कब उससे रुख मोड़ लेगा पता भी न चलेगा। ❐

SAI SEWA CANADA

(A Registered Canadian Charity)

Address: 2750,14th Avenue,Suite 201,Markham,ON ,LEROB6
Phone : (905)944-0370 Fax : (905) 944-0372
Charity Number : 81980 4857 RR0001

Helping To Uplift Economically and Socially Deprived Illiterate Masses Of India

Thank You For You Kind Donation to **Sai Sewa Canada**.Your Generous Contribution Will Help The Needy and the Oppressed to win The Battle Against. Lack of Education And Shelter, Disease Ignorance And Despair.

Your Official Receipt for Income Tax Purposes Is Enclosed
Thank You , Once Again, For Supporting This Noble Cause And For Your Anticipated Continuous Support.

Sincerely Yours,
Narinder Lal
416-391-4545

Service To Humanity

अमेरिका की तस्वीर वाया प्रवासी हिन्दी कथा-साहित्य

विजय शर्मा

(भारत से बाहर रह कर लेखन कर रहे रचनाकारों की रचनाएँ अपने लिए और अधिक आलोचना की मांग कर रही हैं। प्रसन्नता की बात है कि हिन्दी के कई आलोचक इन दिनों प्रवासी कथा साहित्य पर खूब काम कर रहे हैं। भारत से बाहर हो रहा ये लेखन भारत में हो रहे लेखन से किसी भी तरह कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। प्रवासी कथा साहित्य पर आलोचना हेतु इस 'प्रवासी कथालोचना' खण्ड में कई महत्त्वपूर्ण आलेख सम्मिलित किए जा रहे हैं।- संपादक)

डॉ. विजय शर्मा
३२६ न्यू लेआउट, सीताराम डेरा, एग्रिको,
जमशेदपुर ८३१००९, झारखंड
फ़ोन: ०६५७-२४३६२५१
मोबाइल : ०९४३०३८१७१८, ०९९५५०५४२७,
ईमेल : vijshain@gmail.com

'न तो प्रवास कोई नई स्थिति है ना ही प्रवासी साहित्य कोई नई खोज है। लेकिन बीसवीं शताब्दी में भारतीय मूल के लोगों ने एक देश में नहीं बल्कि लगभग संसार के हर कोने में जिस अस्मिता को जगाया है और जो पहचान स्थापित की है, वह इससे पहले संभव न थी। आज का भारतीय प्रवासी पहले के प्रवासी से भिन्न है। प्रवास के इस युग में तकनीकि और विज्ञान ने दूरियों को कम करने के साथ-साथ सांस्कृतिक आदान-प्रदान के रास्ते को प्रशस्त भी किया है। आज प्रवासी भारतीय के लिए भारत दूर होते हुए पास भी है। प्रवास देश की संस्कृति से भी उसका जीवंत संबंध बना हुआ है।' कथाकार-समीक्षक असगर वजाहत का यह कथन आज के संदर्भ में प्रवास और प्रवासी को बहुत अच्छी तरह से व्यक्त करता है।

दुनिया भर में फ़ैले हुए भारतवासियों ने भारतीय सोच और समझ का दायरा बढ़ाया है। सरकार और सत्ता संस्थान प्रवासियों को सम्मान दे रहे हैं, यह आर्थिक कारणों से अधिक हो रहा है। बात आर्थिक मुद्दों पर ही समाप्त हो जाती है। जब उनके साहित्यिक अवदान पर काम होगा तो यह साहित्य और संस्कृति दोनों को समृद्ध करेगा। साहित्य और संस्कृति का मूल्यांकन इस अवदान को स्थायित्व प्रदान करेगा। आर्थिक रूप से उनसे अपेक्षा रखना अच्छी बात है, मगर उनके साहित्यिक और सांस्कृतिक मूल्यगत अवदान को यदि ध्यान में न रखा गया तो यह उनकी अवमानना होगी और हमारी अपूर्णीय क्षति।

भारत के बाहर विदेशों में अनेक रचनाकार हिन्दी में लेखन कर रहे हैं। यह लेखन परिमाण की दृष्टि से विपुलता और विविधता लिये हुए है। इसमें शक नहीं है कि आने वाले समय में यह साहित्य हिन्दी साहित्य में एक बहुत महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाने वाला है। क्या तब यह साहित्य आज की तरह अलग-थलग पड़ा होगा। नहीं, मुझे नहीं लगता है। तब यह हिन्दी साहित्य का एक अंग होगा। तब इसे प्रवासी साहित्य क्यों कहा जाए? इसका बहुत सटीक उत्तर राजेंद्र यादव ने यमुनानगर में दिया था। इसे बाद में उन्होंने अपने हंस के संपादकीय का अंग भी बनाया था। उन्होंने कहा था कि साहित्य, साहित्य होता है और उसे बाँटना गलत है, मगर चीज़ों को समझने या विश्लेषण के लिए समग्र को तोड़ना ही पड़ता है। साहित्य में भी यही होता है। दलित लेखन, स्त्री लेखन की तरह प्रवासी लेखन की भी धारा है, उसकी अपनी विशिष्टता को समझने के लिए शायद यह ज़रूरी भी है।

जब हम आधुनिक प्रवासी हिन्दी कथा-साहित्य की बात करते हैं तो इसमें वे रचनाकार आते हैं, जो बेहतर जीवन शैली की तलाश में अपनी मर्ज़ी से दूसरे देशों में गए। वे बँधुआ मज़दूरों की तरह प्रवास में नहीं ले जाए गए। उच्च आमदनी के लिए जिन देशों में भारतीय गए उनमें अमेरिका, ब्रिटेन प्रमुख देश हैं। जब तेल का उत्पादन होने लगा तो भारतीय खाड़ी के देशों में भी जाने लगे। प्रवासी लेखन में महिलाओं की संख्या अधिक है। क्यों? शोध का विषय हो सकता है। यह संयोग है कि इस आलेख में जिन प्रवासी कहानियों की चर्चा है वे स्त्रियों द्वारा रचित है। यहाँ कहानियों की आलोचना से अधिक कहानियों में जो है उसे सामने लाने का प्रयास है।

समाजशास्त्री बतातें हैं और स्वीकार करते हैं कि पूरब और पश्चिम की संस्कृति में मूलभूत अंतर है। ये दो अलग दुनिया हैं। दोनों दुनिया के लोगों के संस्कार, आचार-विचार और मूल्य सब भिन्न हैं। पूरब और पश्चिम के लोगों की सामाजिक-मानसिक बनावट-बुनावट भिन्न है। दोनों की अपनी-अपनी विशेषताएँ हैं, अपनी-अपनी सीमाएँ हैं, अपनी-अपनी कमियाँ हैं। जब हम पूरब कहते हैं तो भारत, चीन, जापान आदि देश इसमें आते हैं जबकि पश्चिम कहते ही द यूनाइटेड स्टेटस, ग्रेट ब्रिटेन, और कनाडा अर्थात अमेरिका और यूरोप की छवि उभरती है। दोनों समाजों में मूलभूत अंतर है। पूरब समूहवादी समाज का पोषक है, जहाँ रिश्ते-नाते प्रमुखता पाते हैं। अमेरिकी समाज व्यक्तिवादी समाज है, जहाँ संबंध लेन-देन आधारित होते हैं। पारिवारिक संबंध भी अक्सर इसी मापदंड पर तौला जाता है।

गुणसूत्रों के अलावा व्यक्ति के व्यक्तित्व निखारने में पर्यावरण का हाथ होता है। पर्यावरण अर्थात उसके चारों ओर का सामाजिक और प्राकृतिक वातावरण। सामाजिक और प्राकृतिक वातावरण मिल कर संस्कृति का निर्माण करते हैं। इस तरह संस्कृति व्यक्तित्व निर्माण का एक प्रमुख घटक है। व्यक्ति अपनी संस्कृति से अपने मूल्य ग्रहण करता है। अत: इन दोनों संस्कृति में पले-बढ़े मनुष्य का व्यक्तित्व भी भिन्न-भिन्न होता है। समूहवादी संस्कृति में लोग अपने समूह के द्वारा जाने जाते हैं, समूह पर निर्भर करते हैं। ग्रुप ओरिएंटेशन महत्त्वपूर्ण होता है। इस तरह के समाज में लोग विस्तृत परिवार को भी अपना परिवार मानते हैं। वे उनसे निकट का संबंध मानते हैं और उनके दु:ख-सुख में शामिल होते हैं। इस व्यापक परिवार के प्रति निष्ठा को बहुत महत्त्व दिया जाता है, परिवार की चिंता को व्यक्ति की चिंता से पहले स्थान दिया जाता है। व्यक्तिवाद में व्यक्ति आत्मकेंद्रित होता है वह केवल अपने बारे में ही सोचता है। वह दूसरों से विशेष अपेक्षा नहीं रखता है और न ही दूसरों की ज़्यादा चिंता करता है। पास-पड़ोस उसके लिए कोई खास मायने नहीं रखता है। न वह पास-पड़ोस के जीवन में दिलचस्पी लेता है और न ही चाहता है कि कोई उसके जीवन में ताक-झाँक करे। अगर कोई ऐसा करता है तो वह उसे अनाधिकार चेष्टा लगती है।

अब एक ऐसे व्यक्ति की बात सोचिए जिसका जन्म भारत में हुआ है। लालन-पालन भारतीय परिवेश में हुआ है परंतु जो वयस्क होने पर अमेरिका में रह रहा है। एक भारतीय मन जो शारीरिक रूप से अमेरिका में प्रवास कर रहा है। जिसकी आदतें, मूल्य, रीति-रिवाज सब भारतीय हैं। अमेरिका में निवास करते हुए कितने सारे द्वंद्वों का सामना करना पड़ता होगा ऐसे व्यक्ति को। अमेरिका में रह रही सुदर्शन प्रियदर्शिनी अपनी कहानी 'अखबार वाला' में एक ऐसे ही व्यक्ति के मनोभावों को चित्रित करती हैं। उन्होंने छोटी-सी घटना के इर्द-गिर्द एक बहुत संवेदनशील और सांद्र कहानी की रचना की है। इस कहानी के द्वारा उन्होंने प्रवासी मन को समझने-समझाने का काम किया है।

'अखबार वाला' की जया काफ़ी समय से अमेरिका में रह रही है। यहाँ की सामाजिकता का तकाजा है कि अपने दु:ख-दर्द को अपने घर के दरवाज़े के भीतर तक ही समेट कर रखा जाए। दूसरी ओर ताक-झाँक भारतीय का स्वभाव है। जया की जिज्ञासू आँखें सड़क, गली और सामने वाले घरों की गतिविधियों पर गाहे-बगाहे नजर रहती थी। पहले घर में बच्चे थे, अब अपनी-अपनी जिंदगी में व्यस्त हो गए हैं और जया अकेली पड़ गई है। कहानी काव्य-गुण समा कर खूबसूरत हो जाती है जब सुबह-सुबह रंग, गंध, ध्वनि, स्वाद, स्पर्श सारी ज्ञानेंद्रियाँ जाग्रत हो जया को भारत की सुबह का स्मरण कराती हैं।

वर्तमान इसके विपरीत सन्नाटे से भरा हुआ है। जया रोज उठ कर सबसे पहले सन्नाटों से समझौता करती है। जया को लोगों का रिश्ता एक दूसरे से जुड़ता हुआ नहीं वरन एक दूसरे को काटता हुआ लगता है। समूह व्यक्ति को शारीरिक और भावात्मक दोनों प्रकार की सुरक्षा देता है। वह अपनी ओर से रिश्ता बनाने की कोशिश करती है मगर हर बार वही ढाक के तीन पात। उसका प्रयास उसे बौढ़म और पुशी संज्ञा दिलाता है। जया को एक बार ज़रूरत पड़ गई थी और ज़रूरत पर पड़ोसी सहायता करता भी है। वे बुरे नहीं हैं, न ही इरादतन उसे अनदेखा करते हैं। उनकी संस्कृति उन्हें किसी की निजी ज़िंदगी में झाँकने की इजाज़त नहीं देती है। इसीलिए जब वह मृत पड़ोसी के बारे में दूसरे पड़ोसी से अता-पता करना चाहती है तो उसे निराशा हाथ लगती है। बीमार होना, दु:खी होना व्यक्तिगत मामला है!

सुबह उठ कर जब वह अखबार उठाने गई तो भौचक रह गई। पड़ौस में फ़्युनेरल वैन खड़ी थी। कहानीकार जिस दुनिया में रहता है जिस असलियत को जानता-समझता है, भोगता है वही उसकी कहानियों में विस्तार पाता है। लाहौर में जन्मी सुदर्शन प्रियदर्शनी सुनेजा काफ़ी समय से अमेरिका में रह रही हैं। उनकी कथा नायिका जया का लालन-पालन भारतीय समूहवादी समाज में हुआ है। भारतीय संस्कार, मूल्य-व्यवहार उसे घुट्टी मे मिले हैं। भारतीय का उत्साहधर्मी मन दूसरों में अपनापन खोजता है। अखबार वाला एक ऐसी ही कहानी है जो प्रवासी भारतीय स्त्री मन की कसक, उसकी छटपटाहट को शब्द में ढालती है। उसके मन में संशय है, वह समझ नहीं पाती है कि उसके ससुर का जीवन दर्शन सही है जो बिना किसी जान-पहचान के एक व्यक्ति की मृत्यु की खबर सुनते ही उसके घर पर अपनी संवेदना प्रकट करने चल देते हैं अथवा इन अमेरिकी लोगों का जीवन दर्शन उचित है, जो पड़ोसी की मौत पर एक शब्द नहीं कहते हैं, एक आँसू नहीं गिराते हैं। यह भावात्मक जीवन के केवल क्षरण की नहीं वरन् भावात्मक जीवन के अभाव की कहानी है। अजनबीपन और संवादहीनता से उत्पन्न त्रास की कहानी है।

जया का मरने वाले से बड़ा झीना-सा रिश्ता था। इस पहचान में कहीं भी अपनत्व या पड़ोसीपन नहीं था। जया उसे तब तक मिस नहीं करती है जब तक कि उसे उसकी मृत्यु का पता नहीं चलता है। फ़िर क्यों इस व्यक्ति की मृत्यु से विचलित है जया? कहानीकार वहीं इसका उत्तर देती है कि एक ही योनी का प्राणी होने का उनका नाता था, क्या यह कम बड़ी बात है? वह अपने पड़ोसी का नाम नहीं जानती थी मगर उसकी मृत्यु पर वह छटपटाती है उसे अफ़सोस होता है कि क्यों नहीं वह उसे जान सकी।

मृत्यु के आसपास सन्नाटा होता है, आश्चर्य नहीं कि अखबारवाला कहानी में अनेक बार इस शब्द का प्रयोग हुआ है। पड़ोसी की मृत्यु जया को अस्तित्वगत उद्विग्नता से भर देती है। उसका भारतीय मन मृत्यु पर दो आँसू गिरने की प्रतीक्षा करता है। पता नहीं क्यों उसे इंतजार है कुछ सिसकियों का... जया के मन में उस व्यक्ति को ले कर तमाम जिज्ञासाएँ हैं मगर जिज्ञासा मिटाए बिना ही वह व्यक्ति चला गया। जितना ही वह उनके विषय में सोचती है उतना ही भावुक होती जाती है। उसके भीतर उनके लिए एक दयार्द्र-सी व्यथा उभर आती है। इस आदमी का एक बेटा भी था। एक आम भारतीय रिश्तों में जीता है रिश्तों के सहारे जीता है। जया कयास लगाती है, अपनी ओर से उन्हें रिश्तों में बाँधती है। वह अमेरिकी लोगों के व्यवहार को समझ नहीं पाती है और उनका मूल्यांकन अपने हिसाब से करती है। अनजाने में वह बार-बार भारत के जीवन की पृष्ठभूमि में अमेरिकी जीवन को देखती है। जया अभी तक स्वयं को अमेरिकी नहीं मानती है इसीलिए अमेरिकन के लिए 'उन्हें' और अपने लिए 'हमारे' जैसे शब्दों का प्रयोग करती है। भारतीयों का शोक में डूबना, रोना-धोना उसे आकर्षित करता है, वह ये भावनाएँ, भावनाओं का खुला प्रदर्शन अमेरिका में चाहती है। दूसरी ओर भारतीय संस्कृति में अंतिम संस्कार से जुड़े सालों साल चलने वाले रीति-रिवाज उसे आडंबर लगते

हैं। वह अमेरिकन जीवन में दु:ख-दर्द न व्यापने को लेकर परेशान है। वह चाहती है कि मरने वाले के संबंध में लोग उससे बातें करें, उसकी जिज्ञासाओं को शांत करें। उसे भारतीयों द्वारा मरे हुए व्यक्ति की स्मृतियों को समेट-समेट कर रखना खलता भी है। अजनबी व्यक्ति की मृत्यु से जया का हृदय भर आता है। उसकी आँखें नम हो जाती हैं। जब तक एक भी आँख में आँसू शेष है मानवता मर नहीं सकती है। यह मानवता के जीवित रहने के विश्वास की संवेदनशील कहानी है।

परिवेश कथा-साहित्य का एक प्रमुख तत्त्व होता है। परिवेश बदलने से कहानी बदल जाती है, उसकी तासीर बदल जाती है। अत: प्रवासी लेखन एक नया परिवेश रचता है। प्रवासी कहानीकार एक नए परिवेश में एक नई कहानी रचता है। इला प्रसाद की कहानी 'कॉलेज' वैसे तो एक लेक्चरर की है पर इसमें कॉलेज में हाल में दाखिला लिए किशोरों की बात हो रही है। पढ़ने में इनकी रुचि नहीं है, न ही इनमें उच्च शिक्षा की योग्यता है। कारण अमेरिका की शिक्षा व्यवस्था है। शिक्षा व्यवस्था जिसकी दुहाई देते हम नहीं थकते हैं और जिसे बड़े गर्व के साथ हम अपना रहे हैं। यह शिक्षा पद्धति कई सवाल खड़े करती है, विमर्श उत्पन्न करती है। वहाँ स्कूल में छात्रों को फ़ेल करने का नियम नहीं है, यही सिस्टम हमारे यहाँ भी लागू हो रहा है। अमेरिका में स्कूली शिक्षा के अन्तिम साल परीक्षा में नब्बे प्रतिशत से ज्यादा अंक मिलते हैं, मगर ज्ञान के नाम पर ये शून्य होते हैं। साधारण गुणा-जोड़-घटाव भी बिना कैल्कुलेटर के नहीं कर सकते हैं। अमेरिका में जो छात्र उच्च शिक्षा चाहते हैं और हायर एजुकेशन की महँगी फ़ीस वहन कर सकते हैं वे यूनिवर्सिटी में पढ़ने जाते हैं। जो फ़ीस अफ़ोर्ड नहीं कर सकते हैं वे कम्यूनिटी कॉलेज जाते हैं। अमेरिकी संस्कृति में माता-पिता बच्चों की उच्च शिक्षा के लिए ज़िम्मेदार नहीं होते हैं, बच्चे को खुद इसका इन्तज़ाम करना होता है और अक्सर ऐसे बच्चे पढ़ने के साथ-साथ फ़ीस का इंतजाम करने के लिए कोई पार्ट टाइम जॉब या नाइट शिफ़्ट में काम करते हैं। सैंडर्स, कैथी, रिक, विलियम, केनेथ, डेविड और उहान नई-नई शिक्षिका बनी तनु के ऐसे ही छात्र हैं।

व्यक्तित्व का निर्माण वंशानुक्रमण तथा पर्यावरण से मिलकर होता है। इसमें जितना हाथ व्यक्ति के गुणसूत्र का होता है उससे कम उसके वातावरण का नहीं होता है। इसीलिए किशोरावस्था में बालक का विकास कैसा होगा यह उसके पारिवारिक वातावरण पर भी काफ़ी हद तक निर्भर करता है। मानवशास्त्री मार्ग्रेट मीड किशोर के व्यवहार को उसकी संस्कृति और उसके लालन-पालन से जोड़ कर देखती हैं। इन अमेरिकी छात्रों को अपने अधिकार बखूबी ज्ञात हैं, दायित्व चाहे जाने-न जाने, निभाएँ या न निभाएँ। सैन्डर्स देर तक सोता रहा, अत: टेस्ट देने समय पर न आ सका बाद में पहुँच कर फ़ोन से माँग करता है कि उसे प्रश्न पत्र दिया जाए, क्योंकि उसने टेस्ट की पूरी तैयारी की है। वह कॉलेज में है। तनु घर पहुँच चुकी है। तनु परीक्षा नियंत्रण कक्ष को प्रश्न पत्र भेजती है। कैथी इतनी गरीब है कि किताब कॉपी नहीं खरीद सकती है। किताब खरीदने के लिए नौकरी कर रही है, जब पैसे जुटेंगे तब खरीदेगी, तब तक क्या करे? तनु उसे अपनी किताब जो पढ़ने के लिए देती है और कैथी उसे लेकर गायब। अब तनु सेमिस्टर समाप्त होने पर किताब कहाँ से लौटाए? रिक ने बिना किसी केल्कुलेशन के सवाल क मात्र उत्तर लिखा है, मगर ज़िद कर रहा है कि उसे पूरे अंक क्यों नहीं दिए गए। टेस्ट में वही सवाल पूछने हैं, जो क्लास में कराए गए हैं, तब भी रिक और विलियम उससे उलझते हैं। वह छात्रों के कहे अनुसार ग्रेडिंग्स नहीं करती है और एक छात्र डैनियल को क्लास से बाहर निकाल देती है तो डैनियल के साथ पूरी क्लास बाहर चली जाती है। केनेथ क्लास में तीसरी बेंच पर बैठ कर मज़े से खर्राटे भरता है। उहान का कैल्क्यूलेटर काम नहीं कर रहा है वह मौका मिलते ही तनु के कैल्क्यूलेटर से अपना वाला बदल लेती है। इतने पर ही तनु की समस्या समाप्त नहीं होती है, ये छात्र न केवल विभागाध्यक्ष से उसकी शिकायत करते हैं। सोशल नेटवर्किंग का प्रयोग टीचर के प्रति अपनी भड़ास निकलने के लिए करते हैं।

तनु वर्मा के पढ़ाने की निगरानी होती है, उसमें वह सफ़ल हो जाती है और छात्रों को वार्निंग मिलती है कि यदि उन्होंने मिस बिहेव किया तो सिक्योरिटी पुलिस को बुलाया जाएगा। शिक्षा मॉरल पुलिसिंग तथा सिक्योरिटी पुलिस की निगरानी में शिक्षा संपन्न नहीं हो सकती है। अधिकांश छात्र तनु की गणित की क्लास छोड़ देते हैं कुछ इस लिए रुके रहते हैं क्योंकि उन्होंने उस मिड सेमेस्टर तक की फ़ीस भरी हुई थी। शिक्षा इनके लिए एक कमोडिटी है। अधिकार के प्रति हद से ज़्यादा आग्रही ये कर्तव्य की ओर से शून्य हैं। ये छात्र नशा करते हैं क्लॉस में फ़ोन पर बातें और वीडियो गेम खेलते हैं, डिस्को जाते हैं, गर्ल फ्रैंड्स के साथ घूमते हैं। टीचर का नजरिया इनके प्रति सकारात्मक नहीं है, तनु के अनुसार जीवन में इनका कोई ऊँचा ध्येय नहीं है। हद-से-हद मैक्डोनेल में काम करेंगे, सेल्समैन या फ़िर डिलिवरी ब्वाय बनेंगे। शिक्षा का लक्ष्य मात्र ऊँची नौकरी पाना नहीं होना चाहिए।

तनु ने कैल्क्यूलेटर और प्रोजेक्टर से पढ़ाने का प्रयास किया, नतीजा कुछ खास न निकला। अमेरिकी शिक्षा पद्धति की एक और विशेषता हमारे देश में भी लागू हो चुकी है, छात्रों द्वारा शिक्षक का मूल्यांकन। जाहिर-सी बात है जिस छात्र को कम नम्बर आएँगे अथवा फ़ेल होगा वह शिक्षक का मूल्यांकन नकारात्मक ही करेगा। मज़े की बात है कि सारे समय मैनेजमेंट तनु से कहता है कि वह उसके साथ है, सैमेस्टर की समाप्ति पर उसे बधाई दी जाती है, डीन ने प्यार से भेंटा, हेड ने तारीफ़ की। लेकिन उसे अगले सेमेस्टर में पढ़ाने के लिए नहीं बुलाया गया। कहानी एक नकारात्मक नोट पर समाप्त होती है। बाद में उसे एक दूसरे कॉलेज में पढ़ाने के लिए कहा जाता है मगर वह नहीं जाती है। उसे फ़िर से इंटरव्यू देने के लिए बुलावा आता है मगर वह वहाँ भी नहीं जाती है। पाठक को लगता है कि उसे इस तरह हार नहीं माननी चाहिए थी। खास करके जब उसने अगले सेमेस्टर में अपने पढ़ाने की स्ट्रेटजी बदलने की सोच रखी थी। अगर कुशल शिक्षक पढ़ाने से दूर हट जाएँगे तो युवाओं का क्या होगा। पहले ही वे दिग्भ्रमित हैं, उनका भविष्य तो और अंधकारमय हो जाएगा। तनु ने अनुभवहीन होने के कारण एकाध गलतियाँ की हैं मगर अनुभव के बाद तो वह छात्रों के लिए उपयोगी सबित हो सकती है, युवाओं को दिशा निर्देश दे सकती है। उनके अंदर जीवन के सकारात्मक विचारों, जीवन मूल्यों, उद्देश्यों के बीज डाल सकती है। खैर यहाँ बात हो रही है किशोरों की। इस कहानी के किशोर दिशा भ्रमित, रूचि के विपरीत पढ़ने के नाम पर समय काटते, किसी के प्रति आदर सम्मान का भाव न रखने वाले हैं। जिस देश के ढेर सारे युवाओं की स्थिति ऐसी हो उस देश के

भविष्य की दुर्दशा की कल्पना करना कठिन नहीं है। यदि समय रहते इन्हें युवा पीढ़ी को संवेदनशील और ज़िम्मेदार न बनाया गया तो मानवता के भविष्य को खतरा हो सकता है।

सुषम बेदी की कहानी 'काला लिबास' भी शिक्षक-छात्र संबंध पर आधारित है लेकिन इसमें माता-पिता और संतान का संबंध प्रमुख है। भारतीय डॉक्टर दम्पत्ति की अमेरिका में उत्पन्न संतान एक किशोरी की कहानी है यह। प्रारम्भ से माता-पिता का, खासकर माँ का दबाव था कि वह उनकी तरह डॉक्टर बने। मगर अनन्या की इसमें रुचि नहीं है और वह अमेरिका के एक अन्य शहर में आकर भाषा पढ़ने लगती है। इसी वजह से वह कथावाचिका के सम्पर्क में आती है। जहाँ अन्य छात्र इस प्रोफ़ेसर से तनिक डरे सहमे रहते हैं अनन्या उसके ऑफ़िस में बहुत सहज अनुभव करती है। बच्चों की दृष्टि से कुछ नहीं छुपता है, अनन्या देखती है कि उसकी माँ भारतीय होते हुए भी स्वयं को किसी अमेरिकन जैसा दिखाना चाहती है। अनन्या अपनी प्रोफ़ेसर को बताती है कि उसकी माँ के लिए सबसे ज़्यादा अहं उसका कैरियर है... बाकी सब उसके बाद आते हैं।

बेटी को प्रोफ़ेसर के कमरे में जितना अपनापन लगता है, उसकी माँ वहाँ उतना सहज अनुभव नहीं करती है। माँ बेटी का रूप-रंग एक जैसा है, उनकी मुद्रा दोनों के भिन्न स्वभाव को स्पष्ट करती है। माँ को बेटी की सुध तब आई जब बेटी हाथ से निकल चुकी है, मानसिक अस्पताल में भर्ती है। इसके पहले उसे बेटी के लिए फ़ुरसत न थी। माँ को पता है कि बेटी अपनी इस प्रोफ़ेसर के बहुत करीब थी अत: अब वह उससे मदद माँगने आई है। प्रोफ़ेसर अनन्या से लगाव अनुभव करती थी और उसकी वर्तमान हालत से दु:खी थी। माँ के अनुसार किसी ने बच्ची पर कभी कोई दबाव नहीं डाला था। वह सारा दोष अनन्या के भारत जाने पर मढ़ती है।

अनन्या को भारत से लगाव था। वह हिन्दी भाषा पढ़ती है और यूनिवर्सिटी के जूनियर इयर अब्रॉड प्रोग्राम के तहत साल भर के लिए भारत जाती है। पढ़ाई के साथ-साथ कत्थक नृत्य सीखती है। वह भाषा या नृत्य पर अपनी थीसिस लिखना चाहती है। भारत से लौटने के बाद वह हर बात में भारत और अमेरिका की तुलना करती है और हर मामले में भारत को उच्च ठहराती है। वह जानती है कि वह अमेरिकन है लेकिन उसे वह देश पसन्द नहीं है, वहाँ के लोग पसन्द नहीं हैं। उसका दर्द है कि भारत में वह किसी को विदेशी नहीं लगती है जबकि जहाँ वह पैदा हुई, जहाँ उसका घर है, वहाँ हर नया मिलने वाला सबसे पहले यह पूछता है कि वह किस देश से है। जबकि वह उन्हीं की तरह वहाँ की नागरिक है। रूप-रंग-नस्ल व्यक्ति के अपना चुनाव न होते हुए भी उसकी सामाजिक स्थिति में मायने रखते हैं। उसे यह बात और भी बुरी लगती है कि उसके माँ-पिता भी इनके जैसे हैं। बड़ी बहन ने एक गोरे से शादी की। यूँ उसे इसमें कोई आपत्ति नहीं लगती है। अमेरिकी संस्कृति में पलने के कारण उसे व्यक्तिगत स्वतंत्रता का सम्मान करना अच्छा लगता है। उसे आपत्ति है कि उसके घर वाले अपने आपको गोरों जैसा समझते हैं। वह पढ़ाई के बाद भारत लौट जाना चाहती है। अमेरिका में जन्म ले कर भी वह प्रवासी है और प्रवासी जीवन के त्रास को भोग रही है।

संवेगात्मक अस्थिरता, ड्रग्स, अवसाद, आक्रमक व्यवहार, चिन्ता, तनाव, नींद की अस्थिरता, और यौन संबंधित क्रियाकलाप, सामाजिक क्रियाकलापों में रुचि न लेना उनसे दूर हो जाना, आत्महत्या की प्रवृत्ति, खंडित व्यक्तित्व आदि किशोरावस्था की प्रमुख समस्याएँ हैं। असल में अनन्या बहुत भ्रमित है। वह उम्र के उस दौर से गुज़र रही है जब व्यक्ति अपनी पहचान स्थापित करना चाहता है, अपनी जड़ों को जानना चाहता है। माता-पिता का मुखौटा वाला व्यवहार उसे उनसे विमुख करता है, वहीं विभागाध्यक्ष का भारत विरोधी रवैया उसे और बेचैन कर देता है। वह विद्रोह का खुल्लमखुल्ला बिगुल बजा देती है। काले लोगों की बस्ती हारलम में जाकर रहने लगती है। एक काले लड़के से दोस्ती कर लेती है। वह दूसरों को शॉक्ड करना चाहती है। उसे उस काले लड़के का परिवार बहुत विनीत और सुसंस्कृत लगता है, सबसे बड़ी बात है, उसका पूरा परिवार संगीत में है। खुद उसे भी संगीत अच्छा लगता है बचपन में वह पियानो सीखती थी।

युवा अपना विद्रोह विभिन्न तरीकों से अभिव्यक्त करता है। अनन्या जबसे भारत से लौटी है उसने चटकीले रंगों के कपड़े पहनने शुरू कर दिए हैं। अपने विद्रोह को प्रकट करने के लिए एक दिन वह पूरे काले लिबास में कॉलेज आती है। वह ज़िद्दी और अड़ियल होती जा रही है। बात चलने पर वह कहती है कि भारत में स्त्रियों पर कोई ज़ुल्म नहीं होता है, वे बहुत स्वतंत्र हैं, अमेरिकी स्त्री ज़्यादा बंधन में है। पर अमेरिकी स्त्री की छवि भिन्न पेश की जाती है। उसकी प्रोफ़ेसर यह कह कर बात समाप्त करती है कि जब वह भारत में रहने लगेगी तब उसे वहाँ की स्त्री की असली हालत पता चलेगी। अनन्या को शिकायत है कि जब भी भारत की बात आती है, केवल उसके नकारात्मक पक्ष को ही प्रस्तुत किया जाता है।

धीरे-धीरे अनन्या क्लास से गायब रहने लगती है। जब आती है, मानसिक रूप से कहीं और होती है। वह असहज और कठिन होती जा रही है। और एक दिन आता है जब वह विभागाध्यक्ष से लड़ पड़ती है। उसे लगता है कि वे इंडिया का अपमान करती हैं। वह एक टैक्सी में बैठ कर एयरोड्रम जाना चाहती है ताकि भारत जा सके पर ड्राइवर उसे मेंटल अस्पताल में छोड़ आता है। चरम विद्रोह में व्यक्ति आत्मघाती हो उठता है। कई दिन से अनन्या का इलाज चल रहा है, डॉक्टर कहते हैं कि वह ठीक हो जाएगी। डीन ने उसके यूनिवर्सिटी में घुसने पर रोक लगा दी है। अस्पताल में उसके माता-पिता के अलावा उससे कोई और नहीं मिल सकता है। लड़की तनाव-दबाव में है उसे नर्वस ब्रेकडाउन हो गया है। किसी को उसकी संवेगात्मक स्थिति से कुछ लेना-देना नहीं है। माँ को चिन्ता है तो बस उसके साल नष्ट होने की अत: वह किसी भी तरह उसकी डिग्री का इंतजाम करना चाहती है। इसके लिए वह सारे काम करवा लेने को तैयार है। अनन्या बहुत भ्रमित है। भारत के प्रति व्यामोह, माता-पिता द्वारा उपेक्षा, शिक्षकों द्वारा न समझे जाने की कसक अंतत: वह स्वयं को सज़ा दे कर अपना विद्रोह प्रकट करती है। क्या वह कभी पूर्णरूपेण स्वस्थ हो सकेगी?

आठ उपन्यास और दो कहानी संग्रह की रचनाकार सुषम बेदी भी 1979 में अमेरिका आ गई और 1985 से न्यूयॉर्क की कोलम्बिया यूनिवर्सिटी में पढ़ा रही थीं। इंग्लिश और हिन्दी दोनों भाषाओं में बराबर लेखन करती हैं। साहित्य के अलावा वे नाटक में भी सक्रिय हैं। अमेरिका का भारतीय प्रवासी युवा, भले ही वह वहीं जन्मा हो, किन मानसिक-सामाजिक और संवेगात्मक संघर्षों से गुजर रहा है 'काला लिबास' में वे इसे

बखूबी चित्रित करती हैं।

सुधा ओम ढींगरा कहानी लिखने के सिवा और भी कई कार्य करती हैं। वे पत्रकार हैं तथा उत्तरी अमेरिका की त्रैमासिक पत्रिका 'हिन्दी चेतना' की संपादक भी हैं। अमेरिका में बसी सुधा अंतरराष्ट्रीय हिन्दी समिति के कवि सम्मेलनों की संयोजक, 'विभूति' की सलाहकार हैं तथा 'प्रथम' की कार्यकारिणी सदस्या हैं। ये हिन्दी तथा पंजाबी दोनों भाषाओं में समान रूप से लिखती हैं तथा अनुवाद कार्य भी करती हैं। अमेरिका का एक और चेहरा दिखाती है कहानी 'सूरज क्यों निकलता है'। परिवेश बदलने से कहानी के विषय में विविधता आती है। अमेरिका की कल्याणकारी राज्य और चमक-दमक की शान-पट्टी खोलती सुधा ओम ढींगरा की कहानी 'सूरज क्यों निकलता है' अपने छोटे से कलेवर में बहुत कुछ कह जाती है। कहानी का शुरुआती हिस्सा किसी भी अविकसित अथवा विकासशील देश की दृश्यावलि प्रस्तुत करता है। सड़क किनारे भीख माँगते लोग अमेरिका के तो नहीं हो सकते हैं। मगर हैं ये अमेरिका के लोग, यह दृश्य अमेरिका का है। अमेरिका ठहरा एक समृद्ध देश भला वहाँ भिखमंगे क्यों होंगे? पर वास्तविकता वह नहीं है जिसे अमेरिका प्रदर्शित करता है, विज्ञापित करता है। इस खुशहाल देश में भी गरीबी, बेरोज़गारी है। गरीबी और बेरोज़गारी के अमेरिकी आँकड़े चौंकाने वाले हैं। मेहनतकश लोगों को प्रोजेक्ट करने वाले देश में भी कामचोर, आलसी लोग हैं। ऐसे लोग हैं जिन्हें मुफ़्त की खाने की आदत पड़ गई है, जो मेहनत से कतराते हैं। काम करने के नाम से जिनकी नानी मरती है।

मगर ये लोग ऐसे क्यों हैं? पीटर और जेम्स ऐसे क्यों हैं? कहानी इसकी पड़ताल न करते हुए भी कुछ सूत्र थमा देती है। वेलफ़ेयर स्टेट लोगों के भीतर काहिली पैदा करता है। किसी भी योजना को भुनाया जा सकता है, उसका दुरपयोग किया जा सकता है। अमेरिकी सरकार सोचती है कि गरीबी रेखा से नीचे के लोगों को फ़ूड स्टैम्प दे कर वह उनका भला कर रही है, इससे वे भूखे नहीं रहेंगे और खाना ही खाएँगे, अगर पैसा देंगे तो शराब व सिगरेट खरीद लेंगे, पर निकालने वाले तो यहाँ भी रास्ता निकाल लेते हैं। दोनों भाई काहिल भले हों पर उसके दिमाग शातिर हैं।

सुधा ओम ढींगरा की कहानी 'सूरज क्यों निकलता है' जेम्स और पीटर नामक ऐसे किरदारों को प्रस्तुत करती है जो कल्याणकारी राज्य की योजनाओं की धज्जी उड़ाते हैं। ये जुड़वाँ भाई भीख माँगते हैं इसलिए नहीं कि इनके पास खाने को नहीं है, वरन भीख माँगते हैं ताकि उनके कई दिन से सूखे गले को शराब और तने हुए शरीर को राहत मिल सके। जब लोग भीख नहीं देते हैं तो ये लोगों को अपशब्द कहते हैं, अमेरिका की मंदी को कोसते हैं। बदले में लोग भी इन्हें गालियाँ और धिक्कार देते हैं, जिससे इन्हें ज़्यादा फ़र्क नहीं पड़ता है। मुफ़्त खाने के लिए मिले कूपन ये आधे दाम में बेच डालते हैं और ख़रीददार उससे अपना फ़ायदा उठाते हैं। शैल्टर होम में सोना और सूप किचेन में मुफ़्त का खाना खा कर ये बचत करते हैं। बैठे ठाले सरकार की आलोचना करना, मुफ़्त के खाने में मीन-मेख निकालना, यही इनका काम है और इनकी हाँ-में-हाँ मिलाने वालों की कमी नहीं है। मतलब पूरी-की-पूरी पीढ़ी निकम्मी और बेगैरत है। कुछ भीख और खाने के कुछ कूपन बेच कर उससे मिले डॉलर से ये मस्ती करने निकलते हैं।

कहानीकार इसी समय इनके इतिहास को प्रस्तुत करती है। ये अपने नाना-नानी के घर में पले हैं, इनकी माँ ने इन लोगों की कभी परवाह नहीं की, इन्हें अपने पिता का भी पता नहीं है। ग्यारह भाई-बहनों में ये सबसे छोटे हैं। बहनें माँ के रास्ते पर चल रहीं हैं। उनके कई-कई बच्चे हैं। सरकार चूँकि बच्चों और अविवाहित माताओं का खर्च उठाती है अत: चिंता नहीं। कोई नशे की लत में है, कोई जेल में। यहीं इस बात का भी संकेत मिलता है कि ये अश्वेत हैं। पीटर और जेम्स की माँ टेरी अपनी माँ से कहती है कि वह क्यों काम करे, उसके पूर्वजों ने बरसों इन लोगों (इशारा श्वेत अमेरिकी लोगों की ओर है) की गुलामी की है। पूर्वजों के साथ दुर्व्यवहार हुआ है इसका बदला काम न करके लिया जाए? इस तरह की मानसिकता व्यक्ति, समाज और राष्ट्र के लिए कितनी खतरनाक हो सकती है, यह सोचने की बात है।

खैर दोनों भाई सज-धज कर एक सस्ते क्लब पहुँचते हैं। शराब पी कर लड़कियों के संग रात गुज़ारने के ख्वाब देखते हैं। शराब पी लेते हैं, जिन लड़कियों को तफ़री के लिए चुनते हैं वे इनकी जेब साफ़ करके नौ-दो ग्यारह हो जाती हैं। पैसे न मिलने पर क्लब इन्हें उठा कर बाहर फ़ेंक देता है। सुबह जब सूरज चढ़ आता है सफ़ाई कर्मचारी इन्हें उठाते हैं तो इन दोनों को दिन उगना बड़ा नागवार गुज़रता है। वे सूरज को भला-बुरा कहते हैं, उन्हें लगता है सूरज नाहक उन्हें परेशान करने चला आता है। क्यों उगता है यह सूरज। कहानी में प्रेमचंद के घीसू-माधव की झलक मिलती है। दोनों भाई जब देखते हैं कि उनकी जेबें साफ़ हो चुकी हैं तो वे उन दो लड़कियों को भी कोसते हैं। कहानी यहीं समाप्त होती है पर क्या असल में समाप्त होती है?

रचनाकार का परिवेश उसकी रचना को प्रभावित करता है। रचना का अध्ययन उस परिवेश से परिचय का एक बहुत अच्छा माध्यम है। प्रवासी हिन्दी साहित्य के अध्ययन से हिन्दी का कैनवास बड़ा होता है। उसमें विभिन्न रंग और रेखाएँ नए-नए दृश्य नज़र आते हैं। उनकी बहुरंगी हिन्दी, हिन्दी साहित्य को एक नया आकाश, उनकी रचनाएँ हिन्दी साहित्य को एक नई धरती प्रदान करती हैं। हिन्दी के क्षितिज का विस्तार होता है। सुदर्शन प्रियदर्शिनी की 'अखबारवाला', इला प्रसाद की 'कॉलेज', सुषम बेदी की 'काला लिबास' और सुधा ओम ढींगरा की 'सूरज क्यों निकलता है' कहानियों में शिल्प का चमत्कार नहीं है। ये कहानियाँ अपनी सीधी-सरल शैली में अपना कथानक प्रस्तुत करती हैं और अमेरिका के अलग-अलग चेहरों को प्रस्तुत करती हैं। इन चेहरों को मिला कर अमेरिका की जो तस्वीर उभरती है वह कतई काबिले-तारीफ़ नहीं है। दूर के ढोल सुहावने लग सकते हैं मगर वास्तविकता कुछ और है। यह तस्वीर भयानक है, इससे सावधान रहने की ज़रूरत है। कहानी जीवन को व्यक्त करती है, प्रवासी कहानी प्रवासी जीवन को व्यक्त करती है। इन कहानियों में अनुभव की विविधता है, ये वैश्विक अनुभव की कहानियाँ हैं। जैसा कि आजकल हिन्दी में चलन है उसके विपरीत यहाँ किसी खास विचारधारा का आग्रह नज़र नहीं आता है, ये किसी आंदोलन का अंग नज़र नहीं आती हैं। ये कहानियाँ प्रवासी जीवन को शब्द दे रहीं हैं। इनमें ताज़गी है। प्रवासी भारतीय के मूल्यों के द्वंद्व और अमेरिका की वर्तमान सामाजिक-आर्थिक-शैक्षिक स्थिति को दर्शाती ये कहानियाँ हिन्दी कथा साहित्य को रचनात्मक ऊर्जा से भरती हैं। प्रवासी कहानीकारों को लिखते जाना है क्योंकि अंतत: काम बोलता है।

❐

हिन्दी साहित्य को समृद्ध बनाती दूर देशों में बसे भारतवंशियों की कहानियाँ

डा.सीमा शर्मा

'कहानीकार का संवेदन संस्कार के रूप में अपने परिवेश को ग्रहण करता है। वह उसी में जीता है। साँस लेता है। प्रवासी लेखक अपने घर-परिवार देश और मिट्टी से अलग होकर एक अन्य देशकाल और परिवेश में चला जाता है। वहाँ उसके नए संस्कार बनते है; नए दृष्टिकोण बनते हैं। माहौल बदल जाने से बहुत सी पेचीदगियाँ आ जाती हैं। उसकी मान्यताएँ बदलने लग जाती हैं, यही द्वंद्व प्रवासी लेखकों की रचनाओं में दिखाई देता है और साहित्य सृजन का कारण बनता है। किसी के लिए भी अपने परिवार, शहर, देश वहाँ की भाषा, संस्कृति, रीति-रिवाज को छोड़ना आसान नहीं होता। पर कई बार विवशता में और कई बार अपनी इच्छा से ऐसा करना ज़रूरी हो जाता है। ऐसा करना कोई बुरी बात भी नहीं है। लेकिन भारतीय कहीं भी जाएँ वे अपनी भारतीय सोच और अवधारणाओं से अलग नहीं हो पाते हैं। उनकी मन: स्थिति उनकी कहानियों में स्पष्ट रूप से दिखाई देती है। इस दृष्टि से उषाराजे सक्सेना के कहानी-संग्रह 'प्रवास में' की सभी दस कहानियाँ महत्त्वपूर्ण हैं। 'प्रवास में' 'यात्रा में' 'शुकराना' 'अभिशप्त' और 'समर्पिता' इस संग्रह की महत्त्वपूर्ण कहानियाँ हैं। इस संग्रह की प्रतिनिधि कहानी 'प्रवास में' एक अलग तरह की कहानी है। इस कहानी में लेखिका ने नायक 'शशांक' के माध्यम से ऐसे भारतीयों की क्षुद्रताओं को उजागर करने का प्रयास किया है जो हर स्थिति को अपने ही चश्मे से देखते हैं और जो स्वयं तो दोहरे मानदण्ड रखते हैं परन्तु दोष हमेशा अन्य को देते हैं। शशांक के शब्दों में ''सच कहूँ तो हमारे अपने लोग दोगली मान्यता रखते हैं। फिर जिस पत्तल में खाते हैं उसी में छेद करते हैं। दशकों यहाँ रहने के बावजूद इस देश को पराया समझते हैं रत्ती भर भी इस समाज के साथ तालमेल बिठाने का यत्न नहीं करते और को असुरक्षित दोयम दर्जे का नागारिक कहते नहीं थकते हैं। क्यों ?..... वैसे पुरुष वर्ग के मन में अंग्रेज़ लड़कियों से हम बिस्तर होने की लालसा रहती है, लेकिन विवाह इंडियन वर्जिन से हो देश में जाकर करेंगे'' यह कहानी इसलिए भी महत्वपूर्ण है, क्योंकि एक ऐसे सच से रूबरू कराती है जिसे हम आसानी से स्वीकार नहीं करते। केवल भारतीय होना सदैव निर्दोष होने की गारंटी नहीं हो सकता। यदि ऐसा होता तो हमारा देश अपराध विहीन होता। किसी अन्य में कमियों ढूँढ़ना, हमेशा दूसरों को दोष देकर उनकी कमियाँ ढूँढ़कर महान नहीं बना जा सकता।

'सूरज क्यों निकलता है' सुधा ओम ढींगरा की एक चर्चित कहानी है। इस कहानी को किसी देश की सीमाओं में नहीं बाँधा जा सकता। इस कहानी के मुख्य पात्र 'जेम्ज' और 'पीटर' विश्व में कहीं भी पाए जा सकते हैं जिन्हें अपने शौक या कहें 'ऐब' पूरे करने के लिए भीख माँगने में भी कोई ग्लानि नहीं है वे इसे अपना अधिकार समझते है-''यार पैसे के साथ-साथ लोगों के दिल भी छोटे हो गए है। इंसानियत तो रही नहीं। चिलचिलाती धूप में भीख माँगते रहे। किसी को दया नहीं आई।'' ये वक्तव्य ऐसे हट्टे-कट्टे दो युवाओं का है जो कुछ भी काम करके आसानी से जीविकोपार्जन कर सकते है। पर वे दो वक्त की रोटी के लिए मरना-खपना नहीं चाहते क्योंकि उन्हें पता है कि बिना काम किए उनकी ज़रूरतें पूरी हो सकती हैं। तभी तो वे कहते हैं-''हमारे शरीर बहुत नाज़ुक है, ये भारी-भरकम काम नहीं कर सकते। हम इन शरीरों को ऐसे ही रखेंगे,जैसे ये रहना चाहते हैं कोई काम नहीं करेंगे।''

''सूरज क्यों निकलता है ..... '' कहानी में पुरुष पात्र ही नहीं स्त्री पात्र भी भोगवादी संस्कृति के शिकार हैं। सरकार द्वारा मिलने वाली आर्थिक सुरक्षा और घर का संस्कार विहीन वातावरण उन्हें किस हद तक ले जाता है-''माँ के स्वभाव रहन-सहन और आदतों का परिणाम यह निकला कि बेटियाँ माँ के नक्शे-कदमों पर चलती हुई, रोज़

सीमा शर्मा
एल-२३५
शास्त्री नगर
मेरठ २५००४ उप्र
मोबइल ९४५७०३४२७१

पुरुष बदलती है और तीन-तीन बच्चों की अविवाहिता माँएँ बनकर सरकारी भत्ता ले रही है।'' इस स्थिति को किसी भी दशा में उचित नहीं ठहराया जा सकता है। इसे पतन की पराकाष्ठा ही कहा जाएगा। सुधा ओम ढींगरा की कहानी 'टोरनेडो', 'सूरज क्यों निकलता है .....' से भिन्न धरातल पर लिखी गई कहानी है। इस कहानी में भारतीय और पाश्चात्य संस्कृति की तुलना की गई है। भारतीय संस्कृति जिसे त्याग कहती है। पाश्चातय भोगवादी संस्कृति के लिए वह 'असामान्य' है तभी तो जैनेफर कहती है-''मिसिज शंकर एबनार्मल है।'' वंदना को यह बात बिल्कुल बुरी नहीं लगती। वह मुस्करा जाती है-''अमरीकी लोग, प्रीति की आन्तरिक समाधि को कहाँ समझ सकते है ? जहाँ शारीरिक इच्छा गौण हो जाती है,दैहिक सुख के आगे वे सोच ही नहीं पाते ?..... व्योम उससे अलग कब था ? वह व्योम ही तो हो चुकी थी। कभी-कभी वंदना सोचती, शायद श्याम भी मीरा में ऐसे ही समाए होंगे। आन्तरिक समन्वय प्रेम की ज्योति प्रज्वलित कर देता है,उसकी लौ पूरा बदन प्रेममय कर देती है, फिर बाहरी सुख की इच्छा नहीं रहती।''

वंदना के संस्कार ऐसे हैं कि वह अपनी बेटी सोनल के साथ-साथ जैनेफर की बेटी क्रिस्टी को भी उसकी माँ की अनुपस्थिती में प्यार दुलार के साथ-साथ भारतीय संस्कार भी देती है। क्रिस्टी अपनी माँ और उसके प्रेमी केलब को बिना सूचना दिए छोड़ कर चल जाती है क्योंकि 'केलब' क्रिस्टी पर अपनी कुदृष्टि रखता था

वंदना के दिए संस्कारों का ही फल था कि क्रिस्टी को पाश्चात्य संस्कृति से अधिक भारतीय संस्कृति आकर्षित करती है इसीलिए घर छोड़ने के बाद किए ईमेल में वह वंदना को 'यशोदा माँ' कहकर संबोधित करती है। 'टोरनेडो' कहानी में लेखिका ने भारतीय संस्कृति की स्थापना की है। सुधा ओम ढींगरा एक सजग भारतीय होने के नाते भारतीय संस्कृति से भली भाँति परिचित हैं। उनका लगाव भी भारतीय संस्कृति से उनकी कहानी स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है।

विदेशों जाकर बसना भारतीय युवावर्ग को जितना आकर्षक लगता असल में उतना होता नहीं। नए देश में जाकर रहने के कई खतरे भी हैं। वहाँ जाकर केवल अर्थलाभ ही नहीं होता असुरक्षा भी मिलती है। कई बार तो स्थिति ऐसी हो जाती है कि ''आधी छोड़ साजी को धावे, आधी मिलै न साजी पावे'' इस स्थिति पर तेजेन्द्र शर्मा की एक बहुत महत्त्वपूर्ण कहानी है 'ढिबरी टाइट'। इस कहानी के नायक गुरमीत को विदेश जाना स्वर्ग लोक में जाने जैसा आकर्षक लगता था। तभी तो वह कुछ भी करके विदेश पहुँचना चाहता था। इस आकर्षण के पीछे कई कारण छिपे रहते हैं। सबसे महत्त्वपूर्ण धन लालसा होता है। ''ट्रैवल एजेंट तो सपनों के सौदागर होते हैं। विदेश के रंगीन सपने बेचते हैं कि सपने ख़रीदने के लिए इंसान घर-बार भी बेचने को तैयार हो जाए।'' ऐसे ही सपने पूरे करने की गुरमीत ने ठान ली थी और आख़िर वह कुवैत चला ही गया पर उसने पाया क्या ? अपनी पत्नी ढेड़ वर्ष की बेटी और नवजात बेटा खोकर स्वयं अवसाद में चला गया। पर वह दोष किसे दे ''दर्द तो उसने स्वयं ही मोल लिया था। अच्छा खासा घर था, खेती बाड़ी थी, इस सब को छोड़कर गया ही क्यों वह?'' अधिक पाने की चाह में जो कुछ था वह भी लुट गया। मनुष्य संतुष्ट क्यों नहीं रह पाता ? क्यों अधिक से अधिक पा लेना चाहता है ? कुछ-कुछ यही स्थिति संयुक्त अरब अमीरात के लेखक अशोक कुमार श्रीवास्तव की कहानी 'मृगतृष्णा' में भी दिखाई देती है। कैसे लोग कुछ पैसे कमाने की चाह लेकर विदेश आते है ?और फ़रेबी लोगों के जाल में फँस जाते है। किस तरह वे शोषण झेलते हैं और बच निकलने का कोई मार्ग भी नहीं सूझता। विदेश जाने के आकर्षण के चलते वे किन दस्तावेज़ों पर हस्ताक्षर कर रहे है यह भी नहीं देखते। इसी कारण वे कितनी अप्रिय स्थितियों में फँस जाते है। जिनसे बच निकालने का मार्ग भी उन्हें नहीं सूझता और वे उन्हीं स्थितियों से समझौता करने की कोशिश करने लगते है जैसे .....''अब बिना मेहनत के तो कुछ नहीं मिलता, मैंने रुपये का गणित समझाकर उसे दिलासा देने की कोशिश की। इसी गणित में तो हम सब फँसे हुए हैं अन्यथा और क्या रखा है यहाँ ..... ?'' (मृगतृष्णा) तेजेन्द्र शर्मा की कहानी ''दीवार थी दीवार नहीं थी'' भी एक महत्त्वपूर्ण कहानी है। इस कहानी में नौकारियों का शोषण, नागरिकता दिलाने के लिए अवैध विवाह, जाली दस्तावेज़ों के सहारे अमेरिका, इंग्लैंड जाना, अवैध संपत्ति निर्माण जैसे कई मुद्दे हैं।

विदेशी नागरिकता पाने के लिए किस प्रकार के झूठ और फ़रेब का सहारा लिया जाता है इससे संबंधित भी कई महत्त्वपूर्ण कहानियाँ है। इस सन्दर्भ में सुधा ओम ढींगरा की कहानी 'वह कोई और थी' बहुत महत्त्वपूर्ण है। अमेरिका की नागरिकता प्राप्त करने के लिए वहाँ के नागरिक से विवाह करना यह एक साधारण बात है। ऐसा कई बार असानी से देखने को मिल जाता है। इस कहानी का एक पक्ष यही है। नागरिकता पाना और अपने साथी की हर बात सहन करना, किन्तु अभिनंदन ने सपना से शादी नागरिकता पाने के लिए नहीं अपने प्रेम के लिए की थी। इस कहानी में 'शोषक' पुरुष नहीं स्त्री है। पुरुष हमेशा 'शोषक' नहीं होता 'शोषित' भी होता है। इस कहानी में सपना और उसके पिता अमेरिकी होने का दम्भ भरते हैं और मर्यादा की सारी सीमाएँ लाँघ जाते हैं। सपना की माँ विभा अच्छा-बुरा समझती है और अभिनंदन की दशा भी, इसीलिए वह अभिनंदन को समझाने का प्रयास करती है-''अभिनंदन जैसे भारत में दो भारत बसते हैं, एक वे जो भारतीयता से सराबोर हैं और दूसरे वे अंग्रेज़ जिन्हें अपने पीछे छोड़ गए हैं। उसी तरह यहाँ भी दो तरह के भारतीय हैं, एक जो भारत को अपने साथ लाए हैं और अपने बच्चों में संस्कृति की शिडोरी बाँट रहें हैं, दूसरे वे जो भारत को पीछे छोड़ आए हैं और अमेरिकन बनने के चक्कर में अपना आपा खो चुके हैं।'' इस कहानी में आई इन पंक्तियों की विस्तृत व्याख्या की जा सकती। ये पंक्तियों कम शब्दों में गूढ़ अर्थ लिए हुए हैं। जहाँ वर्तमान में 'स्त्री-विमर्श' केन्द्र में है वहाँ यह कहानी 'पुरुष-विमर्श' को लेकर लिखी गई है। सुधा ओम ढींगरा की एक अन्य कहानी 'दृश्यभ्रम' में एक पुरुष की पीड़ा केन्द्र में है। 'बलात्कार' एक ऐसा भयावह शब्द है, जिसे सुनते ही स्त्री की पीड़ा और यातना की ओर ध्यान स्वत: चला जाता है। परन्तु 'दृश्यभ्रम' में बलात्कार शब्द एक पुरुष की त्रासदी का कारण बन गया है, जिसके कारण उसका पूरा व्यक्तित्व ही छिन्न-भिन्न हो गया है। यह ऐसा शब्द जो स्त्री को ही नहीं पुरुष को भी उतनी ही पीड़ा पहुँचता है। (सहृदय पुरुष को)'दृश्यभ्रम' कहानी का नायक डॉ.जशन का जीवन बलात्कार के झूठे आरोप के कारण बहुत त्रासदी पूर्ण बन जाता है। इस प्रकार के झूठे आरोपों के मूल में बहुत से कारण होते हैं।

यहाँ भी इसके मूल में जो कारण है। वो है 'जातिवाद'। 'दृश्यभ्रम' कहानी कई समस्याओं, कई प्रश्नों को एक साथ उठाती है।

समन कुमार घई की 'लाश' कहानी भी प्रवासी भारतीयों की जीवन शैली के कुछ पहलुओं पर दृष्टिपात करती है। यदि हम एक गाँव में रहे तो अपने परिजन ही अधिक अपने लगते हैं। गाँव से निकलकर शहर आने पर अपने गाँव से आया व्यक्ति भी अपना करीबी लगता है। यदि अन्य प्रदेश में जा बसो तो अपने प्रदेश से आया व्यक्ति अपना सा लगता है और कहीं यदि विदेश में हैं तो देश की सीमा रेखाएँ भी धुँधली सी पड़ जाती है। सुमन कुमार घई के शब्दों में-''मानो देश की सीमा रेखा कब की मिट चुकी है। अब इन गलियों में बस बिरादरी-भाई चारा है तो भाषा का दैनिक रहन-सहन का एक पुराने गाँव जैसा माहौल है इन गलियों में सभी एक दूसरे को जानते है।''

ये कहानी का प्रारम्भ है, बहुत आशावादी, सुखद। सभी का समन्वय देखने लायक है-''युवा पीढ़ी के काम पर चले जाने के बाद पुरानी पीढ़ी के लोग रह जाते हैं, तीसरी पीढ़ी की देखभाल के लिए-तब एक दूसरे के घर जाने से पहले फोन करने की आवश्यकता भी समाप्त हो जाती है। तीनों पीढ़ियाँ अपने-अपने वृत्तों में जी रही है, सभी खुश हैं अकेला पन नहीं सताता, युवा पीढ़ी को अपने बच्चों की देखभाल की चिन्ता नहीं रहती।''इन पंक्तियों को देखने से लगता है कितनी आदर्श स्थिति है। सभी की एक-दूसरे पर निर्भरता है और निर्भरता में सभी का लाभ है। यह एक ऐसी आदर्श स्थिति है जिसका दर्शन अब भारत में भी कम ही देखने मिलता है। यह तो कहानी की गौण कथा है मुख्य कथा तो कुछ और ही है। जैसा कि कहानी के नाम 'लाश' से इंगित होता है। जिस प्रकार 'अति' (अधिकता) किसी भी चीज़ की अच्छी नहीं होती वैसे ही तथाकथित 'संस्कार' की अधिकता भी नहीं। थोपे हुए संस्कारों के कारण और भारतीय संस्कारों के बहाने अत्यधिक दबाए जाने के कारण नरेन्द्र की पत्नी की परिणति क्रमश: 'पागल' और 'लाश' के रूप में होती है। इस भयावह स्थिति के मूल में भी एक कारण 'नागरिकता' भी थी। उस देश की नागरिकता के लिए नरेन्द्र का उस लड़की से विवाह कर दिया, जिसे वह भाई मानकर राखी बाँधती थी। लड़की अपने दब्बूपन के कारण इन्कार नहीं कर पाती और अपराध बोध से घिरती चली जाती है। अपने बेटे को पाप समझकर स्वीकार नहीं कर पाती। इसीलिए पागल हो जाती है और अतत: 'लाश' बन जाती है।

दिव्या माथुर की कहानी 'निशान' एक संवेदनशील मुद्दे घरेलू हिंसा को लेकर लिखी गई है। देश बदल जाने से स्त्रियों की दशा में कुछ अधिक परिवर्तन नहीं आता। उनके साथ अधिकतर दोयम दर्जे के नागरिक जैसा ही व्यवहार देखने को मिलता है। 'निशान' कहानी पंजाबी पृष्ठभूमि की प्रवासी स्त्रियों से संबंधित है। दिव्या माथुर इन स्त्रियों के सन्दर्भ में लिखती है-'मुझे हैरानी तो इस बात की होती है कि पंजाबी स्त्रियाँ जो ज़माने भर में मशहूर हैं अपनी मेहनत-मशक्कत और बेबाकी के लिए, अपने पतियों और बेटों की मार और धौंस कैसे सह लेती हैं।' ऐसी स्त्रियों का समर्णण 'रानी' के इस वाक्य में देखा जा सकता है-जो पिटकर भी पति को दोष नहीं दे सकती। दिव्या माथुर को भी सहानुभूति है ऐसी भोली-भाली या कहें 'निरीह' स्त्रियों से, तभी तो वे लिखती है-''बलिहारी जाऊँ इन भारतीय नारियों की जो पिटकर भी पति की तरफदारी करती हैं।'' इस कहानी की पात्र 'सत्या' और 'रानी' तो केवल प्रतीक हैं। ऐसी स्त्रियाँ भारत में और भारत से दूर अन्य देशों में बसी यहाँ की स्त्रियाँ आसानी से देखी जा सकती हैं। प्रवासी भारतीयों से विवाह के मोह में न जाने कितनी हो लड़कियाँ ऐसी हैं जिनकी दशा 'रानी' से भी खराब होगी। दिव्या माथुर की दृष्टि में भारतीय स्त्रियों का बहुत सम्मान है तभी तो वे प्रीति अरोड़ा को दिए साक्षात्कार में कहती हैं-''एक भारतीय नारी का मुकाबला संसार की सारी महिलाएँ भी नहीं कर सकती''

'प्रवासी' या कहें 'भारतवंशी', साहित्यकारों की कहानियाँ पढ़कर लगता है कि विदेश जाने के खतरे हर वर्ग के लिए अलग-अलग हैं। रोज़गार की तलाश में जाने वाले लोगों के लिए अलग, आश्रिता पत्नी और बच्ची के लिए अलग हैं, वृद्ध माता-पिता के लिए अलग हैं। कई बार वृद्ध माता पिता की स्थिति सबसे अधिक दयनीय हो जाती है। सुधा ओम ढींगरा के कहानी संग्रह 'कमरा नं. 103' की प्रतिनिधि कहानी इसी समस्या पर केन्द्रित है। ये एक एसी स्त्री की कहानी है जो अपने बेटे द्वारा छली जाती है। उसकी सारी सम्पत्ति हड़प ली जाती है और मुफ्त के नौकर के तौर पर उन्हें विदेश लाया जाता है-''कुछ ही दिनों में सच्चाई सामने आ गई थी। बहू का गर्भ गिर गया और मैं उन पर बोझ बन गई मैं बच्चों की देख-रेख के लिए लाई गई थी, मेरा अब वहाँ क्या काम था पर मैं कहाँ जाती ? घर बेच आई थी। स्वभिमान मारकर बैठी रही।'' मिसेज कमलेश वर्मा की पंक्तियाँ सामान्य पाठक को झिंझोड़कर रख देती हैं। उसके सामने कटु यथार्थ को लाकर खड़ा कर देती है। यह कमलेश वर्मा की वेदना या कहें उन जैसे कई लोगों की सच्चाई है। इस कहानी की दो बोलती हुई पात्र नर्सें 'टेरी' और 'ऐमी' के संवादों से यह स्थिति और भी स्पष्ट हो जाती है-''ऐमी तुमने बताया नहीं, तुम्हें कुछ साउथ एशियंस के स्वार्थ और कमीनगी का कैसे आभास हुआ ?''

टैरी-''तुम्हें शायद मैने कभी बताया नहीं, कुछ वर्षों मैंने सिटी अस्पताल में काम किया था। वहीं जान पाई थी कई भारतीय और पाकिस्तानी अपने माँ-बाप को यहाँ बुला लेते हैं, पर हेल्थ इंश्योरेंस नहीं लेते। सब अच्छा कमाते हैं, पर दाँतों से पैसा बचाते हैं। माँ-बाप में से अगर कोई बीमार पड़ जाता है, तो उन्हें सिटी अस्पताल में बाहर से ही छोड़ जाते हैं, दवा दारू का बिल उनके नाम न पड़ जाए इसके डर से वे उन्हें अस्पताल के अंदर नहीं छोड़ने आते।'' (कमरा नं.103)

'कमरा नं.103' कहानी भाषा और शिल्प भी बहुत महत्त्वपूर्ण है। इस कहानी की मुख्य पात्र कमलेश वर्मा कोमा में है। उनके मस्तिष्क और शरीर के अंगों के बीच को तारतम्य नहीं है। वे बोल नहीं सकती पर सुन और समझ सब कुछ सकती हैं। कहानी टैरी और एमी नाम की नर्सों के संवादों से आगे बढ़ती है, पर लेखिका ने कमलेश वर्मा के मन के भावों को खामोशी के संवादों से बहुत सुन्दरता के व्यक्त किया है।

सुधा ओम ढींगरा की विशेषता है कि वे हर कहानी में एक नया विषय चुनती हैं और कहानी को इस प्रकार बुनती हैं, कि हर कहानी अपने आप में अनोखी बन जाती है। अभी तक जिन कहानियों की बात की गई उनमें कोई न कोई महत्त्वपूर्ण प्रश्न था, पर कुछ कहानी ऐसी हैं जिनकी कथावस्तु बहुत सामान्य लग सकती है यथा 'और बाड़ बन गई' यह एक नए पड़ोसी के आगमन पर

पड़ोसियों की जिज्ञासा की कथा है, पर जिस मनोवैज्ञानिक ढंग से कहानी कही गई है, वह तकनीक इस कहानी को विशिष्ट बना देती है। पाठक अपने मन के भावों को समझने के लिए विवश हो जाता है, जिन पर उसने कभी ध्यान नहीं दिया था।

तेजेन्द्र शर्मा की कहानी 'पासपोर्ट का रंग' एक ऐसे वृद्ध भारतीय 'गोपालदास' की कहानी है जिसके लिए भारत की नागरिकता समाप्त कर ब्रिटिश की नागरिकता प्राप्त करना किसी अभिशाप से कम नहीं है। गोपालदास का देशप्रेम है, जिसके लिए वे कुछ भी करके पुन: भारत की नागरिकता पा लेना चाहते हैं। तेजेन्द्र शर्मा की कहानियों में अपने देश से प्रेम स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। यह भाव उनकी कहानी 'कब्र का मुनाफ़ा' में भी देखा जा सकता है। इसमें कुछ ऐसे पात्र जो भारत विभाजन के बाद पाकिस्तान चले गए, परन्तु अभी भी उन्हें भारत से प्रेम है। नजम के शब्दों में-''भाई जान अब इंडिया की पढ़ाई इतनी भी खराब नहीं है। पढ़े तो मैं और आबिदा भी हैं। भाई सच कहूँ तो मुझे अपना घर अब भी मेरठ में ही लगता है। चालीस साल हो गए हिन्दुस्तान छोड़े, लेकिन लाहौर अभी भी अपना नहीं लगता, यह जो मुजाहिर का ठप्पा चेहरे पर ऐसे लगा है उससे लगता है कि हम पाकिस्तान में ठीक वैसे ही हैं जैसे भारत में अछूत।'' इस वक्तव्य की अंतिम पंक्ति बहुत कम शब्दों में जातिवाद, छुआछूत जैसी गंभीर समस्या उजागर करती है। हम कितना भी आधुनिक बनने का प्रयास करें लेकिन यह समस्या अब भी बनी हुई।

भारत की विविधता में एकता को दिखाने के लिए नादिरा के द्वारा कहे गये ये शब्द भी महत्त्वपूर्ण हैं-''भारत का राष्ट्रपति मुसलमान, प्रधानमंत्री सिख और कांग्रेस की मुखिया ईसाई। क्या दुनिया के किसी भी और देश में हो सकता है!''(कब्र का मुनाफ़ा) यह एक कहानी कई महत्त्वपूर्ण बिन्दुओं पर एक साथ प्रकाश डालती है-देश भक्ति, छुआछूत स्त्रियों की दशा और कब्र से भी व्यवसाय लाभ करने की मानसिकता। स्त्रियों के अस्तिस्व के साथ यह प्रश्न हमेशा जुड़ा रहता है। कि उनका 'घर' कौन सा है ? उनका मायका या ससुराल। विवाह के बाद पूरा जीवन अपनी ससुराल में लगा देने पर भी यह प्रश्न बना ही रहता है। यदि स्त्री आर्थिक रूप से परतंत्र है तब ये प्रश्न और भी महत्त्वपूर्ण हो जाता है। 'कब्र का मुनाफ़ा' कहानी में भी यह प्रश्न उठाया गया है। नादिरा और आबिदा दोनों यही महसूस करती हैं कि ''उनके पति बस पैसा देते हैं घर चलाने के लिए, लेकिन उसका भी हिसाब-किताब ऐसे रखा जाता है जैसे कम्पनी के क्लर्क से पूछा जाता है। दोनों को कभी यह महसूस नहीं हुआ कि वे घर की मालकिनें है। उन्हें समय-समय पर यह याद दिला दिया जाता था कि घर के मालिक के बिना वे एक कदम भी नहीं चल सकती।'' ऐसी पराधीनता में क्या एक स्त्री को सुख की अनुभूति हो सकती है ? इस कहानी में जो पुरुष (खलील) है, उसे यदि अपनी पत्नी स्वतन्त्र और आत्मनिर्भर दिखाई दे,ये वह कभी बर्दाश्त नहीं कर सकता। वह उसके अहम् को तोड़ना चाहता है। नादिरा इस तथ्य की अच्छी तरह समझती है। वह जानती है। जमींदार खून नहीं बर्दाश्त कर सकता, उसकी रियाया उसके सामने सिर उठाकार बात कर सके।''

यह कहानी जीते जी कब्र की तैयारी से शुरू होती है, मरने के बाद भी नजम और खलील का सपना है कि उन्हें उन जैसे धनाड्य लोगों के साथ दफ़नाया जाए। जीते जी वे जिस अभिजात्य वर्ग में रहे मरने के बाद भी उसी वर्ग में रहना चाहते हैं। कहानी का अंत प्रीमियम के रुपयों से अधिक रुपये प्राप्त करने से होता है। क्योंकि यह कहानी दो कुशल व्यवसाइयों की कहानी है जो कब्र से भी मुनाफ़ा कमा लेते हैं।

कृष्ण बिहारी की कहानी 'जड़ों से कटने पर' में दिखाया गया है कि जब तक सब ठीक चल रहा है विदेश में रहकर तब तक उसे अहसास भी नहीं होता कि, वह एक पल में किसी झूठे आरोप में फँसने पर कितना असुरक्षित हो सकता ? कितना अकेला भी ? इस कहानी के नायक के शब्दों में ''पहली बार अहसास हुआ कि देश के अन्दर आदमी की अपनी और जड़ों की ताकत होती है। वह दूसरे देश में कोई औकात नहीं रखती।'' यही दर्द तेजेन्द्र शर्मा की कहानी 'ढिबरी टाइट' में भी है।

अनिल प्रभा कुमार की कहानी 'रीती हुई' की 'मानसी' और पूर्णिमा वर्मन की कहानी यों ही चलते हुए की जया दोनों के जीवन में सूनापन और अकेलापन है, पर दोनों की जीवन शैली अलग-अलग है। 'यों ही चलते हुए' कहानी की जया जहाँ अपने बनाए 'चौखाने' में रहती तो 'रीती हुई' कहानी की मानसी उस चौखाने को तोड़ देती है। मानसी के लिए उस चौखाने को तोड़ना जहाँ कुछ सुख लेकर आता है वहीं जटिलताएँ उससे अधिक लगता है। वैसे भी बने बनाए चौखटे और चारदीवारी में रहना अधिक आसान होता है। कठिनाई तो लीक से अलग हटकर कुछ करने में होती है। 'मानसी' और 'जया' के जीवन में जो अकेलापन है, वह केवल विदेश में रहने वाले लोगों के जीवन में ही नहीं है, यह तो किसी भी देश में किसी भी बड़े शहर में आसानी से देखा जा सकता है। ऐसे अनेक उदाहरण हर आयु, हर वर्ग, हर शहर में देखने को मिल जाते है।

सौमित्र सक्सेना की कहानी 'लड़ैती' में भी परिस्थितियाँ अलग हैं, पात्रों की आयु अलग है, पात्रों की प्रतिक्रियाएँ भी अलग हैं पर अकेलापन तो वहाँ भी व्याप्त है। अमरेन्द्र कुमार की कहानी 'चिड़िया' को भी इस दृष्टि से देखा जा सकता है। इस कहानी में एक 'चिड़िया' कथा नायक के अकेलेपन को दूर करने का साधन बन जाती है और चिड़िया के न रहने पर वह फिर से अकेलेपन मे घिर जाता है। अमरेन्द्र की कहानी 'चिड़िया' महादेवी वर्मा के संस्मरणों की याद दिलाती है, जो उन्होंने अलग-अलग जानवरों को लेकर लिखे थे।

प्रवासी भारतीय लेखकों में विषय वैविध्य है। अनुभवों की नवीनता है। प्रामाणिकता है। इनके लेखन में केवल भारतीय सरोकार ही नहीं हैं ये हमें उस समाज की समस्याओं से भी परिचित कराते हैं जहाँ वे रह रहे हैं। मनुष्य सब कुछ करके नहीं सीख सकता क्योंकि उसका जीवन बहुत छोटा है इसीलिए वह दूसरों के अनुभव से भी सीखता है। साहित्य इसके लिए एक सशक्त माध्यम है क्योंकि यह सरस भी है और ज्ञानप्रद भी। इनके लेखन से हिन्दी साहित्य बहुत समृद्ध हुआ है। प्रवासी लेखक अपना लेखन किसी एक विधा में नहीं वरन् साहित्य की लगभग सभी विधाओं में वे अपना योगदान दे रहे है-कहानी उपन्यास,नाटक एकांकी, यात्रा वृत्तांत, आत्मकथा अनूदित साहित्य, कविताएँ, खंडकाव्य, महाकाव्य आदि सभी विधाओं में उन्होंने अपनी प्रतिभा को सिद्ध किया है। हिन्दी साहित्य के साथ-साथ हिन्दी भाषा के विकास में भी उनका बहुत बड़ा योगदान है।

❐

प्रवासी हिंदी कथा साहित्य

साधना अग्रवाल

आज हिंदी प्रवासी साहित्य को लेकर अनेक भ्रम और भ्रांतियाँ हैं। कुछ लोग ऐसे हैं जो इन्हें मुख्य धारा से अलग मानते हैं, जबकि दूसरे कुछ लोग हैं जो यह मानते हैं कि जो हमसे बिछुड़ गए हैं, उनमें यदि हमारे साहित्य और संस्कृति के प्रति लगाव है या इसके प्रति नॉस्टेलजिया है तो उनके द्वारा अभिव्यक्त साहित्य पर विचार किया जाना चाहिए। यह विडंबना की बात है कि जो भारतीय प्रवासी अंग्रेज़ी में लिख रहे हैं, उन्हें भारत क्या, संपूर्ण विश्व में स्वीकृति मिल रही है। उदाहरण के लिए-वी. एस. नायपॉल, सलमान रुश्दी, विक्रम सेठ, झुंपा लाहिरी, उपमन्यु चटर्जी आदि। लेकिन वहीं मारिशस, फिजी, सूरीनाम, दक्षिण अफ्रीका में प्रवासी लेखकों द्वारा लिखे गए हिंदी साहित्य को उस तरह स्वीकृति नहीं मिली। यह कठोर सच ही नहीं, दुखद बात भी है।

आज प्रवासी साहित्य दो तरह से लिखा जा रहा है। १००-१५० वर्ष पूर्व जो कुली गिरमिटिया मजदूर अंग्रेज़ों द्वारा मारीशस, फिजी, सूरीनाम या दक्षिण अफ्रीका आदि देशों में ले जाए गए, आज उनकी तीसरी-चौथी पीढ़ी है, जिसे सिर्फ इतना भर याद है कि उनके पूर्वज भारत से आकर इन देशों में बसे थे। अवशेष के रूप में कुछ पूजा-पाठ, भजन-कीर्तन, साँझ-बाती, हनुमान चालीसा और रामायण बच गए है, कहीं-कहीं बोलियाँ भी। यदि इन देशों में लिखे जा रहे प्रवासी साहित्य पर हम विचार करें तो उनके लेखन में उतना नॉस्टेलजिया नहीं है। लेकिन संस्कार की जड़ें गहरी होती हैं और कई पीढ़ियों तक चलती हैं। इसलिए यह अस्वाभाविक नहीं है कि उनकी जीवन दृष्टि कहीं न कहीं भारतीय संस्कृति से प्रभावित न हो। दूसरी तरफ अमेरिका, ब्रिटेन, अबूधावी, कनाडा, नार्वे, डेनमार्क, नीदरलैंड आदि देशों के हिंदी लेखक पहली पीढ़ी के हैं और इसी कारण उनकी रचनाओं में एक साथ पीछे छूटे अपने देश की स्मृतियाँ ताज़ी हैं और वे जिस देश में रह रहे हैं, उसकी संस्कृति से टकराहट तो है ही, गहरा अंतर्द्वंद्व भी है। यह अकारण नहीं है कि उनका जीवन-संघर्ष तनावपूर्ण है। इसलिए उनकी रचनाओं में अपनी अस्मिता का बोध ज़्यादा है, साथ ही साथ देश के प्रति नॉस्टेलजिया भी है। लेकिन यहाँ गौर करने की बात यह है कि वे अपनी स्वेच्छा से अपनी आजीविका के लिए विदेश गए हैं। इसलिए वहाँ की कठिन परिस्थितियों के बीच तनाव से भरी संघर्षपूर्ण जिंदगी में गहरी नींद में ऊँघता हुआ अपना देश याद आता है तो हैरानी की बात नहीं है।

जहाँ तक प्रवासी हिंदी लेखन की स्वीकृति की बात है हमें याद रखना चाहिए गाँधी जी का वह वाक्य, उन्होंने कहा था, 'मैं चाहता हूँ मेरे मकान की सभी खिड़कियाँ खुली रहें और बाहर की हवा मेरे घर में स्वच्छंदता के साथ आए।' मेरे कहने का मतलब यह है कि दुनिया की कोई भी भाषा जीवन-यथार्थ के विविध अनुभवों से समृद्ध होती है क्योंकि

साधना अग्रवाल
B19-F, दिल्ली पुलिस अपार्टमेंट्स मयूर विहार
फेज-१ दिल्ली-११००९१
मोबाइल-९८९१३४९०५८

भारत की परिस्थितियों और विदेशी परिस्थितियों में मूलभूत अंतर है बल्कि दृष्टिकोण में भी अंतर है क्योंकि वे ज़्यादा उन्नत, शिक्षित और विकसित देश हैं इसलिए उनका अनुभव हमारे अनुभव से अलग है बल्कि पश्चिमी संस्कारों में उन्होंने अपने को ढालने की कोशिश की है। लेकिन कोई भी देशकाल क्यों न हो, मानवीय संवेदना का धरातल एक ही होता है क्योंकि खुशी और गम की ज़मीन एक होती है।

आज प्रवासी हिंदी लेखन खूब जोर-शोर से हो रहा है। प्रवासी लेखकों की किताबें भी छपती हैं और दर्जनों पत्र-पत्रिकाएँ भी विदेशों से निकल रही हैं। इधर धीरे-धीरे प्रवासी साहित्य के लिए हिंदी का दरवाज़ा ही नहीं खुला है, उनकी रचनाओं पर हमने विचार करना भी शुरू किया है और विश्व हिंदी सम्मेलन पर उनको सम्मानित भी किया जा रहा है। भले अंग्रेज़ी प्रवासी लेखकों की तरह हम उन्हें वह गरिमा प्रदान नहीं कर सके लेकिन वे अब हमारी आँखों से ओझल नहीं हो सकते।

इधर पिछले कई वर्षों से मैं म. गा. अं. हिं. वि. वि. की द्विमासिक समीक्षा पत्रिका 'पुस्तक वार्ता' में नियमित एक स्तंभ 'सात समंदर पार' शीर्षक से लिख रही थी, जिसमें लगभग एक दर्जन प्रवासी हिंदी कहानीकारों की चुनी हुई एक-एक कहानी का मैंने अंतर्पाठ किया था। यह मेरा अनुभव है कि उनमें कई ऐसी कहानियाँ हैं जो विदेशी ज़मीन पर, विदेशी संस्कृति को ध्यान में रखकर लिखी गई हैं। इस श्रृंखला में प्रकाशित इस लेख के लिए मैंने ६ कहानियों को चुना है, जिनमें मुख्यत: ब्रिटेन, अमेरिका, कनाडा और अबूधावी के कहानीकार हैं।

तेजेंद्र शर्मा शहरी ठाठ के कहानीकार हैं। 'कब्र का मुनाफ़ा' कहानी हमारे समय के बढ़ते बाज़ारवाद के दुष्प्रभाव को बड़ी खूबसूरती से सामने ही नहीं लाती बल्कि हमारी संवेदनशीलता को भी झकझोरती है। खलील जैदी और नजम जमाल मूलत: पाकिस्तान और हिंदुस्तान के रहने वाले हैं लेकिन लंदन में बस गए हैं। दोनों के बीच घनिष्ठ मैत्री है लेकिन विचारधारा ही नहीं, आचार-व्यवहार में भी फर्क है। खलील सिगरेट पीता है शराब नहीं और नजम शराब पीता है सिगरेट नहीं, लेकिन दोनों एक दूसरे को बर्दाश्त करते हैं। लंदन के फाइनेन्शियल सेक्टर में खलील की खासी इज़्ज़त है। दोनों काफी धनाड्य हैं लेकिन नौकरी से रिटायरमेंट के बाद दोनों ही कुछ नया काम करने की योजना बनाते हैं। इस बीच लंदन के पॉश इलाके कार्पेण्डर्स पार्क में कब्र की बुकिंग के विज्ञापन पर नजम की नज़र जाती है और वह खलील से कहता है, 'वो खाली दस पाउंड महीने की प्रीमियम पर आपको शान से दफ़नाने की पूरी ज़िम्मेदारी अपने पर ले रहे हैं। लाश को नहलाना, नए कपड़े पहनाना, कफन का इंतज़ाम, रॉल्स रॉयस में लाश की सवारी और कब्र पर संगमरमर का प्लाक-ये सब इस बीमे में शामिल है।' खलील को नजम का आइडिया पसंद आता है लेकिन धार्मिक कट्टरता के मारे वह पूछता है, 'ये साला कब्रिस्तान शिया लोगों के लिए एक्सक्लूसिव नहीं हो सकता क्या ? वर्ना मरने के बाद पता नहीं चलेगा कि पड़ोस में शिया है सुन्नी या फिर वो गुजराती टोपी वाला। यार सोचकर ही झुरझुरी महसूस होती है। मेरा तो बस चले तो एक कब्रिस्तान बनाकर उस पर बोर्ड लगा दूँ शिया मुसलमानों के लिए रिजर्व्ड।'

बाज़ारवाद हमारी ज़िंदगी में चुपचाप किस तेज़ी से प्रवेश कर रहा है, इसकी मिसाल है यह कहानी। यहाँ यह सवाल भी उठता है कि क्या बाज़ारवाद की इस आँधी में हमारी मनुष्यता, संवेदना कहीं खो गई है कि हम कब्र में भी अर्थात मरने के बाद भी मुनाफ़े की ही बात सोचें।

इस कहानी की थीम नई इस अर्थ में है कि यह पश्चिम का बाज़ारवाद है जहाँ विज्ञापन के सहारे मौत को भी आकर्षक और मोहक बनाया जा सकता है। क्योंकि वहाँ अपेक्षाकृत भौतिक सुविधाएँ ज़्यादा हैं इसलिए भी आपस में प्रतिस्पर्धा है। इस कहानी में मौत और कब्र दोनों नए विस्तार पाते हैं। लंदन बसने से पहले जहाँ तेजेंद्र की कहानियों में मौत एक दूसरे रूप में आती है वहीं लंदन प्रवास के बाद वे मौत को भी एक खिलंदड़े अंदाज़ में सामने लाते हैं यानी उनकी कहानियों में अब रचनात्मक प्रौढ़ता साफ दिखाई देती है।

लाश के मेकअप का सामान और उसका दुल्हन की तरह श्रृंगार करने का दावा कहानी को नए आयाम प्रदान करते हैं। कंपनी का दावा कि वे आग से झुलसे चेहरे या फिर दुर्घटना से विकृत चेहरे को भी खूबसूरत बना सकते हैं, आने वाले भविष्य की भयावह सोच को सामने लाता है। तेजेंद्र इस सब को इतने सहज ढंग से कह जाते हैं कि इसका असर कहानी पढ़ने के बाद देर तक गहरा भीतर तक बना रहता है।

दरअसल इस कहानी में मानवीय मूल्यों की टकराहट है जिसकी अनुगूंज सुदूर अतीत का स्पर्श करती हुई वर्तमान के बीच से भविष्य को भी सुनिश्चित करना चाहती है। नादिरा और खलील की सोच में ज़मीन आसमान का अंतर है। नादिरा ज़्यादा व्यावहारिक है जबकि खलील स्वप्नजीवी, इस तरह यह कहानी यथार्थ और फैंटेसी के मिश्रण से बनी है। यदि आप हिंदी के लगभग विस्मृत कहानीकार इसराइल की कहानी 'मुर्दों का रखवाला' 'फर्क' संग्रह में संकलित को याद करें और तेजेंद्र शर्मा की कहानी 'कब्र का मुनाफा' को आमने-सामने रखकर देखें तो यह स्पष्ट होगा कि पहली कहानी में मानवीयता है जबकि दूसरी कहानी में अमानवीयता। यानी इन दोनों कहानियों में दो सांस्कृतिक मूल्यों की टकराहट है। पश्चिमी संस्कृति बाज़ारवाद की गिरफ़्त में है जबकि भारतीय संस्कृति में बाज़ारवाद की पैठ अभी उतनी गहरी नहीं हुई है। कहना न होगा कि तेजेंद्र की यह कहानी इसलिए भी उल्लेखनीय है कि यह ज़िंदगी के मुहाने पर मनमोहक मौत को हमारे सामने प्रस्तुत करती है।

कृष्ण बिहारी 'दो औरतें' कहानी से न केवल चर्चित हुए बल्कि समकालीन कहानी में स्थापित भी हुए। दशकों से अबूधावी में रहते-अध्यापन करते हुए उन्होंने देशी-विदेशी परिवेश की अनेक कहानियाँ लिखी हैं और उनके कई कहानी संग्रह भी आए हैं। उनकी अधिकांश कहानियों के केन्द्र में स्त्री होती है और उसके इर्द-गिर्द दबी-छिपी स्त्री देह की इच्छाएँ वैसे वे उपभोक्तावादी बाज़ार-संस्कृति को कभी ओझल नहीं करते। कृष्ण बिहारी की 'नातूर' कहानी 'हंस' के मार्च २००३ अंक में छपी थी। यह एक अच्छी कहानी है जिसके केन्द्र में नातूर यानी बिल्डिंग का चौकीदार पाकिस्तानी बादशाह खान है जो नमाजी है और नैतिकता तथा कायदे-कानून को मानने वाला है।

अकेलेपन का तनाव झेलने वालों के लिए इस शहर में दुनिया के हर देश की औरतें खुलेआम बिकने के लिए हर समय और हर कहीं मौजूद थीं। खान को गरीब मुल्कों से झाँसा देकर लाई और धंधे में लगाई गई औरतों की मजबूरी पर जहाँ तरस आता था वहीं बिना बीवियों के सालों-साल अलग

रहने वालों की जिस्मानी ज़रूरत भी समझ में आती थी। मगर मजबूर औरतों के अलावा धनी घरों की लड़कियाँ और औरतें भी बदचलन हो गईं, जिनको खान बर्दाश्त नहीं करता, इसलिए उसने तय कर रखा था कि शहर में जो भी होता हो लेकिन अपनी बिल्डिंग में वह यह सब कभी न होने देगा।

ऊपर से देखने पर यह कहानी यदि एक ओर नष्ट हो रहे एक मुल्क की अराजक कानून व्यवस्था की ओर संकेत करती है तो दूसरी ओर लगातार गिरती अर्थव्यवस्था की। हैरानी की बात यह है देश की अपनी करेंसी का कोई मूल्य नहीं, पाकिस्तानी रुपए का बोलवाला है। कानून के अनुसार प्रवासी व्यक्ति या पर्यटक की यदि तीस हज़ार पाकिस्तानी रु. प्रतिमाह से कम आय है तो उसे फ़ैमिली वीजा सरकार नहीं देती। देश में वेश्यावृत्ति की छूट है। रेस्त्राँ में रामकृपाल से डॉयना की मुलाकात और अपने फ़्लैट पर उसके बुलाए जाने पर नातूर द्वारा किया गया हंगामा इसके उदाहरण हैं।

इस कहानी के मुख्य पात्र तो बादशाह खान और रामकृपाल हैं लेकिन असली कहानी खुलती है डॉयना से। खान का भाई शादाब पृष्ठभूमि में है। पाकिस्तानी मूल का खान नेकदिल, खुदा की इबादत करने वाला सच्चा मुसलमान है जो अपनी बिल्डिंग को रंडीखाना नहीं बनने देना चाहता। दरअसल वह बेहद दिलचस्प कैरेक्टर है, जो एक तरफ स्वप्नदर्शी है तो दूसरी तरफ नैतिकता का चौकीदार। चूँकि उसका नाम बादशाह खान है, वह अपने को बिल्डिंग का बादशाह ही समझता है क्योंकि उसके पर्चा देने से ही किराएदार को फ़्लैट आवंटित होता है। खान में थोड़ी-सी राजनीतिक चेतना है और वह सेक्यूलर भी है क्योंकि वह मुसलमान होते हुए भी पाकिस्तानियों, फिलिस्तीनियों और मिसिरियों को फ़्लैट नहीं देता क्योंकि वे गंदे होते हैं। इसके विपरीत वह हिंदुस्तानियों और यूरोपियनों को फ़्लैट देता है क्योंकि वे सफाई पसंद होते हैं। रामकृपाल जब बिल्डिंग में सिंगल फ़्लैट लेने के लिए पूछताछ करता है तो खान यह जानकर कि यह हिंदुस्तानी है, उससे पूछता है-'तुम क्या उदर का हिंदू अय उदर जिदर बाबर का मस्जिद तोड़ा' रामकृपाल का प्रत्युत्तर-'खान मैं हिंदू हूँ और अयोध्या के बहुत पास फैजाबाद का रहने वाला हूँ मगर मैंने मस्जिद नहीं तोड़ी कोई हिंदू मस्जिद नहीं तोड़ता, मैंने तो वह जगह भी नहीं देखी, क्या तुमने अफगानिस्तान में बुद्ध की मूर्तियाँ तोड़ी, तुम थे उन लोगों में ?'' उसके सवाल से स्तब्ध खान उसको फ़्लैट देने को तैयार हो जाता है। दरअसल खान भोला भाला निश्छल इंसान पहले है, बाद में मुसलमान। वह चाहता है खूब पैसा कमाकर अपने वतन अपनी बीवी और बच्चों के पास लौट जाए। वह कोशिश भी करता है। लेकिन उसका सपना क्रूर यथार्थ से टकराकर चकनाचूर हो जाता है। अपने नाम को लेकर उसको भ्रम हुआ और इसी भ्रम के कारण बादशाह से वह नौकर बना। लेकिन यह एक अविस्मरणीय पात्र है, यह तो मानना ही पड़ेगा।

फ़्लैशबैक से शुरू इस कहानी का नैरेटर, जो खुद कहानीकार है, का संकल्प है-'कहानी बादशाह खान की है। उसके सपनों की है। उसके पैसा कमाने और अपने वतन लौट जाने की है। यह रामकृपाल की कहानी नहीं है। रामकृपाल जैसे लोगों से दुनिया भरी पड़ी है जो अपने तर्कों से दुनिया के हर मसले को अपने लाभ के लिए अपने पक्ष में कर लेते हैं। इसलिए कहानी कभी उन लोगों की होती भी नहीं। और, इसलिए मैं इस कहानी को रामकृपाल की कहानी नहीं बनने दूँगा। कहानी तो बादशाह खान जैसे किसी एक की होती है जो अपने जैसे हज़ारों में से कोई एक बिल्कुल अलग होता है और शायद तभी वह बादशाह होता है अपनी मर्ज़ी का मालिक। लेकिन विडम्बना यह है कि बादशाह के केन्द्र में होते हुए भी अंततः यह रामकृपाल और डॉयना की कहानी बन गई है क्योंकि बादशाह खान के स्वप्न, स्वाभिमान और ज़िद को डॉयना ने चुनौती ही नहीं दी, बल्कि वहाँ की पुलिस और खुद बिल्डिंग के मालिक रवाब ने बादशाह खान का भ्रम तोड़ते उसे पागल घोषित कर दिया। वस्तुतः यह कहानी यदि एक ओर यथार्थ की विद्रूपता की है तो दूसरी ओर कानून व्यवस्था की विडम्बना की। कहानी किंचित लंबी है, लेकिन उबाऊ नहीं। बल्कि बेहद दिलचस्प और पठनीय। इस कहानी में यथार्थ की मुठभेड़ यथार्थ से होती है और इस टकराहट से कहानी के भीतर से जो कहानी निकलती है, कारुणिक और मार्मिक होते हुए भी अपने समय का यथार्थ ही है, जिसे खूबसूरत भाषा-शैली में कृष्णबिहारी ने परिणति तक पहुँचाया है। कहानी के अंत में पागल घोषित बादशाह खान ही बिल्डिंग से बाहर नहीं निकलता है, उस घटना की दर्शक भीड़, जिसमें पाठक भी शामिल है, बादशाह खान के साथ सड़कों पर निकलती है। इसलिए यह एक यादगार कहानी है। सच को सच साबित न कर पाने की जद्दोजहद के बीच। अपने समय की 'एक नीच ट्रेजेडी'-मुक्तिबोध के शब्दों में

'नया ज्ञानोदय' में पूर्व प्रकाशित दिव्या माथुर की कहानी 'पंगा' को 'बेस्ट ऑव नया ज्ञानोदय' के उपहार अंक जनवरी २०१२ में पुनर्प्रकाशित किया गया है। एक बहुत छोटे से कथ्य पर टिकी यह कहानी लंदन के ट्रैफिक जाम में फँसी रहती है, सरकती बहुत कम है। लंदन में बसा भारतीय मूल का एक छोटा परिवार है जिसमें एक औरत पन्ना है तथा उसका बेटा आदित्य एवं बहू आशिमा है। इस कहानी के केन्द्र में पतझर, ट्रैफिक जाम और अस्पताल है। यद्यपि कहानी में कारों की नंबर प्लेट खूब चमकती हैं लेकिन बुरी तरह से टैफिक जाम में फँसी कारें धीरे-धीरे सरकती हैं। कहानी के बीच में फ़्लैश बैक की तरह घर-परिवार की स्मृतियाँ जब-तब उभरती हैं। इस कहानी में जो नयापन है, वह है कहानी का शिल्प और कथ्य। कार के नंबर प्लेट से शब्द की रचना और उस शब्द से उसके ड्राइवर या मालिक के रूप-रंग, चरित्र और उसकी मानसिकता का वर्णन करना।

कहानी का आरंभ भी कार से होता है-'एक नई नवेली दुल्हन-सी एक बी एम डब्ल्यू पन्ना के पीछे लहराती हुई सी चली आ रही थी, जैसे दुनिया से बेखबर एक शराबी अपनी ही धुन में चला जा रहा हो या कि जीवन से उबकर किसी चालक ने स्टीरिंग व्हील को उसकी मर्ज़ी पर छोड़ दिया हो। उसकी कार का नंबर था 'आर ४ जी एच यू', जो पढ़ने में 'रघु' जैसा दिखता था। 'स्टुपिड इडियट' कहते हुए पन्ना चौकन्नी हो गई। 'रघु' साहब कहीं उसका राम नाम ही न सत्य कर दें दुर्घटना की संभावना को कम करने के लिए पन्ना ने अपनी कार की गति धीमी कर ली और अपने बीच के फासले को बढ़ा लिया।' आपने देखा कि 'आर ४ जी एच यू' से 'रघु' कैसे बना। अस्पताल जाती हुई ट्रैफिक जाम में फंसी पन्ना का ध्यान अगली कार की नंबर प्लेट पर जाता है और खिलंदड़े अंदाज में पन्ना उस नंबर प्लेट से छेड़छाड़ करती हुई पहली नज़र में अक्षरों और अंकों की परछाई से शब्द बनने का जो आभास होता है, से शब्द बनाती है। पन्ना चली तो है अस्पताल जाने के लिए मगर ट्रैफिक जाम में बुरी तरह फँसी हुई है। उसे डर है

कि ठीक समय पर वह अस्पताल नहीं पहुँच सकेगी। 'किन्तु अस्पताल समय पर नहीं पहुँची तो पन्ना को दूसरा एपाइंटमेंट न जाने कब मिले। उसके माथे के बीचों-बीच एक गिल्टी निकल आई है, जिसे लोगों से छिपाना नामुमकिन है। जो भी देखता है, अपनी राय देने से नहीं चूकता, ''पन्ना, सब काम छोड़कर इसकी जाँच करवा लो। हो सकता है कुछ भी न हो, बट।'' इस 'बट' से वह स्वयं भी परेशान रहती है। डॉक्टर बड़ी मुश्किल से उसे विशेषज्ञ के पास भेजने को राजी हुआ था।'

कहानी में एक प्रसंग है कि बेटा आदित्य पन्ना के साथ कार में दफ़्तर जाता है और आदित्य ने एक खेल ईजाद किया था, जिसमें अपने आसपास की कारों की नेमप्लेटों के शब्दों और अंकों को जोड़कर शब्द बनाने होते थे। कई अंकों का स्वरूप अक्षरों जैसा होता है इसलिए उनका उपयोग अक्षरों की तरह किया जा सकता है। जैसे कि चार का अंक 'ए' जैसा लगता है, पाँच 'एस' जैसा और छः 'ई' जैसा दिखता है। वैसे भी तो मनुष्य का दिमाग भी क्या-क्या गुल खिलाता है। इस तरह पन्ना 'एल ६ जे आई ८' से; लिजिट, 'पी ४ जीएलए' से ;पगला, 'बी १४ आर एल ए' से ;बिरला, 'पी ६ एन ई एस' से ;पीनस, 'सी ११ एम ए एन' से ;चमन, 'पी ८ डब्ल्यू ई आर' से ;पॉवर, '५ वन आर' से ;सर, 'डी ४ एन टी ई' से; डांटे, 'के ए ३० एफ आ आर' से ; काफिर आदि मज़ेदार शब्द बनाती है।

इस कहानी को पढ़कर लगता है कि लंदन की सड़कों की हालत भारत की सड़कों जैसी ही है। सड़कें संकीर्ण तथा गलियाँ तंग हैं। यही नहीं सड़कों पर जहाँ-तहाँ गड्ढे भी हैं। स्पष्टतः यह भ्रष्टाचार का नमूना है क्योंकि 'लोग इन्हीं गड्ढों के बहाने काउंसिल से काफी पैसा एँठते हैं। गड्ढे के कारण हुए अपने पहिए के नुकसान को पूरा करने के लिए वह भी काउंसिल को लिखेगी। पहिया तो किसी तरह निकल गया किन्तु पन्ना की बड़बड़ जारी थी, 'जो सरकार लंदन का परिवहन नहीं सँभाल पा रही वो ओलम्पिक्स का ट्रैफिक कैसे सँभाल पाएगी। जिधर जाओ सड़कें खुदी पड़ी हैं और कारीगर नदारद।'

इंग्लैंड जैसे देश को बहुत सभ्य और शिक्षित समझा जाता है लेकिन उसकी मानसिकता एक बहुत पिछड़े देश जैसी है और भ्रष्टाचार भारत से कम नहीं है। भारत पर जब ईस्ट इंडिया कंपनी का राज था तो भ्रष्टाचार को लेकर वारेन हेस्टिंग्स पर लंदन में महाभियोग चलाया गया था क्योंकि अवध को लूटकर उसने काफी पैसा कमाया था। ऐसा लगता है कि वहाँ अब भी भ्रष्टाचार कम नहीं है।

दरअसल यह कहानी लंदन के ट्रैफिक जाम में फँसी कार की तरह ठहरी हुई है। कहानी इतना धीरे-धीरे आगे बढ़ती है कि पाठक में ऊब पैदा होने लगती है आखिर पाठक को कोई कब तक नंबर प्लेट से बनाए गए शब्दों से खिलवाड़ करता बहलाता रहेगा। ऐसा लगता है कि पन्ना महीनों क्या वर्षों से ट्रैफिक जाम में फँसी हुई है। निकली तो थी वह अस्पताल जाने के लिए लेकिन न अस्पताल पहुँचती है और न घर वापस लौटती है, बस ट्रैफिक जाम में अटकी रहती है। लेकिन एक बात पर गौर करने की ज़रूरत है कि इस कहानी में कोई ऐसा बिंदु है जिस पर ध्यान देने की ज़रूरत है। कहानी का कथ्य छोटा है लेकिन उसमें एक नयापन अवश्य है। दूसरी बात जो पाठकों को चौंकाती है, वह यह है कि लंदन के प्रति हमारे मन में जो एक सम्मोहन है उसको एक झटके के साथ यह कहानी चकनाचूर कर देती है। वस्तुतः इस कहानी का यथार्थ लंदन की सड़कों पर ट्रैफिक जाम में फँसे लोगों की भयानक यंत्रणा नहीं है बल्कि असली यथार्थ लंदन जैसे शहर की सड़कें हैं जो भ्रष्टाचार के दलदल में फँसी हुई हैं। कहना चाहिए कि लंदन जो हमारे लिए एक मिथक है, उसका यथार्थ है यह कहानी।

भारतीय प्रवासी लेखिका सुदर्शन प्रियदर्शिनी एक अरसे से कहानियाँ लिखती रही हैं। उनका कहानी संग्रह 'उत्तरायण' पिछले वर्ष ही आया है लेकिन हिंदी संसार के पाठक उनके नाम से विशेष परिचित नहीं होंगे, ऐसा संभवतः इसलिए भी हुआ समकालीन चर्चित पत्र-पत्रिकाओं में उनकी रचनाएँ कम ही छपीं या उनकी खास नोटिस नहीं ली गई, इसलिए भी एक कहानीकार के रूप में अपनी पहचान बनाने में उन्हें कठिनाई हुई। लेकिन मुझे लगता है कि यदि कोई पाठक एक बार उनकी इस कहानी 'अखबार वाला', जिस पर हम विचार करने जा रहे हैं, पढ़ ले तो उन्हें आसानी से नहीं भूल सकता। प्रायः प्रवासी लेखकों की कहानियों में अतीत की स्मृतियों का द्वंद्व से उत्पन्न कोलाज होता है, जिसे आप चाहे तो करुणा विगलित नॉस्टेलजिया भी कह सकते हैं लेकिन सुदर्शन प्रियदर्शिनी की इस कहानी में अतीत भी है और उसकी स्मृतियाँ भी, भारतीय संस्कृति और उसके संस्कार भी हैं लेकिन सबसे बढ़कर उस भयावह परिवेश के वर्तमान के कठोर यथार्थ की टकराहट है, जिसके केन्द्र में मनुष्यता की खोज है।

दरअसल 'अखबार वाला' एक छोटी कहानी है लेकिन कहानी में जिस भयावह यथार्थ को उठाया गया है, उसका सरोकार बड़ा है, सीधे मनुष्य होने के अर्थ की तलाश करता हुआ। विदेशी परिवेश है जहाँ भारतीय मूल की एक औरत अकेली रहती है। उसके इस अकेलेपन में पीछे छूटा घर-द्वार, परिवार की छोटी सी झलक मिलती है लेकिन विदेशी परिवेश में अकेली रह रही जया नामक इस औरत के भीतर जब-तब भारतीय संस्कार जाग उठते हैं। इस संस्कार में मनुष्यता, जान-पहचान, पड़ोसियों से सहृदयता, मेल-जोल और मृत व्यक्तियों के प्रति सहानुभूति का भी एक कोना होता है चाहे वह छोटा ही क्यों न हो। जया विदेशी परिवेश में यह देखकर हैरान है कि यहाँ पड़ोसी एक-दूसरे से मिलने-जुलने की बात तो दूर, उनका नाम भी नहीं जानते। सब अलग-थलग अपने में सिमटे रहते हैं लगभग एलिनियेशन या आत्मनिर्वासन की हद तक यानी मनुष्य तो ये हैं लेकिन उनके पास आत्मा नहीं है। मेरे कहने का मतलब यह है कि बिल्कुल पड़ोस में मृत्यु जैसी बड़ी घटना भी उन्हें विचलित नहीं करती। वे इन घटनाओं से बिल्कुल निस्पृह बने रहते हैं।

जया की स्थिति कुछ अलग है। वह अपना देश तो बहुत पीछे छोड़ आई लेकिन संस्कार नहीं छोड़ पाई और इन्हीं संस्कारों के कारण उसमें मनुष्यता बची हुई है, जो पड़ोस में मृत्यु की घटना देखकर विचलित होती है। इस छोटी कहानी के केन्द्र में एक लंबा बूढ़ा पड़ोसी है जिसे वह हर सुबह अखबार उठाते देखती है, संभवतः इसीलिए इस कहानी का शीर्षक 'अखबार वाला' है। इस कहानी में कोई कहानी नहीं है। पात्र भी लगभग नहीं हैं। कहानी लगभग घटना विहीन है। कहना चाहिए इस कहानी में कई पार्श्वच्छवियाँ हैं, जिन्हें पकड़ने की जया कोशिश करती है। किसी ने कहानी को 'अँधेरे की चीख' कहा था, कहा तो 'अँधेरे की कौंध' भी गया था लेकिन कहानी में वस्तुतः हम उस नए यथार्थ की तलाश करते हैं जिसे हम सब देखते तो हैं लेकिन महसूस नहीं करते। एक अच्छा कहानीकार यथार्थ की उस कौंध को अनुभूति के स्तर पर

संवेदना के धरातल पर महसूस करने की कोशिश करता है। इसलिए भी कहानी में कहानी न होते हुए भी कहानीपन शेष रह जाता है। अब यह कहानीकार के कथाकौशल पर निर्भर करता है कि वह अपनी कल्पनाशक्ति से उस भयावह यथार्थ को हमारी आँखों के सामने अनावृत करे। सुदर्शन प्रियदर्शिनी ने जया जैसे पात्र के माध्यम से हमें विदेशी परिवेश के उस भयावह यथार्थ से, जहाँ पड़ोसी की मृत्यु से भी हम संवेदित नहीं होते, हमारी मृत मनुष्यता को जगाने का प्रयास किया है।

जया के भीतर जो तूफान मचा है, उसमें एक तरफ पश्चाताप है तो दूसरी तरफ मनुष्य होने के नाते अपना धर्म न निबाहने की आत्मग्लानि और पीड़ा। जया भीतर ही भीतर जिस अंतर्द्वंद्व से गुज़रती है, उससे साफ पता चलता है कि अखबार वाला वह व्यक्ति सचमुच उसका पड़ोसी था जिसे जानने-पहचानने से एक तरफ विदेशी परिवेश रोक रहा था तो दूसरी तरफ भारतीय संस्कार के कारण उससे उसकी आत्मीयता हो गई थी, बिल्कुल पीछे छूटे अपने गाँव में मरने वाले व्यक्ति की तरह। भले मृत बूढ़े अखबार वाले से उसका कोई परिचय नहीं था लेकिन उसके होने से हर सुबह सन्नाटा टूटता ज़रूर था। यही कारण है कि यह कहानी हमारे ऊपर से यूँ ही नहीं गुज़र जाती बल्कि हमें भीतर तक स्पर्श करती है। आज जैसी कहानियाँ लिखी जा रही हैं उसमें बाहरी रूप-रंग के साथ शिल्प की चमक तो खूब होती है, लेकिन जो नहीं होता है, वह कहानीपन है। इस कहानी की यह विशेषता है कि ऊपर से देखने पर यह सपाट लगती है लेकिन कहानी से गुज़रते वक्त यह अहसास हुए बिना नहीं रहता कि घटना और पात्रों के अभाव में भी सचमुच कोई ऐसी कहानी लिखी जा सकती है जो आपके मन-प्राण को छू ले। मेरी तरह इस कहानी को पढ़कर पाठक भी इसे पसंद करेंगे और एक अविश्वसनीय कहानी के रूप में याद रखेंगे, ऐसा मेरा विश्वास है।

भारतीय मूल की कथा लेखिका सुधा ओम ढींगरा एक लंबे अरसे से अमेरिका में प्रवास कर रही हैं। उनकी कहानी 'सूरज क्यों निकलता है' को पढ़कर यदि लोकल की बात छोड़ दी जाए तो यथार्थ का रंग भारतीय जीवन-समाज के परिवेश से गहरा मिलता है। कहानी की भाषा सशक्त है और यह कहानीकार की सफलता है कि अमेरिकी

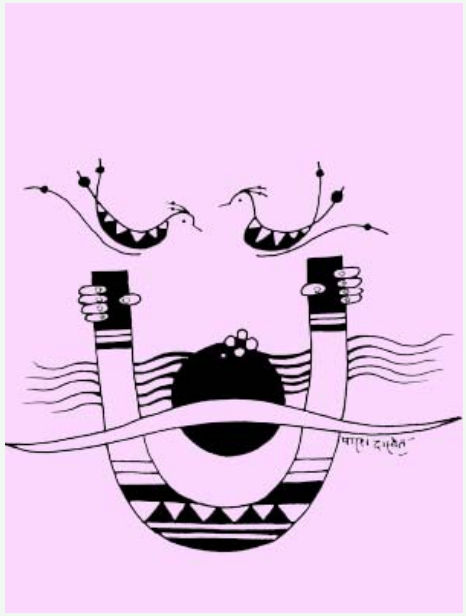

परिवेश के एक ऐसे यथार्थ से वे हमारा परिचय कराती हैं जिसकी हम कल्पना भी नहीं कर सकते। इस कहानी को पढ़कर मन पर एक बड़ा प्रभाव यह पड़ता है कि प्रवासी लेखकों द्वारा लिखी गई कहानियों का चेहरा समकालीन हिंदी कहानीकारों से बिल्कुल मिलता-जुलता है।

जब मैं यह कहानी पढ़ रही थी तो मुझे प्रेमचंद की चर्चित और विवादास्पद कहानी 'कफ़न' के कुछ प्रसंग याद आ रहे थे। लेकिन मैं समझ नहीं पा रही थी कि भारत के लगभग ७५-८० वर्ष पहले का यथार्थ आज के अमेरिका का यथार्थ कैसे हो सकता है? यद्यपि इस कहानी में अमेरिकी नागरिकों को वहाँ की सरकार द्वारा उपलब्ध कराई जाने वाली सुविधाओं का विस्तार में वर्णन है फिर भी इस कहानी के माध्यम से आप अमेरिका को कितना जान सकते हैं।

इस कहानी की एक बड़ी विशेषता यह है कि इसका नैरेशन बहुत दिलचस्प ही नहीं लगता बल्कि कहानी के कहानीपन को अक्षुण्ण रखते हुए पाठकों की उत्सुकता बनाए रखता है। कहानी का आरंभ देखिए-'वे गत्ते का एक बड़ा सा टुकड़ा हाथ में लिए कड़कती धूप में बैठ गए, जहाँ कारें थोड़ी देर के लिए रुक कर आगे बढ़ जाती हैं। बिना नहाए-धोए, मैले-कुचैले कपड़ों में वे दयनीय शक्ल बनाए, गत्ते के टुकड़े को थामे हुए हैं, जिस पर लिखा है-''होम लेस, नीड योर हैल्प''। कारें आगे बढ़ती जा रही हैं, उनकी तरफ कोई ध्यान नहीं दे रहा। ज्यों ही कारें रुकती हैं, वे गत्ते के टुकड़े को उनके सामने कर देते हैं, कुछ लोगों ने उन्हें गाली दी-''बास्टर्ड, यू आर बर्डन ऑन द सोसाईटी।'' कुछ ने अपनी कार का शीशा नीचे करके कहा-''वाय यू गाइस डोंट वर्क ?'' दोनों ढीठ हो चुके हैं, गालियाँ सुन कर चेहरा भावहीन ही रहता है और दोनों ऐसा अभिनय करते हैं कि जैसे उन्होंने कुछ सुना नहीं।''

जिस तरह यह कहानी आरंभ होती है और कार का शीशा उतारकर गत्ते के टुकड़े पर लिखी इबारत को पढ़कर अंग्रेज़ी में गालियाँ देकर कारें आगे बढ़ जाती हैं, उससे साफ पता चलता है कि विदेशी पृष्ठभूमि पर लिखी यह कहानी है। गत्ते पर जो लिखा है-'होम लेस, नीड यौर हैल्प' से भी कुछ संकेत मिलता है कि अमेरिका में होम लेस लोगों के प्रति सहानुभूति है और इस भावनात्मक कमज़ोरी का कुछ लोग दुरुपयोग कर रहे हैं। वस्तुतः यह कहानी अमेरिका के एक वैसे शहर की कहानी है जिसके किसी छोर पर एक जर्जर खस्ताहाल मकान है। इस मकान का भी एक इतिहास है-इस बड़े परिवार में अविवाहित महिला टैरी और उसकी माँ है। टैरी का काम है मौज-मस्ती करना, अमीर लोगों को फँसाना और ऐश करना। इस तरह वह ११ बच्चों को जन्म देती है, जिनका पालन-पोषण उसकी माँ करती है। माँ के स्वभाव, रहन-सहन और आदतों का परिणाम यह निकला कि बेटियाँ माँ के ही नक्शे कदमों पर चलती हुई, रोज पुरुष बदलती हैं और अविवाहिता माँएँ बनकर सरकारी भत्ता ले रही हैं। दो बेटे नशा बेचने वाले गिरोह में शामिल होकर न्यूयार्क चले गए। दो चोरी-डकैती में जेल में हैं, उनका जेल में आना-जाना लगा रहता है। एक बेटा किसी बिल्डर के साथ काम करता है और वह ही सही ढंग का निकला है। एक बेटे ने मेरुआना के पौधे घर के पिछवाड़े में उगा लिए थे और उसे स्कूल के बच्चों को बेचने लगा था। चूँकि अमेरिका में १८ वर्ष के होने तक बच्चों की ज़िम्मेदारी सरकार की होती है। टैरी की माँ उसे बराबर टोकती भी है लेकिन उसे मौज-मस्ती करने से फुर्सत कहाँ ? इन ११ बच्चों में सबसे छोटे जुड़वाँ भाई पीटर और जेम्स हैं। शेष भाई जेल में हैं। ले-देकर एक भाई कुछ ठीक है और उसने भरपूर कोशिश की कि पीटर और जेम्स किसी अच्छे काम पर लग जाएँ ताकि ज़िंदगी ठीक से गुजर-बसर कर सकें, लेकिन जेम्स और पीटर काहिर, कामचोर, निकम्मे और मुफ्त की कमाई करने वाले निकले। अमेरिका में

ऐसे लोगों को जो गरीबी रेखा से नीचे के हैं, उनके लिए शेल्टर होम और खाने के लिए, सरकार, कूपन उपलब्ध कराती है बल्कि कुछ स्वयं सेवी संस्थाएँ भी मदद करती हैं। पीटर और जेम्स की समस्या यह है कि सरकार से खाने के कूपन तो उन्हें मिल जाते हैं लेकिन शराब और लड़की पाने के लिए उन्हें अतिरिक्त पैसों की आवश्यकता होती है, जिसके लिए वे गत्ते का पोस्टर बनाकर भीख माँगते हैं, फिर भी उन्हें पर्याप्त डॉलर नहीं मिलते। मौज-मस्ती के लिए वे एक रास्ता निकालते हैं। मुफ्त के किचेन में खाना खाकर वे सरकारी कूपन बचा लेते हैं और फिर उन्हें आधे दाम में बेचकर शाम में एक क्लब में जाने की तैयारी करते हैं। अब उस पुराने घर के इतिहास को देखें, जहाँ स्थायी रूप से दो बहनें अपने तीन-तीन बच्चों के साथ रह रही हैं। इस घर में जब-तब भूले-भटके भाई आते-जाते रहते हैं। पीटर और जेम्स का भी इस घर में एक अलमारी में बंद ताले में कुछ सामान है-आयरिश स्प्रिंग साबुन, राइट गार्ड, डीओडोरेंट, माउथ फ्रेशनर, प्रेस किए हुए कपड़े आदि। वे क्लब जाने की तैयारी खूब ज़ोर-शोर से करते हैं। नहा-धोकर एकदम फ्रैश, प्रेस किए हुए कपड़े, परफ्यूम, क्लीन शेव करके वे शाम में क्लब पहुँचते हैं। इस क्लब में बार भी है और रेस्तरां भी है। इन्हें देखकर कोई कल्पना भी नहीं कर सकता कि वे वही दोनों थे जो हाथ में गत्ता उठाए भीख माँगते हैं। क्लब का मुआइना करने के बाद वे बीयर का ऑडर देते हैं। गला तर होते ही उनकी नज़र दो खूबसूरत यौवन से मदमाती लड़कियों पर पड़ती है जिनके हाथ में वाइन के गिलास खाली हो चुके हैं। बैरे को बुलाकर वे संकेत से उन दोनों के गिलासों को भरने का ऑर्डर देते हैं। लड़कियाँ समझ जाती हैं और बाद में धन्यवाद देने के लिए उनके पास पहुँचती हैं। फिर उन लड़कियों-लौरा और सहरा के साथ वे डांस करने लगते हैं। शराब के नशे और स्त्री अंग के स्पर्श से उनमें कामोत्तेजना पैदा होती है। बीच में दोनों से संवाद होता है और बाद का कार्यक्रम वे निश्चित कर लेते हैं लेकिन दोनों लड़कियाँ वाशरूम के बहाने वहाँ से खिसक ही नहीं जाती हैं बल्कि उन दोनों की जेबों से पैसे निकाल लेती हैं। बाद में जो स्थिति उत्पन्न हुई, वह वीभत्स भी है और घिनौनी भी। वे और शराब पीते हैं और डांस करने लगते हैं। अंतत: सिक्योर्टी गार्ड्स उन्हें क्लब से बाहर निकाल कर एक कोने में छोड़ देता है।

रात बीतने के बाद और सुबह होने पर जब सूरज की रोशनी उन पर पड़ती है तो झल्ला कर कहते हैं-'सूरज क्यों निकलता है' क्योंकि वे गहरी तन्द्रा में थे। बाद में क्लब के सफाई कर्मचारी उन्हें वहाँ से भगा देता है।

यह कहानी किंचित लंबी है लेकिन उबाऊ नहीं। कहानी की पठनीयता आरंभ से लेकर अंत तक बनी रहती है। यह सुधा ओम ढींगरा की एक वयस्क कहानी है, जिसमें यथार्थ की अनेक परतें हैं। ऊपर से देखने पर यह कहानी किसी पाठक को सामान्य लग सकती है लेकिन इस कहानी की रचना प्रक्रिया बहुत जटिल है क्योंकि अमेरिका जैसे सम्पन्न आधुनिक तथाकथित सभ्य राष्ट्र के वर्तमान यथार्थ का घिनौना चेहरा है। यह अकारण नहीं है कि यह कहानी हमारी स्मृतियों में देर तक टिकती है क्योंकि इसमें कहीं कोई वाग्जाल नहीं है। पूरी कहानी शुरू से आख़िर तक संवाद में और विवरण में विश्वसनीयता लिए हुए हैं। पीटर और जेम्स दोनों के अपने-अपने तर्क हैं। वे अमेरिका की मंदी को इसलिए कोसते हैं कि उन्हें भीख में पर्याप्त डालर नहीं मिलते। और तो और काम न करने का उनका तर्क देखिए-'हमें दूसरे लोगों की तरह दो वक्त के भोजन के लिए काम कर-करके मरना-खपना नहीं है। वह तो हमें बिना काम किए ही मिल जाता है।' यह कहानी मुझे सचमुच अच्छी लगी है खासकर इसलिए कि इसे एक प्रवासी लेखिका ने लिखा है और हमें एक नए यथार्थ से परिचित कराया है।

अचला शर्मा आठवें दशक की चर्चित लेखिका रही हैं लेकिन बीबीसी से जुड़ने के बाद वे लेखन में अधिक सक्रिय नहीं रहीं। बेशक वे रेडियो नाटक या छिटपुट कविताएँ लिखती रहीं। इधर बीबीसी से अलग होने के बाद उन्होंने अपने लेखक को पुनर्जीवित किया है। 'चौथी ऋतु' अचला शर्मा की बहुत पुरानी कहानी है जो उनके संग्रह 'सूखा हुआ समुद्र' में संकलित है।

दरअसल 'चौथी ऋतु' बुजुर्गों की कहानी है यानी जीवन के चौथे पड़ाव की। यहाँ एक बात ध्यान में रखने की है कि भारत और लंदन के रहन-सहन, जीवन-मूल्यों और नैतिकता के मानदंडों में बड़ा फर्क है, यहाँ तक कि धार्मिक विश्वासों में भी। चूँकि भारत में न केवल अलग-अलग जातियाँ हैं बल्कि धर्म और संप्रदाय भी अनेक हैं, रीति-रिवाज ऊपर से। लेकिन लंदन में प्रवासी लोगों को छोड़कर वहाँ की मूल जनसंख्या मुख्यत: क्रिश्चियन है और उनका सबसे बड़ा त्योहार क्रिसमस है, जिसमें लोग खुलकर मिलते हैं, लेकिन एक दिक्कत है वहाँ के लोग बुढ़ापे में अकेले हो जाते हैं और एकाकी जीवन जीने को अभिशप्त होते हैं।

'चौथी ऋतु' कहानी का आरंभ ७१ वर्षीय लिंडा के वर्तमान, जिसके सामने क्रिसमस आने वाला है, और अतीत की स्मृतियों से होता है। एक तरफ फायर प्लेस के ऊपर सजे क्रिसमस कार्ड हैं तो दूसरी तरफ टाइम्स की सुर्खी पर ३० साल बाद लंदन में भारी बर्फवारी की खबर। जीवन और प्रकृति के दो विपरीत छोर हैं-एक वृद्धावस्था और अकेलापन और दूसरी तरफ क्रिसमस का पर्व। लिंडा के पति जार्ज को गुज़रे १० साल हो चुके हैं। लिंडा की नजर दीवार पर टँगी जार्ज की तस्वीर की ओर गई तो मन में एक उलाहना सा उठा। 'बुढ़ापा काटने की बारी आई तो अकेला छोड़ गए।' यानी तेज़ी से सरकते समय को वह देखती है। १० साल से नितांत अकेली लिंडा विचारों में खो जाती है। उसकी बेटी मार्गेरिट साल में एकाध बार ज़रूर उससे मिलने आ जाती है लेकिन कुछ दिनों के लिए। उसको समय ठहरा सा लगता है। एक बार उसने अपनी बेटी के कहने पर किरायेदार के रूप में एक लड़की मैरिएन को रखा भी। चूँकि वह चित्रकार थी और अपने कमरे में बंद रहती थी। लिंडा ने एक बार पूछा भी उससे, ''तुम्हें सारा दिन अकेले घबराहट नहीं होती ?'' जवाब में उस लड़की ने कहा, ''आप भी तो अकेली रहती हैं।'' लेकिन इन दोनों के अकेलपन में एक बड़ा फर्क है। चित्रकार होने के कारण लड़की के लिए अकेलेपन का कोई अर्थ नहीं है जबकि बूढ़ी लिंडा के लिए अकेलेपन का एक अर्थ है। वैसे मैरिएन की यह बात गौर करने लायक है कि 'व्यक्ति अकेला बुढ़ापे के साथ ही नहीं होता मिसेज स्मिथ'।

अकेली और बूढ़ी लिंडा जीवन का अर्थ भी जानती है और बुढ़ापे का अर्थ भी। क्योंकि उसमें अभी भी भरपूर जिजीविषा है इसलिए इस बार क्रिसमस पर उसने आसपास के लोगों को अपने घर पर आने के लिए आमंत्रित किया और शालीन भाषा में कार्ड पर लिखा-'अगर आप भी मेरी तरह अकेले और बूढ़े हैं तो क्रिसमस की यह शाम मेरे

साथ मेरे घर पर बिताइए।' फिर भी भीतर-भीतर कहीं इस बात का डर था कि कहीं कोई इसे भद्दा मज़ाक न समझ ले। ठीक क्रिसमस की रात उसकी नजर छोटे से क्रिसमस ट्री पर गई और वह फिर अतीत में खो गई। इसी बीच दरवाज़े पर दस्तक हुई। दरवाज़ा खोलने पर सामने पीटर थे। मैरी क्रिसमस का आदान-प्रदान हुआ। पीटर के बाद मिस्टर लॉरेंस और रोज मैरी आते हैं और वे चारों कुछ देर के लिए ही सही अपना अकेलापन भूलकर क्रिसमस का आनंद उठाते हैं और अपने सुख-दु:ख बाँटते हैं।

इस तरह क्रिसमस की रात में इन चार बूढ़ों का मिलना और कुछ घंटे ज़िंदगी के अतीत और वर्तमान की मौज-मस्ती से साक्षात्कार उनकी जिजीविषा को न सिर्फ दर्शाता है बल्कि जीवन की चौथी ऋतु में भी जीवन के प्रति गहरी आस्था और विश्वास जगाता है। यह सुखद संयोग है कि क्रिसमस की रात में चौथी ऋतु के प्रतीक ये चार बूढ़े क्रिसमस का जश्न मना रहे हैं अपने बुढ़ापे और अकेलेपन को भूलकर। हिंदी के कई प्रतिष्ठित साहित्यकारों ने वृद्धावस्था, अकेलेपन और मृत्यु को केन्द्र में रखकर कई उत्कृष्ट कहानियाँ और उपन्यास लिखे हैं। उषा प्रियंबदा की 'वापसी' कहानी का पात्र गदाधर बाबू नौकरी से अवकाश ग्रहण करने के बाद वृद्धावस्था में अकेलापन काटने के लिए फिर से नौकरी करने के लिए अभिशप्त है। कृष्णा सोबती का उपन्यास 'समय सरगम' उम्र के आख़िरी पड़ाव यानी वृद्धावस्था के जिस नीरव, एकांत और अकेलपन की सीढ़ियों पर चुपचाप कदम रखता है, उसका भी अपना एक राग है। इसी तरह निर्मल वर्मा के उपन्यास 'अंतिम अरण्य' में भी बुढ़ापे का अकेलापन बार-बार मृत्यु के द्वार पर दस्तक देता है बल्कि उनकी कहानी 'कव्वे और काला पानी' में भी बुढ़ापे और अकेलेपन का दंश है।

अचला शर्मा की इस कहानी की एक बड़ी विशेषता सहज, सरल और स्वाभाविक भाषा और विदेशी परिवेश में चौथी ऋतु में क्रिसमस के मौके पर 'बूढ़े का उत्सव' है। जो न केवल हार्दिकता बल्कि आत्मीयता की गरमाहट से सराबोर है। जहाँ तक भारतीय परिवेश की बात है यहाँ बुढ़ापे में लोग परिवार पर बोझ बन जाते हैं और अपमान और भर्त्सना के बीच ज़िंदगी जीने के लिए अभिशप्त होते हैं। अचला शर्मा की यह कहानी एक यादगार कहानी है जो उन्हीं की प्रिय कहानी नहीं है बल्कि पाठकों की भी प्रिय कहानी साबित होगी। इस कहानी में कई अंतर्ध्वनियाँ हैं, टेक्स्ट के भीतर और कंटेस्ट के बाहर।

ऐसा नहीं है कि प्रवासी साहित्य महत्त्वपूर्ण नहीं है बल्कि ऊपर जिन कहानियों की चर्चा की गई है, उनके आलोक में यदि हम विचार करें तो इस निष्कर्ष तक पहुँचने में मुझे कोई दिक्कत नहीं है कि ये कहानियाँ समकालीन हिंदी कहानी के बिल्कुल समानांतर और समकक्ष हैं। खासकर इसलिए कि यथार्थ की जिन परतों को प्रवासी हिंदी कहानीकारों ने उघाड़ा है, वह हमारे लिए नया है। एक और बात की ओर मैं संकेत करना चाहूँगी कि आज हमारे अधिकांश प्रवासी लेखकों की उम्र ५०-५५ से उपर की है और चिंता की बात यह है कि प्रवासी लेखन में युवा लेखन गायब है क्योंकि नई पीढ़ी की रुचि हिंदी में नहीं है और अपने पूर्वजों के रास्ते पर वे चलना नहीं चाहते क्योंकि उनका भावनात्मक लगाव भारत से उस तरह से नहीं है, जिस तरह आज के प्रवासी लेखकों का है। यदि यही स्थिति रही तो दो-तीन दशकों के बाद प्रवासी हिंदी साहित्य क्रमश: लुप्त हो जाएगा। ❐

Hindi Pracharni Sabha

(Non-Profit Charitable Organization)

Hindi Pracharini Sabha & Hindi Chetna ID No. 84016 0410 RR0001

'For Donation and Life Membership
we will provide a Tax Receipt'

Annual Subscription: $25.00 Canada and U.S.A.

Life Membership: $200.00

Donation: $

Method of Payment: Cheque, payable to "Hindi Pracharni Sabha"

सदस्यता शुल्क
(भारत में)
वार्षिक : 400 रुपये
दो वर्ष : 600 रुपये
पाँच वर्ष : 1500 रुपये
आजीवन : 3000 रुपये

Contact in Canada:
Hindi Pracharni Sabha
6 Larksmere Court
Markham,
Ontario L3R 3R1
Canada
(905)-475-7165
Fax: (905)-475-8667
e-mail: hindichetna@yahoo.ca

Contact in USA:
Dr. Sudha Om Dhingra
101 Guymon Court
Morrisville,
North Carolina
NC27560
USA
(919)-678-9056
e-mail: ceddlt@yahoo.com

Contact in India:
Pankaj Subeer
P.C. Lab
Samrat Complex Basement
Opp. Bus Stand
Sehore -466001, M.P. India
Phone: 07562-405545
Mobile: 09977855399
e-mail: subeerin@gmail.com

सात समुन्दर पार महिला रचनाकार

स्वाति तिवारी

कहा जाता है कि साहित्य को खाँचों में बाँटकर नहीं देखा जाना चाहिए पर सच यह है कि साहित्य को पूरे होशोहवास में खाँचों में रख कर ही देखा जाता है, अगर ऐसा नहीं होता तो प्रवासी साहित्य शब्द हमारे पास नहीं होता किसी नए नारे नए जुमले की तरह आजकल प्रवासी कहानी, प्रवासी साहित्य, प्रवासी लेखक जैसे शब्द ही नहीं अब सेमिनार, संवाद, पत्रिकाएँ, सम्मेलन वगैरह-वगैरह हो रहे है। एक तरह से यह शब्द एक फैशन या प्रचार तंत्र का हिस्सा बन गया है। वरिष्ठ आलोचक डॉ. नामवर सिंह का कहना है कि रचनाएँ प्रवासी नहीं होती उन्होंने कहा कि वरिष्ठ लेखक निर्मल वर्मा, उषा प्रियंवदा जैसे साहित्यकारों ने अपनी कई श्रेष्ठतम रचनाएँ अपने प्रवास के दौरान ही लिखी। उन्होंने कहा कि निर्मल वर्मा या उषा प्रियंवदा को साहित्य जगत में हिन्दी साहित्यकार के रूप में जाना जाता है ना कि प्रवासी साहित्यकार ऐसी स्थिति में यह कह पाना कठिन है कि 'प्रवासी' शब्द प्रवासी लेखकों की देन है या साहित्य के मठाधीशों की।

साहित्य में ऐसे आरक्षण या खाँचे साहित्य को टुकड़ों में बाँट देते है पर चलन में है दलित-साहित्य, महिला-लेखन, स्त्री-विमर्श, प्रगतिशील-लेखन, जनवादी-लेखन इत्यादि। बावजूद इसके संतोषजनक यह है कि लिखा जा रहा है और पूरी शिद्दत के साथ रचा जा रहा है।

दुनिया के कई देशों में अनेक भारतीय ऐसे है जो हिन्दी के विकास के लिए, हिन्दी साहित्य को देश-दुनिया में पहुँचा रहे है जिनमें दूतावासों के हिन्दी अधिकारी और विश्वविद्यालयों के प्राध्यापक तो है ही कई सामान्य जन भी है जो भारत से अन्य देशों में गए है। विदेशों में रहते हुए हिन्दी में लेखन कर रहे साहित्यकार का महत्त्व इसलिए बढ़ जाता है क्योंकि वे हिन्दी का अन्तराष्ट्रीय विकास, हिन्दी को विश्वस्तर पर विस्तार देकर कर रहे हैं। प्रवासी साहित्यकार भारतीय संस्कारों को, परम्पराओं को अंतरराष्ट्रीय स्तर पर स्थापित कर रहे हैं।

स्त्री समाज में परम्पराओं और संस्कारों की वाहक होती है इस दृष्टि से यदि हम प्रवासी महिला कथाकारों की कहानियों की बात करे तो प्रवासी महिला कथाकारों के ऐसे कई महत्त्वपूर्ण नाम है जिनकी कहानियों में भारतीय झलक दिखाई देती है। प्रवासी होने के बावजूद उनके मन में भारत अभी भी रचा बसा है। प्रवासी साहित्य में भी वे पूरी ईमानदारी से शिद्दत के साथ भारतीय जनमानस की सामाजिक, पारिवारिक पारम्परिक स्थितियों का चित्रण करते हुए समाज की दशा और दिशा को विश्लेषित कर रहे हैं। कहा जा सकता है कि इन कहानियों के माध्यम से विकसित देश और विकासशील देशों के परिवेश का तुलनात्मक अध्ययन किया जा सकता। प्रवासी रचनाकारों ने अपने साहित्य के द्वारा हिन्दी और भारतीय समाज

स्वाति तिवारी
ईएन-१/९ चार इमली, भोपाल
मोबाइल-९४२४०११३३४

को सात समुन्दर पार तक पहुँचाया है।

देश से इतर विदेशों में हिन्दी साहित्य के विकास में लगे इन रचनाकारों में उल्लेखनीय नाम है ब्रिटेन की कथाकार उषा वर्मा, दिव्या माथुर, ज़किया जुबेरी, अचला शर्मा, तोशी अमृता, कादम्बरी मेहरा, कीर्ति चौधरी जैसे नाम हैं। अमेरिका की प्रवासी रचनाकारों में उल्लेखनीय नाम सुषम बेदी, हिन्दी चेतना की सम्पादक सुधा ओम ढींगरा जैसी स्थापित रचनाकारों का ज़िक्र किया जा सकता है।

इसी श्रृंखला में कनाडा के प्रवासी रचनाकारों में शैलजा सक्सेना इत्यादि अनुभूति और अभिव्यक्ति जैसी महत्त्वपूर्ण ई-पत्रिका की सम्पादक पूर्णिमा वर्मन भी एक अति महत्त्वपूर्ण नाम है।

ब्रिटेन की प्रवासी हिन्दी कथाकार ज़किया जुबेरी ब्रिटेन की लेबर पार्टी की सक्रिय सदस्या है एवं वे कई बार चुनाव जीत कर काउंसलर निर्वाचित हो चुकी है। ज़किया जुबेरी का अनुभव संसार कई देशों में फैला है वे लखनऊ में जन्मी, आजमगढ़ में पढ़ीं, पाकिस्तान में बिहायी और ब्रिटेन में बसी हैं। उनके लेखन में यह अनुभव स्पष्ट दिखाई देता है। ज़किया जुबेरी का पहला कहानी संग्रह 'साँकल' राजकमल प्रकाशन से प्रकाशित हुआ है। ज़किया जुबेरी की एक महत्त्वपूर्ण कहानी 'मारिया' का उल्लेख करना चाहूँगी। इस कहानी में एक पीड़ादायक सच्चाई हमारे सामने आती है कि वे अपनी जड़ों से जुड़े भारतीय हैं, पर जहाँ रह रहे है वहाँ के जीवन मूल्यों में कहीं कहीं एकदम भिन्न हैं ऐसे में किसके साथ चलें यह द्वन्द हमेशा उनके सामने एक चुनौती की तरह खड़ा हो जाता है, यह द्वन्द्व उसे दोनों परिवेश से अलग खड़ा कर देता है। ठीक उसी तरह जैसे किस गाड़ी में चढ़ा जाए यह दुविधा अगर आ जाए तो गाड़ी छूट जाती है।

इसी तरह ज़किया जुबेरी की कहानी 'मन की साँकल', 'मेरे हिस्से की धूप', स्त्री मन की कई बंद साँकलों को खोलती है और ले जाती है उस ओर जो उसके हिस्से की धूप से भर देती है।

ब्रिटेन की ही प्रवासी कहानीकार दिव्या माथुर की कहानियाँ समय, पात्र और परिस्थितियों से ऊपर उठती है वे एक वैचारिक प्रखरता के साथ आगे बढ़ती हैं। उनकी विशेषता यह है कि उनकी कहानियों में भाषा समाज व संस्कृति महत्त्वपूर्ण रूप से उपस्थित होती है।

दिव्या माथुर की कहानी 'ठनुआ' में देशी भाषा

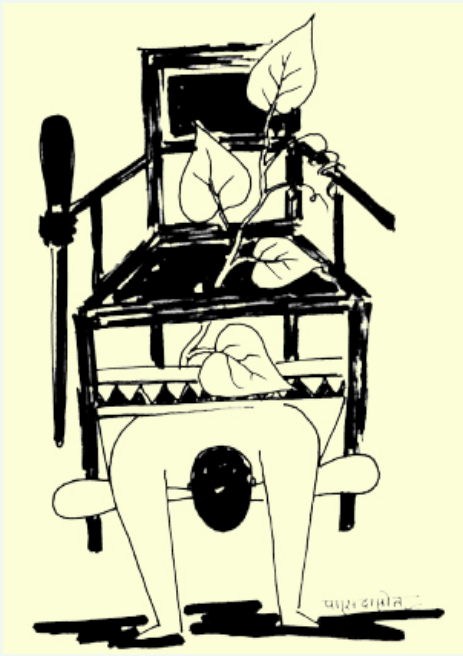

का आनंद है तो कहानी 'बचाव' स्त्री के शोषण की शाश्वत तथा वैश्विक कथा कहती हैं। दिव्या की कहानियाँ प्रवासी हिन्दी साहित्य की प्रतिनिधि कथाकार हैं। वे भारतीय मूल की ब्रिटेन में बसी लेखिका हैं। कविता और कहानी पर समान पकड़ रखने वाली दिव्या 'वातायन' संस्था की अध्यक्ष, यू.के. हिन्दी समिति की उपाध्यक्ष एवं नेहरू केन्द्र की कार्यक्रम अधिकारी है। वर्ष २००१ के पद्मानन्द साहित्य सम्मान एवं मैथिलीशरण गुप्त प्रवासी लेखन सम्मान से सम्मानित दिव्या की कहानी 'वैलेन्टाइन्स डे' और नीली डायरी जैसी कहानी एक महत्त्वपूर्ण तथ्य को रेखांकित करती हुई इस मिथक को तोड़ती है कि लैंगिक स्वतंत्रता यौनिक अपराधों को रोकती है। पुरू और प्राची हमारी बाज़ार व्यवस्था पर चोट करती है। 'फिक्र' कहानी हमारे यहाँ भी अलग-अलग कोणों से लिखी गई कहानियों की एक सौतेली माँ के प्रति बेटी के दुर्व्यव्हार एवं घृणा को प्रकट करती है। उनकी उल्लेखनीय कहानियों में 'अंतिम तीन दिन', 'उत्तरजीविता', 'फिर कभी सही' को रखा जा सकता है। दिव्या की कहानियों में प्रवासी जीवन की पीड़ाएँ, त्रासदियाँ स्पष्ट उभर कर आती है।

इसी तरह सुधा ओम ढींगरा भी प्रवासी साहित्यकारों में एक चर्चित नाम हैं। सुधाजी की कहानियाँ दो देशों की संस्कृतियों को एक साथ रखकर तुलनात्मक रूप से रेखांकित करती है। उनका प्रयास होता है मानवीय सम्वेदना और मानवीय जीवन मूल्यों के साम्य की तलाश।

सुधाजी की कहानी 'आग में गर्मी कम क्यों है' कई पक्षों को एक साथ समेटती भी है और उजागर भी करती है। कहानी समलैंगिकता जैसे संवेदनशील विषय का एक नया और अनदेखा पक्ष उजागर करती है। लेखिका ने बड़ी कुशलता से विषय के पक्ष और विपक्ष को संतुलन के साथ पाठकों के समक्ष रखा है। कहानी एक भारतीय मध्यमवर्ग की स्त्री साक्षी के इर्दगिर्द बुनी गई है जो अपनी जड़ों को छोड़कर अमेरिका आ गई है। लम्बे समय तक अमेरिका में रहने के बावजूद उसके व्यक्तित्व में समायी स्त्री मन और आत्मा से शुद्ध भारतीय संस्कारों वाली वह आम स्त्री की तरह चाहती है कि उसका पति शाम को दफ्तर से सीधा घर आए, परिवार के साथ रहे, पर एक दिन उसे पता चलता है कि उसका पति उसके प्रति इतना नीरस क्यों है। दरअसल उसे पता लगता है कि शेखर उसका पति समलैंगिक है। वह उसे स्वयं से मुक्त कर देती है। 'आग में गर्मी कम क्यों है?' कहानी के केन्द्र में साक्षी है। एक दिन शेखर आत्महत्या कर लेता है- साक्षी के उस द्वन्द्व को शिद्दत से कहानी में उकेरा गया है जो दिखाई नहीं देता पर महसूस होता है कि उसके लिए क्या रोए जो बहुत पहले ही मर गया था।

इसी तरह सुधाजी की कहानी 'बेघर सच' जिसमें कथा नायिका रंजना और उसकी माँ सुनयना के वृतांत किसी निर्ष्कष पर ना पहुँचकर विमर्श पर पहुँचते हैं। कहानी स्त्री के सदियों से चले आ रहे सनातन प्रश्न-'मेरा घर कौन-सा है?' को और अधिक व्यापकता के साथ मुखरित करती है। कहानी की नायिका अपने पैतृक घर के लिए जब परिवार के मुखिया से पूछती है कि क्या यह घर मेरा नहीं है? तो बेटी की संवेदनाओं की तमाम सम्भावनाओं को नकारते हुए उसे जवाब मिलता है नहीं तेरे भाइयों का है। कहानी में 'घर' को व्यापक अर्थ मिलते हैं।

पति भी शक-संदेह के चलते एक दिन उससे यही कहता है कि यह घर मेरा है। यह कहानी सुधा ओम ढींगरा को एक सशक्त कथाकार के रूप में स्थापित करती है। सुधा जी की कहानी 'टोरनेडो' भारतीय मूल्यों को पुनर्स्थापित करती है तो सूरज क्यों निकलता है प्रेमचन्द परम्परा की कहानी है। कहानी 'बिखरते रिश्ते', 'उसका आकाश धुँधला

है', 'लड़की थी वह', 'संदली दरवाज़ा' सामाजिक सरोकारों की कहानियाँ है। इन कहानियों को पढ़कर सुधाजी को प्रवासी कथाकार की जगह सशक्त कथाकार कहा जाना चाहिए। सुधा ओम ढींगरा के पास व्यंजनाओं से समृद्ध सहज प्रवाहित भाषा है, शैली है और कथानक भी। सुधा का साहित्य करूण या भावुक नहीं बल्कि सम्वेदनात्मक रूप से जागरूक है।

वर्तमान समय में प्रवासी महिला कथाकारों में चर्चित एक नाम उषा वर्मा का है। उषा वर्मा की कहानियाँ पाठकों को बाँधती भी है। यूनाईटेड किंगडम में बसी भारतीय मूल की सर्वाधिक चर्चित कहानीकार उषा राजे सक्सेना हिन्दी पाठकों में खासा लोकप्रिय नाम है। हिन्दी के रचनाकारों एवं आलोचकों ने भी उषा जी की रचनाओं को सराहा है। उषा राजे आम जीवन से अपने पात्र उठाती हैं। उत्तरप्रदेश के गोरखपुर विश्वविद्यालय में पढ़ी उषा राजे इंलैण्ड में प्रवासी भारतीय के रूप में साहित्य रच रही हैं। सभ्यता, संस्कृति एवं भाषा के प्रति अपने गहन लगाव के साथ उनके रचना संसार को प्रवासी जीवन के विविध अनुभवों ने भी व्यापक रूप से प्रभावित किया है। उनकी प्रमुख कृतियाँ 'वह कौन थी', 'मेरे-अपने', 'तान्या दीवाना', 'मुठ्ठी भर उजियारा', 'मेरा अपराध क्या था', 'वह रात', 'इंटरनेट डेटिंग', 'शर्ली सिंपसन शुर्तुमुर्ग है', इत्यादि हैं। उषाराजे की कहानियाँ घटनाओं के माध्यम से अत्यन्त गहरे प्रवासी यथार्थ-बोध को पाठकों के सामने बड़ी सूक्ष्म मनौवैज्ञानिकता के साथ प्रस्तुत करती है।

एक और महत्त्वपूर्ण रचनाकार है डॉ.सुदर्शन प्रियदर्शिनी वे १६ वर्षों तक हिमाचल प्रदेश में अध्यापन से जुड़ी रहीं। सुदर्शनजी की प्रमुख कहानियाँ है 'काँच के टुकड़े', 'धूप', 'सेंध', 'उत्तरायण', 'संदर्भहीन' इत्यादि। सुदर्शनजी के उपन्यास भी साहित्य को समृद्ध करते है। उनका उपन्यास 'रेत के घर', 'न भेज्यो बिदेस' चर्चित रहे है। सुदर्शनजी प्रवासी साहित्यकारों में एक विशिष्ट स्थान रखती है उनके साहित्य को उनकी विशिष्ट शैली, संवेदनाओं की गहराई, दार्शनिकता और प्रस्तुति का तीखापन उल्लेखनीय बनाता है। अचला शर्मा लंदन में रहने वाली भारतीय मूल की हिन्दी लेखिका है। जालंधर में जन्मी अचला लंदन प्रवास से पहले ही भारत में एक सशक्त कथाकार के रूप में अपनी पहचान बना चुकी थी। रेडियो से भी वे पहले भारत में ही जुड़ी थीं, बाद में वे लंदन में बी.बी.सी. रेडियो की हिन्दी सेवा से जुड़ीं। वे जितनी अच्छी कथाकार है उतनी ही सशक्त नाटककार भी है। वे सतत रेडियो नाटक लिखती रही हैं। अचला शर्मा की कहानी 'चौथी ऋतु' में परदेसी धरती पर मानवीय उष्मा की तलाश इस कहानी को अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बना देती है। अचला की कहानी पाश्चात्य संस्कृति की उस विडम्बना को उकेरती है जो हमारे यहाँ वसुदेव कुटुम्बकम के कारण आसान मानी गई है। पश्चिमी समाज में अलग-थलग पड़े बुजुर्गों के अकेलेपन की कहानी है। कहानी अकेलेपन की वैश्विक समस्या को रेखांकित करती है जिसमें चार बूढ़े अपनी-अपनी व्यथा को भुलाने की कोशिश करते है। उनके नाम किसी भी देश के नामों से बदले जा सकते है पर कहानी का मर्म हर बार एक जैसा ही लगता है। यह कहानी सरहदों सीमाओं से परे मनुष्य की कहानी है, अकेलेपन की कहानी जिन्हें समाज नियति और परिजनों ने पीड़ा भरा अकेलापन दिया है। अचला शर्मा इस कहानी के माध्यम से बुजुर्गों के भय, आशंका, सन्नाटे और खाली उदास मनों को टटोलती है। यह कहानी इस बात को भी बताती है कि नई अर्थव्यवस्था ने समाज और रिश्तों को किस कदर बदल कर रख दिया है।

अचला की बेहतरीन कहानी है 'मेहरचंद की दुआ'। परदेश में अल्प संख्यक मानसिकता और उसके चलते आपसी जुड़ाव इस कहानी के केन्द्र थे। यह अवैध वीजा पर लंदन आए मेहर आलम की परेशानियों को बताती है कि पहला काम कसाई का मिलता है और कैंची चलाने वाले हाथ बोटी काटने वाले चाकू थाम लेते हैं, फिरंगी गोरों के देश में एक भारतीय एक पाकिस्तानी प्रवासी कैसे भाई जैसे बन जाते है। अचला की कहानियों में भाषा की रवानगी संवेदना की चासनी में डूब कर आती है। एक और महत्त्वपूर्ण कहानी उल्लेख करने योग्य है 'दिल में एक कस्बा रहता है'।

बनारस में जन्मी शैल अग्रवाल ब्रिटेन में रहती है उनकी कहानियाँ मानवीय संवेदना की सूक्ष्म अभिव्यजंना प्रस्तुत करती है। 'ध्रुवन्वारा' उनका चर्चित कहानी संग्रह है। उनकी महत्त्वपूर्ण कहानियाँ हैं 'वापसी', 'कनुप्रिया', 'बसेरा', 'एक बार फिर', 'दिये की लौ', 'यादों के गुलमोहर', 'सूखे पत्ते' और 'विसर्जन'। 'विसर्जन' कहानी को पढ़ना एक अलग ही आनंद देता है, यह प्लेटोनिक प्रेम की कहानी है।

एक और चर्चित प्रवासी कथाकार है सुषम बेदी। पंजाब के फिरोजपुर शहर में जन्मी। सुषम बेदी न्यूयार्क स्थित कोलंबिया विश्वविद्यालय में हिन्दी पढ़ाती हैं। अब तक आठ उपन्यास और कई महत्त्वपूर्ण कहानियाँ उनके खाते में जमा हैं। सुषमजी मानती हैं कि उनके लिए साहित्य की सबसे निकटतम विधा कहानी है। उनका कहना है कि कहानी कहने और सुनने में एक आदिम तृप्ति है। सुषमजी का बहुचर्चित उपन्यास 'मैंने नाता तोड़ा' यह उपन्यास उन नाते रिश्तों के विडम्बनापूर्ण सच को उजागर करता है, जो चाचा-मामा होकर भी घर में ही स्त्री देह का शोषण करते हैं। प्रतिष्ठित पत्रिका 'हंस' में प्रकाशित उनकी कहानी 'सड़क की लय' एक ऐसी कहानी है जो बड़ी होती लड़की के मानसिक तनावों की परख करती है। सुषमजी की कहानियाँ अपने समय की सभी प्रतिष्ठित पत्रिकाओं जैसे 'हंस', 'धर्मयुग', 'सारिका', 'नया ज्ञानोदय' में प्रकाशित होती रही हैं। प्रवासी होने के बावजूद हिन्दी की रचनाकार कहलाना पसंद करती हैं, उन्हें साहित्य में उनके योगदान के लिए भारतीय साहित्य अकादमी, उत्तर प्रदेश हिन्दी अकादमी ने सम्मानित किया है। 'अवसान', 'काला लिबास', 'गुनहगार', संगीन पार्टी', 'डेनमार्क से' जैसी रचनाएँ उनके साथ हैं।

प्रवासी लेखन में अभी हमारे पास कई महत्त्वपूर्ण नाम और हैं जो सतत सक्रिय हैं। जैसे कादम्बरी मेहरा का नाम उन प्रवासी साहित्यकारों के साथ लिया जाता जिन्होंने अपनी कहानियों के माध्यम से आलोचकों और पाठकों का ध्यान खींचा। उनकी चर्चित कहानियों में 'धर्मपरायण', 'हिजड़ा', 'जीटा जीत गया' का उल्लेख किया जाता है। अर्चना पेन्यूली, प्रतिभा डाबर, तोषी अमृत इन प्रवासी महिला कथाकारों की रचनाओं से गुज़र-कर देखें तो स्पष्ट होता है कि विदेशों में रहकर सृजनरत ये रचनाकार पूरी तरह भारत की धरती से संस्कृति से और समस्याओं के चिन्तन से उसी तरह जुड़ी हैं जैसे अन्य रचनाकार। इनकी कहानियों में हमें यह जानना अच्छा लगता है कि देश दूरी के बावजूद वे अपने देश को वहाँ कैसे रच रहे हैं।

❐

प्रवासी कथाओं में स्त्री-विमर्श

डॉ. रेनू यादव

हिन्दी साहित्य के आँचल में जहाँ एक ओर स्त्री-विमर्श, दलित-विमर्श, आदिवासी विमर्श, अल्पसंख्यक विमर्श आदि के बेल-बूटे दिखाई दे रहे हैं, वहीं प्रवासी विमर्श भी उभर कर चमकने लगा है। अपनी चमक के साथ ही प्रवासी साहित्य के लिए प्रवासी कहलाने और न कहलाने पर बहस छिड़ गई है। प्रवास में लिखा गया साहित्य प्रवासी साहित्य है, जिसे मुख्य धारा का साहित्य अपने में कहीं-कहीं से चुन कर सम्मिलित कर लेता है, और प्राय: उसे मुख्यधारा का साहित्य समझ लिया जाता है। किन्तु सत्य तो यह है कि प्रवासी साहित्य आज व्यापक रूप धारण कर चुका है और उनमें से कुछेक रचनाओं का मुख्यधारा में शामिल हो जाना पूरे प्रवासी साहित्य का प्रतिनिधित्व नहीं कर सकता। इसलिए प्रवासी को पहले प्रवासी बनकर ही संघर्ष करना होगा, तत्पश्चात् मुख्यधारा के साहित्य में सम्मिलित होने के लिए हाशिए को मिटाना होगा, जो अचानक संभव नहीं। यह भी ध्यातव्य है कि मुख्य धारा का साहित्य अपने माँ-बाप के घर अर्थात् हिन्दी क्षेत्रों में पला-बढ़ा है और प्रवासी साहित्य अनाथ की तरह। इसलिए भाषिक शुद्धता-अशुद्धता का प्रश्न भी निरर्थक है। जिस प्रकार अन्य विमर्शों ने अपनी-अपनी पहचान बनाने के लिए अपने नाम के साथ अधिकारों की माँग कर रहे हैं, उसी प्रकार प्रवासी को प्रवासी कहना और उनका अधिकार माँगना अनुचित नहीं होगा और अधिकार प्राप्ति के बाद हाशिए की लकीर प्रवासी नाम संभवत: खत्म भी हो जाए।

प्रवासी साहित्य की खास विशेषता है कि प्रत्येक सुख-सुविधाओं के साथ-साथ विदेशी भूमि पर देशी चूल्हा जलने से घर की रोटी की सुगंध आती है तथा यह भी ध्यान रखने योग्य बात है कि पराई भूमि को कर्मक्षेत्र बना लेने से न तो घर की रोटी की सुगंध भूली जा सकती है और न ही पराया समाज और संस्कृति अपना लेने से अपनी मातृभूमि के प्रति प्रेम समाप्त हो सकता है एवं न ही अपनी देशी आत्मा विदेशी में परिवर्तित हो सकती है। इसलिए बार-बार इन साहित्य पर नॉस्टेल्जिया का आरोप भी लगता रहा है। कदाचित् यहीं से शुरू होती है मूल्यों की टकराहट और उससे उत्पन्न होने लगती हैं सामाजिक-सांस्कृतिक समस्याएँ; जिससे आहत होने लगती हैं संवेदनाएँ। इसीलिए स्वच्छंद पाश्चात्य के खुली छतरी के नीचे भारतीय संवेदनाएँ अपना पर फैलाने से पहले ही स्वयं में सिकुड़ जाती हैं। इससे तीन स्थितियाँ उत्पन्न होती हैं :- पहला-पाश्चात्य संस्कृति के अनुरूप ढल जाना, जिससे पूर्व मूल्यों का विघटन और नए मूल्यों का निर्माण होता है। दूसरा-भारतीय एवं पाश्चात्य संस्कृति और मूल्यों में सामंजस्य बनाकर आगे बढ़ना; जिससे जीना आसान हो जाए और तीसरा-पाश्चात्य मूल्यों को स्वीकार न कर पाना, जिससे निराशाजनक स्थिति से तंग आकर भग्नाशा का शिकार हो जाना; जो कि विकृत्त रूप धारण कर लेता है अथवा विद्रोही बन जाना; ताकि परिस्थितियाँ बदल सकें। और ये तीनों

डॉ. रेनू यादव
रिसर्च फेकल्टी असोसिएट
गौतम बुद्ध विश्वविद्यालय
यमुना एक्प्रेस-वे, नियर कासना,
गौतम बुद्ध नगर, ग्रेटर नोएडा
(उ.प्र.)-२०१३१२
ई-मेल-renuyadav0584@gmail.com

ही स्थितियाँ प्रवासी साहित्य में दृष्टिगत होती हैं।

प्रवासी साहित्य की सबसे विशिष्ट बात यह है कि वहाँ महिला साहित्यकारों की भागीदारी पुरुष साहित्यकारों से अधिक है तथा वह भारतीय महिला लेखन की भाँति हाशिए पर नहीं खड़ा है, और न ही किसी एक बनी-बनायी परिपाटी को लेकर चल रहा है, बल्कि अपनी विषय वैविध्यता के कारण मुख्यधारा में सम्मिलित है। यह मात्र स्त्री संवेदना को ही व्यक्त नहीं करता बल्कि पाश्चात्य परिवेश में जूझ रहे प्रत्येक व्यक्ति की संवेदना को स्वर प्रदान करता है, इनमें बच्चे, बूढ़े, पुरुष, समलैंगिक, अंतर्नस्लीय, उच्चवर्गीय, मध्यवर्गीय व्यक्ति एवं परिवार तथा मस्तमौले विदेशी भिखारी भी परिवेशगत स्थान पाते हैं। भारत में महिला-लेखन अभी चौखट पार कर रहा है, किंतु प्रवास में महिला लेखन भूमंडल में टहल रहा है। वह देख रहा है वहाँ के सच्चाइयों को, मूल्यों को, यथार्थ को और ढूँढ़ रहा है संवेदना का अंत:सूत्र।

प्रवासी महिला कथाओं में अनेक रचनाकारों के नाम हैं-

अमेरिका से-सुषम बेदी, सुदर्शन प्रियदर्शिनी, अनिल प्रभा कुमार, सुधा ओम ढींगरा, रेनू राजवंशी गुप्ता, पुष्पा सक्सेना, प्रतिभा सक्सेना, इला प्रसाद, रचना श्रीवास्तव एवं आस्था नवल।

कैनेडा से-शैलजा सक्सेना, रीनू पुरोहित।

ब्रिटेन से-ज़किया ज़ुबैरी, दिव्या माथुर, उषा राजे सक्सेना, अचला शर्मा, शैल अग्रवाल, नीना पॉल, उषा वर्मा, कादम्बरी मेहरा, कविता वाचक्नवी एवं नीरा त्यागी।

संयुक्त अरब अमीरात से-पूर्णिमा वर्मन।

कुवैत से-दीपिका जोशी।

डेनमार्क से-अर्चना पेन्यूली।

फ्रांस से-सुचिता भट्ट।

ऑस्ट्रेलिया से-रेखा राजवंशी।

नीदरलैंड-पुष्पिता अवस्थी।

चीन-अनीता शर्मा।

इन लेखिकाओं के साहित्य का अध्ययन करने से स्पष्ट होता है कि भूमंडलीकरण के हाहाकार में बढ़ती यांत्रिकता और मनुष्य की संवेदनहीनता ने इन्हें अंदर से झकझोर दिया है, जिससे इन्होंने अपनी जड़ों को मज़बूत बनाते हुए मन की अथाह गुफा में भारतीय मूल्यों का पुनर्मूल्यांकन एवं पुनर्स्थापित किया है। विषय-वैविध्यता तथा एक ही विषय में संवेदना की वैविध्यता का उदाहरण इनकी कहानियों में साफ़-सुथरा एवं सुन्दर ढंग से प्रस्तुत हुआ है। सुदर्शन प्रियदर्शिनी की कहानी 'अखबारवाला', सुषम बेदी की 'अवसान' अथवा सुधा ओम ढींगरा की 'कमरा नं. १०३', तीनों ही कहानियों का संदर्भ अलग है पर विषय मृत्यु है। भारत के गाँव-घर में अचानक किसी के घर आटा-दाल माँगने के बहाने पहुँचना और घंटों बैठकर पड़ोसियों के साथ गलचऊर कर लेना अथवा जाड़े की रातों में आग के अलाव के सामने बैठकर बतकही कर लेना एक सामान्य सी बात है, किंतु विदेश में फ़ोन किए बिना, वह भी उनकी प्राइवेसी को बिना नुकसान पहुँचाए, किसी के घर जाना संभव नहीं। भारत में अपने बेटे से मार खाकर पड़ोसी के घर में जाकर रो आना और सहानुभूति के तौर पर खाना भी खा लेना एक सामान्य सी बात है, परंतु 'कमरा नं. १०३' की मिसेज वर्मा परदेश में एकदम अकेली हो जाती हैं क्योंकि बेटा-बहू घर में लगे जाले की तरह उन्हें उतार फेंकते हैं, जिससे उनके जीवन का उद्देश्य समाप्त हो गया। भाषा की भीषण परेशानी तो बिना बात किए खत्म हो ही नहीं सकती और बीमारी की हालत में बार्नज अस्पताल में पहुँचा दी जाती हैं। उनकी ज़िंदगी की सुरक्षा कोमा में होती है, अस्पताल में नर्सें ही उनकी अपनी हैं। बेटा-बहू तो कभी उनकी सलामती जानने भी नहीं आते। 'अवसान' कहानी में मृतक के इच्छा का अवसान है तो 'अखबारवाला' की कहानी भारतीय संस्कारों से बिल्कुल ही भिन्न। भारत में त्योहार उत्सवों की भाँति मृत्यु संस्कार में पास-पड़ोस के लोग ही नहीं बल्कि गाँव-गड़ा सब एक साथ रोते-धोते हैं। यही नहीं तेरहवीं तक मृतक के परिवार वालों का खयाल पास-पड़ोस और रिश्तेदार रखा करते हैं। किन्तु 'अखबारवाला' कहानी में मृतक का मरना भी पर्सनल प्रॉबलम है। ये कहानियाँ स्वत: ही अभिमन्यु अनत की कहानी 'मातम पुरसी' तथा तेजेन्द्र शर्मा की कहानी 'पासपोर्ट के रंग' और 'क़ब्र का मुनाफ़ा' का स्मरण करा जाती हैं। 'मातम पुरसी' और 'क़ब्र का मुनाफ़ा' कहानियों में मृत्यु एक घटना है, मृत्यु में भी फायदा नुकसान देखा जा सकता है।

इला प्रसाद की कहानी 'ई-मेल' और 'एक अधूरी प्रेमकथा' अपने आप में संचार और हॉस्टल की कहानी को समेटते हुए आधुनिक युग की क्षणिक अनुभूति की कहानी है। सुधा ओम ढींगरा की 'और बाड़ बन गई' तथा 'कौन सी ज़मीन अपनी' प्रवासी संवेदना को समेटती है तो 'वह कोई और थी' में पुरुष-विमर्श, 'दृश्य भ्रम' में अपराध बोध से भरे पुरुष की संवेदना को दर्शाती है। पूर्णिमा वर्मन की कहानी 'उड़ान' उत्तर-आधुनिक परिवेश को दर्शाती है।

किंतु यदि मात्र स्त्री-विमर्श को ध्यान में रखा जाए तो प्रवासी साहित्य में स्वानुभूति और सहानुभूतिपरक साहित्य समान रूप दृष्टिगत होता है। सहानुभूतिपरक साहित्य में तेजेन्द्र शर्मा की कहानी 'देह की कीमत', गौतम सचदेव की 'आकाश की बेटी', सुमन कुमार घई की 'सुबह साढ़े सात से पहले' आदि कहानी तथा स्वानुभूतिपरक साहित्य में सुषम बेदी का उपन्यास 'हवन', 'लौटना', सुदर्शन 'प्रियदर्शिनी' का उपन्यास 'न भेज्यो बिदेस' आदि तथा कहानियों में ज़किया जुबैरी की कहानी 'साँकल', 'मेरे हिस्से की धूप', सुधा ओम ढींगरा की कहानी 'आग में गर्मी कम क्यों है?', 'टारनेडो', 'क्षितिज से परे', 'बेघर सच', सुषम बेदी की 'काला लिबास', 'तीसरी दुनिया का मसीहा', 'सड़क की लय', उषा वर्मा की 'सलमा', अनिल प्रभा कुमारी की 'घर', पुष्पा सक्सेना का 'विकल्प कोई नहीं', सुदर्शन प्रियदर्शिनी की 'धूप', अचला शर्मा की 'चौथी ऋतु', नीरा त्यागी की 'माँ की यात्रा', दिव्या माथुर की 'सफ़रनामा' आदि प्रमुख हैं।

इन कहानियों में स्त्री का यथार्थ प्रमुख रूप से तीन रूपों में सामने उभर कर आया है-

: भारतीय संस्कारों का आत्मसातिकरण

: मानवीय संवेदना और मानवीय मूल्यों की खोज

: अस्मिता के प्रति जागरूक

भारतीय संस्कारों का आत्मसातिकरण-

भारतीय परिप्रेक्ष्य में स्त्री-विमर्श धर्म, नैतिकता तथा दैहिकता के दायरे से बाहर निकलने के लिए फड़फड़ा रहा है क्योंकि भारतीय संस्कार स्त्री-जीवन में नीर-क्षीर की भाँति इस प्रकार रच-बस गया है। सिमोन द बोउवार का कथन 'स्त्री स्त्री पैदा नहीं होती, बनाई जाती है', भारत में विशेष रूप से चरितार्थ है। कदाचित् यही कारण है कि भारतीय महिलाएँ विदेश में अपने संस्कारों को भूल नहीं पातीं। 'न भेज्यो विदेस' की नायिका रत्ती और गुरमीत बिशन सिंह से प्रदत्त षड़यंत्रों से उत्पन्न

समस्याओं से निरंतर जूझते हुए भी पति-परमेश्वर की अवधारणा से मुक्त नहीं हो पाती और मूक बनकर जीवन गुज़ारती है। रत्ती को जब अपने साथ हुए धोखे की बात समझ में आती है कि तब वह लड़ने झगड़ने के बजाए खामोशी के साथ अपने पति प्रीतम से विमुख होने लगती है, किंतु प्रीतम के प्रति अनन्य प्रेम उसे पुन: वापस लौटने हेतु विवश कर देता है। 'हवन' उपन्यास की नायिका गुड्डो अमेरिका में रहने के पश्चात् भी दिग्भ्रमित नहीं होती। उसकी सारी शक्ति, संस्कार, नैतिकता और मूल्य मानो हवन से ही अर्जित होती है, जिससे परिवार-कल्याण की कामना पूर्ण हो जाती है। वकील साहब गुड्डो का सहारा लेकर अमेरिका में सपरिवार बसना चाहते हैं, इसीलिए वे गुड्डो की चापलूसी भी करने से नहीं थकते और अमेरिका पहुँचते ही उसे गले से लगाते हुए अपने प्रेम का इज़हार करते हैं। उस समय वह उन्हें झटकते हुए बोलती है, 'आप क्या समझते हैं, यहाँ आकर मैं कुछ और हो गई हूँ। मेरी वैल्यूज़, मेरे संस्कार बदल गए हैं... आपकी वहाँ कभी ऐसी हिम्मत नहीं हुई थी और यहाँ मेरे घर में ही आप मेरे मेहमान बनकर लूट रहे हैं... मैं लिहाज और मुरव्वत बरतती रही पर आपने सच में समझा कि यहाँ के माहौल ने मुझे बदल दिया है। जिस आज़ादी की मैं बात कर रही थी...आपने उसे जिस्मानी आज़ादी भर ही समझ लिया। जितने हिन्दुस्तानी मर्द मिलते हैं, सोचते हैं चूँकि अमरीका में रह रही है इसलिए ज़रूर कुछ लूज़ या लिबरल हो गई होगी... उनका रवैया वही होता है जो इस वक्त आपका है'।

-(कौर, गुरप्रीत. सुषम बेदी के कथा साहित्य में प्रवासी भारतीय समाज के विविध पक्ष. पृ. १११-११२. (बेदी, सुषम: हवन, (१९९६) पृ. १४१)

'साँकल' की नायिका सीमा की आत्मा अपने पुत्र को पाश्चात्य रंग में ढलते देखकर आहत होती है। 'टारनेडो' की भारतीय संस्कारों से पूरित वंदना अपनी बेटी सोनल तथा उसकी सहेली क्रिस्टी जो जैनेफर की बेटी है, को भारतीय संस्कार प्रदान करती है तथा विदेश की चमक-दमक में पथभ्रष्ट होने से बचाने का प्रयास करती है।

इस प्रकार ये नायिकाएँ स्वच्छंद विदेशी परिवेश में भी संस्कारों से विमुख नहीं होती बल्कि विदेश में जाकर 'बिगड़ने' वाली अवधारणाओं को तोड़ती हैं।

मानवीय संवेदना एवं मानवीय मूल्यों की खोज-

भारत में स्त्री-विमर्श का संघर्ष चौखट से बाहर निकलने के लिए है किन्तु प्रवासी कहानियों में स्त्री-विमर्श चौखट से बाहर निकलने के पश्चात् वर्चस्ववादी मानसिकता तथा भारतीय एवं पाश्चात्य मूल्यों के टकराहट के कारण है। भारत में स्त्री-विमर्श प्रेम, परिवार और विवाह की ओर लौट रहा है, जिसके प्रमुख समर्थक अनामिका, कात्यायनी, सुशीला टाकभौरे आदि साहित्यकार हैं, लेकिन प्रवासी स्त्री-विमर्श परिवेशगत प्रभाव के कारण चारों दिशाओं में गोते लगा-लगाकर मानवीय मूल्यों की तलाश कर रहा है, हालाँकि यह भी अपने भारतीय संस्कारों से आगत है। इनके स्त्री-विमर्श की दिशाएँ अलग-अलग दृष्टिगत होती हैं। प्रेम, प्रजनन और परिवार की कामना करते हुए भी संस्कारों के विपरीत परिवेश और परिस्थिति के कारण मूल्यों की टकराहट से सारी परिस्थितियाँ गड्ड-मड्ड सी हो जाती हैं, परिणामस्वरूप निराशा, कुंठा, पीड़ा, संत्रास का जन्म होता है।

'सांकल' की नायिका सीमा चाहकर भी अपने पाश्चात्य प्रभावित पुत्र समीर में अपने लिए बचपन वाला प्रेम नहीं ढूँढ़ पाती तथा अपनी ममता को नियंत्रित करने का प्रयास करती है। 'हवन' उपन्यास में गुड्डो को डॉ. जुनेजा से प्रेम करने के पश्चात् पता चलता है कि वह भारतीय नारियों का प्रेम के नाम पर शोषण करता है, इसलिए वह पुन: अपने अकेलेपन की दुनिया में लौट आती है। अनुज का कई स्त्रियों के साथ संबंध होने से तनिमा व्यग्र हो जाती है और संबंध-विच्छेद का फैसला करती है। 'तीसरी दुनिया का मसीहा' की नायिका अपने पति से बेहतर ब्रूनो को संवेदनशील समझ कर उससे प्रेम करने लगती है और उसे ही अपना भगवान् मान बैठती है, लेकिन ब्रूनो का अंधविश्वास पुन: नायिका को यथार्थ के धरातल पर ला पटकता है। 'न भेज्यो बिदेस' में पैसे और शोहरत की लालच में बहके बिशन सिंह में संवेदना रत्ती की मृत्यु के पश्चात् जगता है। 'क्षितिज से परे...' की नायिका सारंगी को अपने पति सुलभ का तथा 'धूप' की नायिका रेखा को अपने पति का यानी दोनों नायिकाओं को अमरीका में कदम रखते ही उनकी संवेदनहीनता का आभास हो जाता है। अंतत: विवश होकर तलाक का फैसला करना पड़ता है।

कुछ कहानियों में संवेदनहीनता ही है जो विदेश की धरातल पर रिश्तों में खटास पैदा कर देती है, तो कुछ कहानियों में संवेदना को ढूँढ़ते हुए पड़ोसी मृतक अखबारवाले के शव तक पहुँचना और सभी में संवेदनहीनता देखकर आँखें नम किए वापस लौट जाना 'सुदर्शन प्रियदर्शिनी' का संवेदना उड़ेलकर लिखने का परिचायक है।

आश्चर्यजनक बात यह है कि किन्हीं कहानियों में विदेशी परिवेश में भी बच्चों का वहाँ के अनुसार समाजीकरण नहीं हो पाता और वे मानवीय मूल्यों की तलाश में पलायन कर जाते हैं। 'टारनेडो' की क्रिस्टी को अपनी माँ का बॉयफ्रेंड बदलते रहना पसंद नहीं आता तथा आख़िरी बॉयफ्रेंड केलब की कूदृष्टि माँ-बेटी दोनों पर होने से वह घर छोड़ने के लिए विवश हो जाती है। 'काला लिबास' की कैशोर्य मन अनन्या नस्लीय भेद तथा राष्ट्रीय भेद होते देखकर भारतीय मूल्यों के प्रति जिज्ञासु हो जाती है तथा किसी से सही उत्तर न मिल पाने के कारण विक्षिप्त-सी और उदण्ड होने लगती है, अंतत: पलायन कर जाती है।

लेकिन कुछ कहानियों में नए मूल्यों की तलाश में नायिकाएँ विकल्प भी ढूँढ़ती हैं। पुष्पा सक्सेना की कहानी 'विकल्प कोई नहीं' में बेटे की मृत्योपरांत सास नहीं चाहती कि उसकी बहू आजीवन वैधव्य का श्राप झेलती रहे, बल्कि वह बहू का पुनर्विवाह भी करवाती है तथा अतीत में डूबी बहू को शिक्षा देती है कि 'दूसरा पति, पहले का विकल्प नहीं हो सकता'।- (प्रवासी कथा साहित्य और स्त्री-डॉ.

अनीता कपूर (महिला दिवस पर विशेष)

प्रैक्टिकल दुनिया के धागे में ऐसा भावनात्मक रिश्ता प्रवासी साहित्य ही पिरो सकता है। डॉ. प्रीत अरोड़ा अपने लेख 'प्रवासी साहित्य की कहानियों में यथार्थ और अलगाव के द्वन्द्व' में लिखती हैं- 'आज भारत में लिखी जा रही अधिकांश हिन्दी कहानी स्त्री-विमर्श के नाम पर दैहिक विमर्श करती नज़र आती है। जबकि प्रवासी कहानियाँ मानवीय यथार्थ के भीतर मूल्यों की तलाश करती नज़र आती हैं'। -'प्रवासी-साहित्य-की-कहानी१२ २०१४, डॉ. प्रीत अरोड़ा-प्रवासी साहित्य की कहानियों में यथार्थ और अलगाव के द्वन्द्व,)

अस्मिता के प्रति जागरूक-

प्रवासी कथाओं में नारी के तीन रूप उभरकर सामने आए हैं। पहला, पाश्चात्य परिवेश में इस प्रकार ढल जाना कि नारी का विकृत रूप दर्शाता है अथवा पाश्चात्य परिवेश की विकृतता पाठकों के सामने आती है, जैसे 'टारनेडो' की जैनेफर या 'काला लिबास' में अनन्या की माँ, जो अपने मूल्यहीन स्वच्छंद जीवन को ही इतना मूल्यवान मानने लगती हैं कि अपने बच्चों तक का ध्यान नहीं रख पातीं, जिससे बच्चे पथभ्रष्ट हो जाते हैं।

दूसरा, प्रवासी नारी भारतीय एवं पाश्चात्य परिवेश में सामंजस्य बनाकर आगे बढ़ने का प्रयास करती है। जैसे 'हवन' की गुड्डो, 'सड़क की लय' की नेहा, 'धूप' की रेखा, 'टारनेडो' की वंदना, 'आग में गर्मी कम क्यों है' की साक्षी, 'मेरे हिस्से की धूप' की शम्मो आदि।

तीसरा, स्त्री या तो निराशाजन्य स्थिति में अवसादग्रस्त हो गई है अथवा विद्रोहिणी बन गई है। 'न भेज्यो विदेस' की गुरमीत और 'सांकल' की सीमा अवसादग्रस्त हो जाती हैं, तो 'काला लिबास' की अनन्या, 'टारनेडो' की क्रिस्टी, 'घर' की नादिरा, 'क्षितिज से परे' की सारंगी, 'हवन' की तनिमा आदि नायिकाएँ विद्रोही बन जाती हैं।

सुदर्शन प्रियदर्शिनी तथा ज़किया ज़ुबैरी की नायिकाएँ कहानी के अंत तक परिस्थिति के साथ ताल-मेल बैठा लेती हैं। इला प्रसाद की नायिकाएँ अंत में रोज़मर्रा के जीवन में लिप्त हो जाती हैं। सुषम बेदी की नायिकाएँ अलग-अलग स्वभाव की होती हैं, वे जुझारू भी हैं, भावुक भी, विद्रोही भी तथा सुधा ओम ढींगरा की नायिकाएँ कहानी के अंत तक आते-आते सशक्त रूप ले लेती हैं, वे परिस्थितियों से हार नहीं मानतीं बल्कि उनमें समस्याओं से लड़ने की क्षमता एवं जिजीविषा जाग उठती है। किंतु ये सभी नायिकाएँ अपनी अस्मिता के प्रति जागरूक हैं।

इन सभी साहित्यकारों की रचनाओं में विषय बाहुल्य दिखाई देता है। भारत में जहाँ आधी आबादी का साहित्य अभी शनैः शनैः घर की चौखट लाँघकर समाज, देश और राजनीति की ओर कदम बढ़ा रहा है वहीं प्रवास की आधी आबादी का विषय किसी एक साँचे या किसी एक विमर्श में बाँधकर नहीं देखा जा सकता। इनके साहित्य में उत्तर-आधुनिक परिप्रेक्ष्य में वृद्धा विमर्श, पुरुष-विमर्श, स्त्री-विमर्श तथा मूल रूप से प्रवासी-विमर्श के रूप में हिन्दी साहित्य में अपना स्थान बना रहा है। ये कथाएँ भारतीय और पाश्चात्य समाज और संस्कृति, परिवेश, भाषा और परंपरा का, मनोविज्ञान और मानवीयता का, संवेदना और वेदना का, मानव जीवन के सहजता और असहज घात-प्रतिघातों को चित्रित कर रही हैं।

❐

समाज का जीवंत दस्तावेज़

पूजा प्रजापति

समाज के विभिन्न पहलुओं को चित्रित करने वाली भारतीय प्रवासी लेखिका सुधा ओम ढींगरा अपनी कहानियों में जीवन के उतार-चढ़ावों को दिखाने में पूर्णत: सक्षम हैं। इनकी कहानियाँ समाज के धरातल में छिपे इंसानी मन को उजागर करती हैं। वैवाहिक रिश्तों की टूटन और उससे उत्पन्न आकुल मानस की सिसकियाँ इनकी कहानियों के केंद्र में हैं। समाज और संस्कृति की टकराहट इनके पात्रों को असमंजस की स्थिति में जकड़े रखती है। 'आग में गर्मी कम क्यों है?', 'कमरा नंबर १०३', 'पासवर्ड', 'सूरज क्यों निकलता है', 'कौन सी ज़मीन अपनी', 'मकड़जाल', 'टारनेडो', 'बेघर सच' इत्यादि कहानियाँ संवेदना की दृष्टि से काफी सशक्त हैं। 'आग में गर्मी कम क्यों है?' कहानी में जेम्ज के साथ संबंध रखने वाला शेखर अपनी मृत्यु के बाद साक्षी के लिए कई सवाल छोड़ गया। वह सब कुछ स्वीकार करते हुए भी जानना चाहती है कि उसके प्यार में कहाँ कमी रह गई थी। इस कहानी में समाज के उन मूल्यों की बात की गई है, जो एक स्थान विशेष पर वैधता प्राप्त करते हैं और अन्य स्थान पर वर्जना बन जाते हैं। पति के समलैंगिक सम्बम्ध को इतनी सहजता से एक पत्नी की स्वीकृति मिलना अपने परिवार को बचाये रखने की पुरजोर कोशिश ही है। यह भारतीय और यूरोपीय संस्कृति के मेल की कहानी है। भारतीय स्त्री साक्षी अपने बच्चों पर पिता के साये को बरकरार रखने की चाह में, भारतीय समाज में वर्जित इस अनैतिक संबंध को भी स्वीकार करती है। इस तरह साक्षी बौद्धिक रूप से अपने परिपक्व होने का परिचय देती है। जेम्ज से जुड़ने के बाद शेखर के व्यवहार में आया अलगाव साक्षी को दंश की तरह चुभता रहता है। वह संबंधों में मादकता की तपिश में शेखर की ओर से कुछ शिथिलता का एहसास पाती है। इसी सच्चाई को कहानी सार्थक सिद्ध करती है। 'पासवर्ड' कहानी में लेखिका ने उन मध्यवर्गीय लोगों को चित्रित किया है जो विदेश का वीज़ा प्राप्त करने के लिये लालायित रहते हैं। N.R.I लोगों से शादी कर ग्रीन कार्ड पाने की उन्हें जल्दी रहती है। ऐसे मध्यवर्गीय लोगों की जालसाज़ी का पर्दाफाश कर लेखिका ने अपनी कथ्य-विभिन्नता की विशेषता को समृद्ध किया है। स्त्री की उस छवि को चित्रित किया गया है, जो अपने प्रेमी के साथ मिलकर षड्यंत्र रचती है। वह अपने पति को संबंध बनाने नहीं देती लेकिन उससे मिलने वाले ग्रीन कार्ड का भरपूर फायदा लेना चाहती है।

'टारनेडो' कहानी में जैनेफर पश्चिमी सभ्यता में ढली एक आधुनिक स्त्री है। जैनेफर का अत्यधिक स्वछंद और स्वतंत्र व्यक्तित्व क्रिस्टी को पसंद नहीं। इस कहानी में पत्नी के विभिन्न स्वरूपों के द्वारा दो संस्कृतियों तथा सामाजिक वर्जनाओं का टकराव दिखाया गया है। जैनेफर अपनी भावनाओं, इच्छाओं और देह के प्रति सजग रहते हुए बस इन्हें पूरा करने पर बल देती है। वहीं वंदना संयमित रूप से जीवन जीते हुए सोनल और क्रिस्टी के लिए हर तरह से सही मायनों में माँ की भूमिका अदा करती है। वंदना जैसी स्त्रियों के लिए इसलिए समाज एब्नॉर्मल जैसा सम्बोधन इस्तेमाल करता है। समाज की नज़र में ऐसी स्त्रियों में कुछ न कुछ कमी होती है। जो अपनी यौन इच्छाओं की ओर से लगभग उदासीन रहती हैं। क्या नॉर्मल साबित करने के लिए समाज में स्वछंद यौनाचार करना ही सही है? यदि हाँ तो मेरी नज़र में सबसे ज्यादा नॉर्मल स्त्री वेश्या होगी। जो मजबूरी में ही सही लेकिन अनेक यौन सम्बंध बनाती है। इसी मानसिकता को ध्वस्त करने वाली यह कहानी अपने आप में एक विमर्श लेकर प्रस्तुत होती है। अक्सर स्त्रीवादियों पर यह आरोप लगाया जाता है कि वह स्वछंद यौनाचार के लिए पैरवी कर रही हैं। जबकि स्त्रीवादी स्त्री-पुरुष सम्बंधों के दौरान खुद को सिर्फ मादा देह नहीं बल्कि मानवीय गुणों से परिपूर्ण इंसान समझे जाने की लड़ाई लड़

पूजा प्रजापति
एम.फिल. हिंदी
अम्बेडकर विश्वविद्यालय, दिल्ली
pooja.prajapati85@gmail.com
मोबाइल ९७११२५४४२८

रही है। वंदना ऐसी स्त्री का प्रतिनिधित्व करती है जो स्वतंत्र विचारों की होते हुए भी अपनी ज़िम्मेदारियों से अलग नहीं है, वह स्वतंत्र है लेकिन स्वच्छंद नहीं। वंदना, जैनेफर के अलावा क्रिस्टी एक ऐसी स्त्री है जो अल्पायु में परिपक्व सोच रखती अपने अस्तित्व की खोज करती है। हाँलाकि, उसकी माँ जैनेफर का नया बॉयफ्रेंड केलब उसे अपनी हवस का शिकार बनाता है। फिर भी, वह इससे जल्द ही उभरकर नया जीवन जीने का फैसला लेती है।

'कमरा नंबर-१०३' में लेखिका ने बड़ी कुशलता से मुख्य पात्र (मिसेज वर्मा) को संवादहीन रखते हुए भी उसकी पीड़ा को मुखरता प्रदान की है। बार्नज अस्पताल की नर्सें टैरी और ऐमी की वाक्पटुता, मिसेज वर्मा की चुप्पी के साथ मिलकर एक नये किस्म की संवाद शैली को जन्म देती है। नर्सें टैरी और ऐमी के बीच का संवाद कहीं भी मिसेज वर्मा की चुप्पी से टूटता-बिखरता नहीं दिखता। दोनों संवाद ऐसे घुल-मिल जाते हैं, जैसे तीनों आपस में ही कर रहे हैं। प्रवासी परिवेश की इन कहानियों में भागती-दौड़ती ज़िंदगी के बीच उस भाईचारे और सौहार्द के भी संकेत मिलते हैं, जिनके अब भारतीय भूमि से नामोनिशाँ मिटने लगे हैं। भारतीय अस्पतालों की अगर बात करें तो वहाँ नर्सें इतने रूखे व्यवहार से पेश आती हैं कि जैसे मरीज का खर्चा वही उठा रही हों। मरीज के शरीर की देखभाल तो क्या भर्ती होने पर उनसे आप अपनी दवाई भी दुबारा पूछ नहीं सकते। इस तरह विदेशी परिवेश की इस खूबी को यह कहानी प्रस्तुत करती है। वहीं उसी परिवेश के आलसी, मक्कारी, बेगार की रोटी तोड़ते उन होमलेस परिवारों की स्थिति पेश की गई है।

इसी परिवेश को चित्रित करती कहानी 'सूरज क्यों निकलता है ?' होमलेस और गरीबी रेखा से नीचे बसर करने वालों को सरकार द्वारा प्राप्त होने वाली सुविधाओं का होता गलत इस्तेमाल कहानी में प्रस्तुत किया गया है। बैठे-बिठाए मिलने वाली दो जून की रोटी का जुगाड़ लोगों को गतिविहीन, मक्कार, धोखेबाज़ बना देता है। पीटर और जेम्स खाना खाने के लिए मिलने वाले कूपन को बेचकर शराब से गला तर करना और जवानी की रंगत से आँखें चमकाना ज़्यादा बेहतर समझते हैं। प्रस्तुत कहानी एक ऐसे बड़े समुदाय को सीख देती है जो माँगने वाले लोगों की हैल्प कर गुप्तदान से अपना जन्म सुधारते हैं। हम किसी के मुँह में निवाला देकर उसकी मदद के साथ-साथ उसे परिश्रम करने से रोकते भी हैं।

'कौन सी ज़मीन अपनी' व्यक्ति के उन रिश्तों पर केंद्रित कहानी है, जिन्हें वह बचपन से अपना मान सीने से लगाए जीता है। मनजीत सिंह तो अमेरिका का ग्रीनकार्ड पा लेता है लेकिन उसका मन भारत की नागरिकता को ही सदैव अपने अस्तित्व का हिस्सा मानता है। मनजीत सिंह बचपन से लेकर जवानी तक की सभी खट्टी-मिठ्ठी यादों को अमेरिका की सुख-सुविधा से परिपूर्ण ज़िंदगी में भी याद करता है। मनजीत सिंह एक ऐसे कल्पनालोक में जीता है जिसमें केवल और केवल रिश्तों का आदर्श रूप ही उस लोक का अधिष्ठाता है। इस कहानी में एक ऐसे मध्यवर्गीय परिवार की विडंबना को चित्रित किया गया है, जो अपनी गरीबी मिटाने के लिए एन.आर.आई. बहू को तो अपना लेते हैं, लेकिन उसे हमेशा बेटे को दूर करने वाली करमजली से ज़्यादा मान नहीं देते हैं। अपने सगे-रक्त-संबंधियों के लिए मनजीत केवल स्वादिष्ट पकवानों से सजी थाली के समान ही है, जिस थाली को पकवान खत्म होते ही अपने आगे से हटाकर अस्तित्व से अलग कर दिया जाता है। यहाँ मनजीत प्रेम की अविरल बहती धारा के समान है और उसके सगे-संबंधी काईयुक्त ठहरा जमा हुआ पानी।

लेखिका की नई कहानी 'मकड़जाल' में गुरमीत और मनप्रीत पारिवारिक कलह और पति की उपेक्षा को झेलती हैं। सुखबीर विदेशी महिला से संबंध कायम रखता है, जिससे उसकी पत्नी गुरमीत उपेक्षित रहती है। सुखबीर द्वारा गुरमीत को तीसरी मंजिल से नीचे फेंक देना संवेदना का पतन है। मनप्रीत का अंत में सच बोलना स्त्री को कठिन परिस्थितियों में पारिवारिक दवाब से मुक्त रहने की प्रेरणा देता है। भोली-भाली भारतीय लड़कियों को ब्याहकर विदेश ले आना और उनसे नौकरों जैसा बरताव करना समाज की इसी विसंगति को चित्रित किया गया है। 'बेघर सच' कहानी में रंजो के माध्यम से लेखिका ने उस स्त्री-मन को उकेरा है, जिसमें पराया धन होने का दर्द छिपा है। मायके में दूसरे की अमानत और ससुराल में दूसरे घर से आई स्त्री का बिल्ला उसके दामन से कभी नहीं हटता। मायके से सहेज कर लायी कलाओं के हुनर का ससुराल में कैसे दम घोट दिया जाता है यह कहानी में बखूबी दिखाया गया है। इस कहानी में लेखिका की दृष्टि स्त्री-मन का कोना-कोना झाँक आयी है। स्त्री विमर्श की कसौटी पर यह कहानी बहुत महत्त्वपूर्ण है। संजय द्वारा अंत में माँ की स्मृतियाँ उनकी बेशकीमती मूर्तियाँ तोड़ डालना पितृसत्ता के वर्चस्व का प्रतीक है। आद्यंत कहानी में पितृसत्ता का बोलबाला है। स्त्री-अस्तित्व से जुड़े कई अहम सवालों को भी इस कहानी में उठाना लेखिका नहीं भूलती।

विदेश में प्रवास के दौरान लिखी गई इन कहानियों में भारतीय संस्कृति के मूल्यों, आदर्शों को विदेशी माहौल में जीवित रखने की एक द्वंद्वात्मक स्थिति मिलती है। इन कहानियों में दो संस्कृतियों की टकराहट व परंपरागत मूल्यों के निरंतर ह्रास को देखकर उत्पन्न हुई पीड़ा मिलती है। यह विशेषता भारतीय भूमि पर लिखे हिंदी साहित्य की कहानियों में प्रायः नहीं मिलती। लेखिका सुधा ओम ढींगरा किसी एक वर्ग (स्त्री-पुरुष) की पक्षपाती नहीं, बल्कि शोषण के विरुद्ध पीड़ित वर्ग के साथ दिखती हैं। इनकी कहानियों में पारिवारिक रिश्तों के बीच कसमासाहट की पीड़ा को चित्रित किया गया है। भारत में तेज़ी से विदेशी संस्कृति का संक्रमण फैल रहा है। विदेशी संस्कृति को कितना आत्मसात किया गया है इससे लोगों का जीवन स्तर तय होता है। जहाँ अधिकाधिक विदेशी संस्कृति के अनुरूप अपने को ढाला जाये, वहाँ अपनी संस्कृति को बचाये रखने की जद्दोजहद कैसे मिलेगी? आधुनिक परिवेश में रहने वाले प्रवासी भारतीय न तो पूरी तरह पश्चिमी संस्कृति को अपना पाते हैं और न भारतीय संस्कृति छोड़ पाते हैं। प्रवासी हिंदी इन कहानियों में यह द्वंद्व की स्थिति आद्यांत बनी रहती है।

अधिकतर इन कहानियों के पात्र रिश्तों की मधुरता और अपनी आज़ादी को बचाये रखने की कोशिश में दिखाई देते हैं। ये सभी कहानियाँ रिश्तों के बीच की कसमासाहट को जीने वाले पात्रों का जीवंत कच्चा चिठ्ठा है। यहाँ रिश्तों में आई कड़वाहट, ऊब, घुटन, बेचैनी, कसक, अनिच्छा, बोझिलता, पीड़ा, उदासीनता, उपेक्षा, खुदगर्जी, शून्यता इत्यादि स्पष्टतः देखी जा सकती है।

❐

सम्बंधों पर 'धूप'

आरती रानी प्रजापति

आरती रानी प्रजापति
जे. एन.यू.
एम.फिल हिंदी
मोबाइल ८४४७१२१८२९
aar.prajapati@gmail.com

सुदर्शन प्रियदर्शिनी की कहानी 'धूप' आज के समय में संबंधों में बढ़ रही कड़वाहट को चित्रित करती है। कहानी की भूमि अमेरिका है पर भाव पूरे जगत में व्याप्त रिश्ते की जद्दोजहद के हैं। एक परिवार का संबंध कितनी प्रकार की भावनाओं से होता है या हो सकता है इस कहानी से यह पता चलता है।

रेखा ने कभी नहीं सोचा था कि उसे विशाल से अलग रहने का फैसला लेना होगा। शादी में अलग रहने की धारणा मर जाती है। शादी सात जन्मों का साथ रहने का एक प्रमाण-पत्र जिसे खोने या तोड़ देने की परिकल्पना स्त्री के मन को गहराई तक आहत करती है। क्योंकि स्त्री के लिए उसका पति सिर्फ एक पुरुष नहीं उससे बढ़कर भी बहुत कुछ होता है। नाता जब टूटता है तो कितनी तकलीफ औरत को होती है कहानी के माध्यम से हमें यह समझ आता है।

यह कहानी भारतीय संस्कारों और पश्चिमी संस्कृति के टकराहट की भी कहानी है। यहाँ विशाल अमेरिका और रेखा भारतीय विचारों से प्रभावित हैं। दोनों की सोच में काफी अंतर है। रेखा विशाल के विचारों-स्वभावों का तालमेल न होना ही उनके सम्बंध को तोड़ देता है। विशाल को एक हृदय हीन पुरुष और रेखा को एक संवेदनशील स्त्री के रूप में प्रस्तुत किया गया है। रेखा विशाल के इस रूखेपन से परेशान है। उसे लगता है कि इसकी वजह उसका अमेरिका में होना है। विशाल के स्वभाव के कारण ही रेखा ने यह फैसला लिया जो एक सोचा-समझा कदम था। वह जानती थी कि ऊपरी तैयारी से ज़्यादा कहीं भीतरी तैयारी होती है, जो अंदर-ही-अंदर कहीं पकती रही थी और बाहर खबर तक नहीं हुई।[१]

स्त्री मनोविज्ञान की हम बात करें तो यहाँ रेखा के माध्यम से स्त्री मन को चित्रित किया गया है। विशाल को एक ऐसे पात्र के रूप में दिखाया गया है जो की अकेले रहने में खुश है। उसकी भावनाएँ अपने काम तक सीमित हैं। वह घर में ज़ोर-ज़ोर से बात करता है। अपशब्द कहने में भी हिचकता नहीं है। वह पति-पत्नी के संबंध को भी इतना महत्त्व नहीं देता जबकि 'संवेदनहीन' कहानी का पुरुष पात्र ऐसा नहीं है। वह कहानी भी अमेरिकी संस्कृति को दिखाती है। यहाँ रचनाकार ने अमेरिकी संस्कृति को नकारात्मक रूप से प्रस्तुत किया है।

वह कहती, 'तुम जानते हो कितने अमेरिकन हो गए हो'। 'अमेरिका में रहना है तो अमेरिकन होने में क्या बुराई है'?

'अमेरिका में सब-कुछ अच्छा नहीं है'।

'ऐसा बुरा भी कुछ नहीं है'।[२]

विशाल ने ऐसा कुछ भी नहीं किया था जिस कारण उसे इस तरह की बातों का सामना करना पड़ता था। अमेरिका की संस्कृति में ढलते हुए विशाल ने अपने बच्चों को आरम्भ से ही अपने पैरों पर खड़ा कर दिया।

वह पढ़ी-लिखी है, कहीं भी छोटी-मोटी नौकरी करके अपना पेट पाल लेगी और उसे मालूम है, बच्चे बड़े कर्मठ और मेहनती हैं, अपने बूते पर खड़े हो जाएँगे और हो रहे हैं।[३]

रेखा का ये सोचना कि वह बच्चे अपने पैरों पर खड़े हो रहे हैं विशाल के अमेरिकी संस्कारों की ही देन है। विशाल ने पैसे का सही मूल्यांकन सिखाने के लिए बच्चों से काम करवाया, उनसे खाने का अलग बिल भरवाया। उस समय रेखा की भावनाएँ आहत होती थी पर विशाल की इसी सिखाने की आदत ने बच्चों को परिपक्व बना दिया। अकेले रहने का निर्णय करते हुए उसे आम भारतीय महिला की तरह बच्चों की चिन्ता नहीं थी। क्या हम सिर्फ किसी देश की खासियत को समझे बिना उसकी आलोचना नहीं करते? कहानी में रचनाकार भी वही मानसिकता दर्शा रहे हैं कि अमेरिका है तो बुरा भारतीय है तो अच्छा। मैं ये नहीं कह रही कि रेखा को न चाहते हुए भी विशाल से संबंध रखना चाहिए क्योंकि वो उसकी पत्नी है। स्त्री की स्तंत्रता की मैं भी पक्षधर हूँ, पर उसकी घुटन को रचनाकार ने अमेरिकी संस्कृति का नाम गलत दिया है ऐसा मेरा मानना है। रेखा स्वतंत्र भी इसलिए हो पाती है क्योंकि वह अमेरिका में हैं। भारत में रहते हुए पति को उसके स्वभाव के कारण छोड़ देना इतना सरल नहीं यहाँ मौत से भी बदत्तर जीवन स्त्री जीती है। वह मार भी सहती है और अलग भी नहीं हो सकती। यहाँ का समाज उसे पति से अलग होने की इजाज़त नहीं देता। फिर वह सोच भी ले तो बच्चों की चिंता। रेखा इन दोनों से मुक्त है। जिस संस्कृति को वह बुरा कहती है उसी ने उसे स्वतंत्र होने की सोच दी है। कहानी में अमेरिका को एक संवेदनहीन देश के रूप में दिखाया है। जहाँ विशाल भी वैसा ही हो जाता है। भारत में संस्कार चरम पर हैं और अव्यवस्था भी। उस जड़ से चिपके रहते हैं जबकि उसमें लाख खामियाँ हैं। भारत में स्त्री मुक्ति नहीं है। उसे अत्याचार सहने पड़ते हैं। रेखा भी सह रही है पर अपने को वह विशाल से अलग कर सकती है। ऊपर से महान दिखाई देने वाली भारतीय परम्पराएँ यदि मनुष्य विरोधी हो तो क्या उन्हें सम्भालना चाहिए। भावनाओं से अतिशय निकटता जो मनुष्य के विकास में अवरोधी है, से जब अमेरिका या कोई भी देश ऊपर उठता है तभी सफल हो पाता है। इसलिए किसी देश को नकारात्मक रूप में प्रस्तुत करने से पहले उसकी नकारात्मकता की वजह जाननी चाहिए।

❐

संदर्भ सूची: १. कहानियाँ अमेरिका से, सम्पादन-इला प्रसाद, हिंदी साहित्य निकेतन, बिजनौर, पृष्ठ-४६, २. वही-पृष्ठ-४७, ३. वही-पृष्ठ-४८

हिंदी साहित्य में आलोचना से लगभग सभी लेखक असंतुष्ट रहे हैं

विश्वनाथ प्रसाद तिवारी

(पुस्तक की समीक्षा के बाद उसकी आलोचना विकसित होती है। इन दिनों पुस्तक समीक्षा की स्थिति बहुत ख़राब हो गई है। समीक्षा का अर्थ केवल और केवल पुस्तक की प्रशंसा करना ही रह गया है। समीक्षा के मूल तत्त्व क्या हैं ? समीक्षा किस प्रकार की होनी चाहिए और आलोचना से पहले समीक्षा की भूमिका क्या होती है, ऐसे ही कई सारे प्रश्नों का उत्तर तलाशने के लिए वरिष्ठ आलोचक द्वय श्री विश्वनाथ प्रसाद तिवारी एवं श्री पुष्पपाल सिंह के दो आलेख यहाँ 'आलोचना से पहले' खण्ड के अंतर्गत दिये जा रहे हैं। -संपादक)

विश्वनाथ प्रसाद तिवारी
बिटिया हाता
गोरखपुर २७३००१ उप्र

पुस्तक-समीक्षा की नियति आलोचना के व्यापक स्वरूप और उसकी वास्तविक स्थिति के साथ जुड़ी है। किसी भी भाषा में आलोचना की जो दशा और दिशा होती है, उससे उस भाषा की पुस्तक-समीक्षा भी नियंत्रित-संचालित होती है। अत: पुस्तक-समीक्षा की स्वायत्तता एक सीमा में ही संभव है। संस्कृत में पाठ-केंद्रित बहुत गंभीर टीकाएँ हुई थीं। आधुनिक संस्कृत साहित्य में इस प्रकार के उदाहरण नहीं मिलते। हिंदी के आधुनिक काल में गद्य की शुरुआत के साथ ही आलोचना का विकास हुआ पुस्तक-समीक्षा भी साथ ही शुरू हुई। बल्कि यह भी कहा जा सकता है कि भारतेन्दुकालीन आलोचना पुस्तक-समीक्षा के रूप में ही प्रारंभ हुई। लाला श्रीनिवास दास के 'परीक्षागुरु' और 'संयोगिता स्वयंवर' (1885 ई.) की उल्लेखनीय समीक्षा बालकृष्ण भट्ट ने की थी। 'संयोगिता स्वंयवर' की उनके द्वारा की गई समीक्षा तो इतनी बेलाग और सख्त थी कि उस युग की आलोचना में एक तूफान-सा आ गया था। कहना न होगा कि हिंदी आलोचना के प्रारंभ काल में ही पुस्तक-समीक्षा को गंभीरता से लिया जाने लगा था। प्रेमघन जी लिखते हैं-'रिव्यू अर्थात् समालोचना का अर्थ है-पक्षपातरहित होकर न्यायपूर्वक किसी पुस्तक के यथार्थ गुण-दोष की विवेचना करना और उससे ग्रंथकर्ता को विज्ञप्ति देना, क्योंकि रचित ग्रंथ के रचना के गुणों की प्रशंसा कर रचयिता के उत्साह को बढ़ाना एवं दोषों को दिखलाकर उसके सुधार का यत्न बताना कुछ न्यून उपकार का विषय नहीं है।'

''किसी अच्छे ग्रंथ की समालोचना करने के लिए समालोचक की योग्यता उसके ग्रंथकर्ता से अधिक अपेक्षित है। दूसरे, उसे भी उतनी ही सावधानी और परिश्रमपूर्वक देखने की आवश्यकता है, जितनी उसके ग्रंथकर्ता को उसके संशोधन में होती है।' ('प्रेमघन सर्वस्व, द्वितीय भाग') आज से एक शताब्दी पूर्व लिखे गए उपयुक्त शब्दों में पुस्तक-समीक्षा की जो विशेषताएँ बताई गई हैं, वे आज भी उतनी ही सच और ज़रूरी हैं। अर्थात् सच्ची पुस्तक-समीक्षा पक्षपात रहित होकर ही की जा सकती है। वह यथार्थ गुण-दोष की विवेचना करती है तभी पुस्तक-समीक्षक की योग्यता ग्रंथकर्ता से कम नहीं होनी चाहिए। मगर आज स्थिति इस प्रतिज्ञा के ठीक उलटी है।

वास्तविकता यह है कि हिंदी साहित्य में आलोचना से लगभग सभी लेखक असंतुष्ट रहे हैं। पड़ताल करें तो भारतेन्दु युग से लेकर अज्ञेय तक इसके साक्ष्य मिल जाएँगे। 'हिंदी में आलोचना' शीर्षक अपने एक लेख ('सुधा' (मासिक), लखनऊ, जुलाई, 1933, सपांदकीय) में महाकवि निराला लिखते हैं-'हिंदी का आलोचनात्मक वर्तमान साहित्य देखकर किताब फाड़कर फेंक देने की तबीयत होती है।' इसी लेख में वह यह भी लिखते हैं कि-'आलोचना अच्छी वह है, जो कृति से पीछे न रहे, चाहिए कि बढ़ जाए।' आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का एक प्रसिद्ध निबंध है-'आपने मेरी रचना पढ़ी?'। इस निबंध में पुस्तक-समीक्षकों पर व्यंग्य करते हुए वह लिखते हैं-'पुस्तक को छुआ तक नहीं और आलोचना ऐसी लिखी कि त्रैलोक्य विकंपित। यह क्या कम साधना है?' आगे वे कहते हैं-'साहित्य से संबंध रखने वाले जीव पाँच प्रकार के हैं-लेखक, पाठक, सपांदक, प्रकाशक और आलोचक। सबके क्षेत्र अलग-अलग हैं। पढ़ने वाला आलोचना नहीं करता, आलोचना करने वाला पढ़ता नहीं-यही तो उचित नाता है। एक ही आदमी पढ़े भी लिखे भी, या पढ़े भी और आलोचना भी करे या लिखे भी इत्यादि-इत्यादि, तो साहित्य में अराजकता फैल जाए।' ('अशोक के फूल') निराला और हजारीप्रसाद द्विवेदी जैसे बड़े लेखक यदि आलोचना और पुस्तक-समीक्षा से असंतुष्ट हैं तो मानना पड़ेगा कि आलोचना और पुस्तक-समीक्षा में कुछ बुनियादी खामियाँ हैं। आज तो शायद ही कोई ऐसा लेखक हो जो आलोचना की वर्तमान हालत के प्रति असंतोष न प्रकट करता हो। कहना न होगा कि हिंदी में

आलोचना आज सबसे अधिक अविश्वसनीय विधा के रूप में देखी जा रही है। आलोचना के प्रति असंतोष और उसकी अविश्वसनीयता के कारण क्या हैं ? संभवत: सबसे बड़ा कारण है-दलीय प्रतिबद्धता। आलोचना के राजनीतिकरण के कारण लेखकों के अलग-अलग संघ बन गए हैं। इन लेखक संघों की स्थिति यह है कि ये अपने-अपने सेट के नामों का जप करते रहते हैं। परिणामस्वरूप रचना केंद्र में नहीं रह गई है, केंद्र में प्रतिष्ठित हो गई है-पार्टी। रचना का केंद्र से स्खलन कोई आज की बात नहीं है। इसकी शुरुआत बहुत पहले हो गई थी। अक्टूबर,1934 में 'साहित्य में समालोचना' शीर्षक लेख में निराला लिखते हैं-'प्रतिदिन लेखक जिस नव-साहित्य की सृष्टि करता है, उसे छानकर उसके तत्व को पाठकों के सम्मुख रखना आलोचक का काम है। ऐसी दशा में आलोचना को यदि पार्टी प्रोपेगैंडा का एकमात्र उपाय बना लिया जाए, तो कहना न होगा,साहित्य की उन्नति में भयंकर बाधा पहुँचेगी। साहित्य और समाज के प्रति अपने महान् उत्तरदायित्व को समझ आलोचक को दलबंदी या वैयक्तिक ईर्ष्या-द्वेष किंवा उसके प्रतिकूल भावों को पहले हृदय से निकाल देना होगा। अतिशयोक्तिपूर्ण निंदा व प्रशंसा, साहित्य के लिए दोनों ही घातक हैं।' आगे निराला लिखते हैं-'हाथ में काँटा ले एक पलड़े में उसने आलोच्य वस्तु रखी, दूसरे में अपने सिद्धांत। तौल में जैसी वह वस्तु उतरी, वैसी ही कीमत लगा दी। ऐसी दशा में आलोचक पहले से ही लेखक से अपने को बड़ा मान लेता है। वह चाहता है,जैसे उसके विचार हैं, उन्हीं के अनुकूल लेखक लिखे। जैसा आनंद वह चाहता है, लेखक वैसा ही आनंद उसे दे। उससे भिन्न आनंद की कल्पना करना उसके लिए कठिन होता है। परंतु प्रत्येक लेखक, जो अपनी सच्ची मौलिकता से किसी कृति को जन्म देता है, अपना एक निराला वायुमंडल अपने साथ रखता है। संभव है, उसकी कृति के भीतर पैठने के लिए आलोचक को अपने सभी पूर्व विचारों को बदलना पड़े। सहृदयतापूर्वक आलोचक जब तक ऐसा करने को प्रस्तुत नहीं रहता,वह लेखक की सच्ची आत्मा तक, जो उसकी कृति के भीतर बोल रही है, पहुँचने की आशा नहीं कर सकता।' ('सुधा'(मासिक), लखनऊ, अक्टूबर, 1934, सपांदकीय) अपने उपर्युक्त शब्दों में निराला ने आलोचना या पुस्तक-समीक्षा के लिए कुछ बहुत जरूरी बातो को रेखांकित किया है। पहली बात, कि आलोचना को पार्टी प्रोपेगैंडा नहीं होना चाहिए। दूसरी, कि आलोचक को व्यक्तिगत ईर्ष्या-द्वेष से मुक्त होना चाहिए। तीसरी, किस कृति की अतिशयोक्तिपूर्ण निंदा या प्रशंसा नहीं होनी चाहिए। और चौथी, कि आलोचक को अपने पूर्वग्रह छोड़कर कृति के भीतर सहृदयता से पैठना चाहिए तथा कृति के वायुमंडल के भीतर ही उसकी आत्मा तक पहुँचने की कोशिश करनी चाहिए। निराला ने जिस कृति-केंद्रित आलोचना पर बल दिया है, आगे चलकर उसे बार-बार दोहराया गया है और 'आलोचना:कृति की राह से' जैसी माँग उठी। इन्द्रनाथ मदान ने अपने कई लेखों और कथाकृतियों की समीक्षाओं में इसकी चर्चा की। कहना न होगा कि कृतियों की राह से गुज़रकर ऐसी बहुत-सी महत्त्वपूर्ण समीक्षाएँ हिंदी में लिखी गई। नेमिचन्द्र जैन ने स्वाधीनता के बाद के कुछ महत्त्वपूर्ण उपन्यासों का गंभीर मूल्यंकान किया। ये उपन्यास हैं-'उसका बचपन' (कृष्ण बलदेव वैद), 'नदी के द्वीप' (अज्ञेय), 'मैला आँचल' (रेणु), 'यह पथबंधु था' (नरेश मेहता), 'बूँद और समुद्र' (अमृतलाल नागर), 'झूठा सच' (यशपाल), 'भूले-बिसरे चित्र' (भगवतीचरण वर्मा), 'जयवर्धन' (जैनेन्द्र कुमार) और 'चारुचन्द्रलेख' (हजारीप्रसाद द्विवेदी)। इन उपन्यासों की समीक्षाएँ नेमिचन्द्र जैन की पुस्तक 'अधूरे साक्षात्कार' (1996) में एक साथ पढ़ी जा सकती हैं। इसी प्रकार देवीकशंकर अवस्थी के 'विवेक के रंग' में अनेक महत्त्वपूर्ण पुस्तक-समीक्षाएँ एक जगह देखी जा सकती हैं। 1964 ई0 में इलाहाबाद में 'विवेचना' नामक साहित्यिक संस्था की स्थापना हुई, जिसका पुस्तक-समीक्षा के इतिहास में एक महत्त्वूर्ण योगदान है। इस संस्था की स्थापना वाचस्पति पाठक की पहल पर हुई थी, जिसके संस्थापक सदस्यों में विजयदेव नारायण साही, जगदीश गुप्त, लक्ष्मीकांत वर्मा, रघुवंश, रामस्वरूप चतुर्वेदी, अमृतराय, इलाचन्द्र जोशी, नरेश मेहता, बालकृष्ण राव आदि थे। संयोजक थीं उमा राव। इस संस्था की पहली बैठक 23 फरवरी 1964 को हुई थी। इस संस्था द्वारा आयोजित प्रत्येक गोष्ठी में किसी अधिकारी विद्वान् द्वारा किसी एक साहित्यिक कृति की समीक्षा प्रस्तुत की जाती थी और उस पर विचार-विमर्श होता था। 'विवेचना' की इन गोष्ठियों में पढ़े गए लेखों का प्रकाश 'माध्यम' पत्रिका में होता था और 'माध्यम' के बंद होने पर 'कल्पना' में हुआ करता था। 'विवेचना' की गोष्ठियों में-'चारुचन्द्र लेख' (हजारीप्रसाद द्विवेदी), 'समय और हम' (जैनेन्द्र कुमार), 'यह पथबंधु था'(नरेश मेहता) 'भाषा और समाज' (रामलिास शर्मा),'अपने-अपने अजनबी' (अज्ञेय), 'एक साहित्यिक की डायरी' (मुक्तिबोध), 'शहर में घूमता आईना' (अश्क), 'हम विषपायी जनम के' (बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'), 'अँधेरे बंद कमरे' (मोहन राकेश), 'अभिनव सोपान' (बच्चन), 'बूँद और समुद्र' (अमृतलाल नागर), 'लोकायतन' (सुमित्रानन्दन पंत), 'जलती झाड़ी' और 'वे दिन' (निर्मल वर्मा), 'आत्मजयी' (कुँवर नारायण), 'भूले-बिसरे चित्र' (भगवतीचरण वर्मा), 'रस सिद्धांत' (नगेन्द्र), 'उर्वशी' (दिनकर), 'चाँद का मुँह टेढ़ा है' (मुक्तिबोध), 'आँगन के पार द्वार' (अज्ञेय), 'झूठा सच' (यशपाल), 'सागर, लहरें और मनुष्य' (उदयशंकर भट्ट),'मछलीघर' (विजयदेव नारायण साही),'आत्महत्या के विरुद्ध' (रघुवीर सहाय) आदि अत्यंत महत्त्वपूर्ण कृतियों की समीक्षाएँ क्रमश: देवीशंकर अवस्थी, हर्षनारायण, नेमिचन्द्र जैन, विद्यानिवास मिश्र, रामस्वरूप चतुर्वेदी, नामवर सिहं, बच्चन सिंह, भारतभूषण अग्रवाल, इलाचन्द्र जोशी, बालकृष्ण राव, रघुवंश, सावित्री सिन्हा, शिवप्रसाद सिंह, श्रीकान्त वर्मा, लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, जगदीश गुप्त, प्रयागनारायण त्रिपाठी, हरिनारायण व्यास, लक्ष्मीकान्त वर्मा, इन्द्रनाथ मदान, प्रेमशंकर, नागेश्वर लाल, रमेशचन्द्र शाह जैसे विख्यात आलोचकों ने की थी। उपर्युक्त पुस्तकों और समीक्षकों की सूची देखकर कहा जा सकता है कि हिंदी में पुस्तक-समीक्षा के गंभीर प्रयास हुए हैं और आलोचना का यह आयाम दरिद्र नहीं है लेकिन दु:ख के साथ कहना पड़ता है कि सातवें दशक के बाद पुस्तक-समीक्षा के ऐसे गंभीर प्रयास नहीं के बराबर हुए और पता नहीं क्यों, गंभीर आलोचकों-लेखकों ने अपने को पुस्तक-समीक्षा के कार्य से विरत कर लिया। पिछले लगभग तीन दशकों के परिदृश्य पर ध्यान दें तो प्रतीत होता है कि महत्त्वपूर्ण लेखकों ने पुस्तक-समीक्षा को संभवत: गंभीर आलोचना-कर्म मानना ही बंद कर दिया। केवल कुछ गिनी-चुनी पत्रिकाओं ने अच्छी समीक्षाएँ

प्रकाशित कीं। इस संदर्भ में 'कसौटी' (संपादक: नन्दकिशोर नवल) का उल्लेख किया जा सकता है, जिसने पुस्तक-समीक्षा को गंभीरता से लिया। हिंदी में पुस्तक-समीक्षा के लिए समर्पित पत्रिकाएँ केवल दो ही रही हैं-'प्रकर' और 'समीक्षा'। 'प्रकर' तो एक लंबे समय तक निकलने के बाद बंद हो गई, पर 'समीक्षा' (सपांदक: डॉ.गोपाल राय) का प्रकाशन लगभग पैंतीस वर्षों से अब भी जारी है। इन दोनों पत्रिकाओं ने पुस्तक-समीक्षा के क्षेत्र में उल्लेखनीय योदान किया है। अशोक वाजपेयी के प्रेरणा से महात्मा गाँधी अंतर्राष्ट्रीय हिंदी विश्व-विद्यालय ने भी 'पुस्तक-वार्ता' नाम से एक पुस्तक-समीक्षा की पत्रिका शुरू की, जो कुछ वर्षो से प्रकाशित हो रही है। मगर यह भी दु:ख के साथ लिखना पड़ा रहा है कि पुस्तक-समीक्षा की पत्रिकाओं को आलोचकों का वांछित सहयोग नहीं मिल रहा है।

आज लगभग सभी पत्रिकाओं में पुस्तक-समीक्षाएँ तो थोक भाव से प्रकाशित हो रही हैं अखबारों में रेडियो और टेलीविजन पर भी पुस्तक-चर्चाएँ होती रहती हैं, पर इनमें से अधिकांश या तो प्रायोजित हैं या एक फ़र्ज़-अदायगी की तरह। साहित्य की दुनिया में आज एक अजीब हड़बड़ी व्याप्त है। अधिकांश लेखक यशेषणा से पीड़ित हैं और उनके भीतर इतिहास-प्रवेश की लालसा बहुत तीव्र है। यह किसी की भी एक स्वाभाविक कमज़ोरी हो सकती है,मगर इसके लिए तात्कालिकता का रास्ता खतरनाक होता है। जब लेखक अधिक से अधिक छपने और चर्चा कराने के फेर में रहता है तो वह अपनी पुस्तकों की प्रायोजित समीक्षाएँ कराता है। हिंदी में ऐसे पेशेवर आलोचक भी बहुत हैं,जो छपास रोग से ग्रस्त हैं। किसी नए लेखक की कोई पुस्तक छपी नहीं कि वे अपनी समीक्षा के साथ अखबारों में पहुँच जाते हैं। कुछ तो नई प्रकाशित पुस्तकों की समीक्षाएँ इस मुक्त मन से लिखते हैं, जैसे बच्चों को रेवड़ी बाँट रहे हों ! साहित्य में बाज़ारवाद का विरोध करने वाले लेखकों का बाज़ार के प्रति आकर्षण समझ में नहीं आता। इस बाज़ारवाद के चलते पुस्तकों के लोकार्पणों की भरमार हो गई है। कुछ बड़े आलोचक तो इसके स्थायी 'पुरोहित' बन गए हैं। उनके लिए सुविधा है कि बिना किसी लिखित ज़िम्मेदारी के जो चाहे मौखिक प्रवचन करें। एक आलोचक तो कई कवियों की कविताओं के लिए नए काव्यशास्त्र की माँग कर चुके हैं। कुछ आलोचक पुस्तकों के फ्लैप पर अपनी अतिशयोक्तियों का प्रयोग करने में माहिर हैं। वे किसी उपन्यास को दुनिया का सर्वश्रेष्ठ उपन्यास इस मासूमियत के साथ घोषित कर देते हैं, जैसे दुनिया के सारे उपन्यास उन्होंने पढ़ लिए हों। रेडियो-टेलीविजन पर जो पुस्तक-समीक्षाएँ होती हैं, उनमें तो बस नामोल्लेख मात्र होता है, चाहे वह 'सुबह-सवेरे' का हो या 'सायं-संध्या' का। मीडिया के आकर्षण से ग्रस्त लेखक आत्मप्रशंसा चाहता है और उसकी इस इच्छा को मीडिया द्वारा फुलाया गया आलोचक पूरा कर देता है। परिणाम यह हुआ है कि आज समीक्षा पढ़कर कोई पाठक पुस्तक नहीं खरीदता और यदि उसने खरीद ली तो सिवाय माथा पीटने के उसके सामने कोई विकल्प नहीं होगा।

आलोचक या पुस्तक-समीक्षक के लिए जिस व्यक्तिगत राग-द्वेष से मुक्ति की ज़रूरत निराला जी ने अपनी टिप्पणी में महसूस की है, वह बहुत कठिन है। यह एक व्यक्तिगत तप की तरह है। सहज-सात्विक मन के भी कोने-अँतरे में कहीं ईर्ष्या के कण चिपके होते हैं। स्वयं निराला ने 'पंत और पल्लव' शीर्षक के अपने लंबे और प्रसिद्ध निबंध में पंत के 'पल्लव' संग्रह की चुन-चुनकर खामियाँ बताई हैं। निराला का यह अति चर्चित निबंध 1927-28 की 'माधुरी' में पाँच किस्तों में प्रकाशित हुआ था। इसमें कोई संदेह नहीं कि यह निबंध स्वंय निराला की प्रखर और सूक्ष्म आलोचनात्मक प्रतिभा का भी उत्कृष्ट नमूना है, फिर भी ऐसा लगता है जैसे निबंध का प्रस्थान दोष दर्शन के संकल्प से हुआ है और कहना न होगा कि आलोचक के संकल्प के साथ विषय के प्रति उसका सलूक भी बदल जाता है।

इस समय हिंदी साहित्य में उत्तर-आधुनिकता और दलित-विमर्श अति चर्चा में हैं। इन दोनों का पुस्तक-समीक्षा पर विध्वंसात्मक प्रभाव पड़ा है। उत्तर-आधुनिकता पाठ को तो बहुत महत्त्व देती है, पर उसे अनेकार्थी, अनेकांत और बहुलतावादी मानती है। उसके अनुसार पाठ अंतिम नहीं होता, उसकी कोई सीमा नहीं होती। उसका लेखक से कुछ लेना-देना नहीं। उसका न कोई नियम है, न परंपरा। इस प्रकार पाठ को सबसे अलग करके पाठकर्ता की इच्छा का विषय बना देना उसे एक अराजक स्थिति में डाल देना है। उत्तर-आधुनिकता महान्, उदात्त, शाश्वत, सार्वभौम, पूर्ण, समग्र जैसे शब्दों को स्वीकार नहीं करती। इन शब्दों का हिंदी-समीक्षा में भरपूर इस्तेमाल होता रहा है। यदि ये शब्द निरर्थक और व्यर्थ मान लिए जाएँ तो फिर हिंदी-समीक्षा क्या अर्थहीन नहीं हो जाएगी ?

दलित-चेतना संपूर्ण हिंदी साहित्य को सवर्ण, हिंदुओं और ब्राह्मणों का साहित्य मान रही है। हिंदी के सभी बड़े लेखक और आलोचक उसके निशाने पर हैं-प्रेमचन्द, निराला, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, हजारीप्रसाद द्विवेदी, नागार्जुन, अमृतलाल नागर, रामविलास शर्मा आदि। जिन कृतियों को हिंदी आलोचना ने रेखांकित करते हुए सर्वाधिक महत्त्व दिया, उनकी धज्जियाँ उड़ाई जा रही हैं। प्रेमचन्द के उपन्यास 'रंगभूमि', जिसे आलोचकों ने महान् उपन्यास बताया था, का दहन किया गया। जिस 'कफ़न' कहानी को लगभग सर्वश्रेष्ठ का दर्जा हासिल हुआ था, कहा जा रहा है कि प्रेमचन्द ने उसमें चरित्रों का लफंगीकरण (लुम्पेनाइजेशन) किया है। जिसे उपन्यास-सम्राट की उपाधि दी गई थी, उसे 'सामंत का मुंशी' कहा जा रहा है। जिस 'राम की शक्तिपूजा' को हिंदी की लगभग सर्वश्रेष्ठ कविता स्वीकार किया गया, उसे एक हिंदू कवि द्वारा लिखी गई वर्णव्यवस्था की पोषक कविता कहा जा रहा है। जो आलोचना-पुस्तक एक 'क्रांतिकारी' कृति के रूप में सर्वाधिक लोकप्रिय हुई, उसे (कबीर-हजारीप्रसाद द्विवेदी) एक ब्राह्मण आलोचक की आलोचना माना जा रहा है। हिंदी के प्रथम महान् आलोचक रामचन्द्र शुक्ल को वर्णाश्रम धर्म का समर्थक तथा अनंतिम बड़े आलोचक रामविलास शर्मा को छद्म प्रगतिवादी और ब्राह्मणवादी कहा जा रहा है। दलित विचारकों के लिए सभी सवर्णों की कृतियाँ खारिज ! अब बताइए, पुस्तक-समीक्षा का क्या होगा ? निश्चित ही स्थिति भयावह है, फिर भी निराश होने की ज़रूरत नहीं है। संकटों के बीच ही पुरुषार्थ प्रकट होता है। हमारी नई पीढ़ी के लेखक, आलोचक, संपादक पुस्तक-समीक्षा के समक्ष उपस्थित चुनौतियों का ज़िम्मेदारी से मुकाबला करेंगे और अपनी समझदारी तथा निष्पक्षता से उनका उत्तर देंगे। यह उनके अस्तित्व का संघर्ष है, जिसे एक अदना प्राणी भी अपनी पूरी क्षमता से लड़ता है।

❐

पुस्तक-समीक्षा : रचना और आलोचना के संबंधों की पुनर्पड़ताल

पुष्पपाल सिंह

रचना और आलोचना का संबंध सदैव ही प्रश्नों के घेरे में रहा है। साहित्य के आधुनिक युग में, जब से रचना की परख के लिए आलोचना प्रवृत्त हुई, प्राय: ही यह शिकायत दर्ज होती रही कि कृति का ठीक-ठीक मूल्यांकन नहीं हो सका है। रचना की पूरी समझ का सम्यक् विवेक आलोचना में नहीं हैं, संशय का यह स्वर बार-बार उठता ही है। हाँ, यदि आलोचना-पुस्तक को सिर्फ 'सराहना', 'विशुद्ध रूप में यशोगान' ही दे सके तो बढ़िया आलोचना है, अलोचक 'श्रेष्ठतम' है, नहीं तो वह व्यर्थ और दो कोड़ी का है। इसका 'अर्थात्' यह हुआ कि आलोचना रचनाकार की अपेक्षाओं के अनुरूप ही चले, उसकी शोभा-यात्रा में पालकी को कंधे ही देती रहे। प्राय: हो भी वही रहा है और पुस्तक-समीक्षा के लिए रखी गई प्रायोजित गोष्ठियों और लोकार्पण के उत्सवधर्मी आयोजनों में कृति को वस्तुनिष्ठ ढंग से जाँचा-परखा नहीं जाता अपितु उसका और रचनाकार की 'मार्केटिंग' का उपक्रम किया जाता है। दिल्ली के (कदाचित् अन्य नगरों, कस्बों और महानगरों की लोकार्पण गोष्ठियों में भी यही सब हो रहा है।) लोकार्पण समारोहों, जो कभी-कभी पाँचसितारा होटलों में भी आयोजित होते हैं, की रिपोर्ट पढ़कर यदि कोई पाठक उस पुस्तक को इस आशा से देखे कि इतनी नामी-गिरामी हस्तियों ने कृत्ति की अभ्यर्थना में इतना कुछ कहा है तो निस्संदेह इसमें कुछ होगा ही, तो ज़रूरी नहीं कि सभी कृतियों में वह सब कुछ हो ही। इससे यह निष्कर्ष भी सहज ही निकाला जा सकता है कि 'गोष्ठीबाज' रचना-सम्राटों और आलोचना-सम्राटों की एक अलग जमात ही बनती जा रही। पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित पुस्तक-समीक्षाएँ प्राय: ही एक रूढ़ि-सी में ढलती चली जा रही हैं-दो-एक दबे स्वर में कमियाँ-बस, हो गई पुस्तक-समीक्षा-कर्म की इतिश्री। एक 'व्यावसायिक समीक्षक' ने बड़ी शान से सीना चौड़ा करते हुए कहा कि वे एक ही रात, संध्या में किसी पुस्तक की समीक्षा तैयार कर लेते हैं-यह पूछने पर कि ऐसी कौन-सी मशीन है जो इतनी जल्दी किताब पढ़ भी ली जाती है और समीक्षा भी हो जाती है तो उनका उत्तर था-'आधी समीक्षा तो पुस्तक के फ्लैप पर ही होती है और आधी भीतर से दो-एक जगह पृष्ठ पलटने से हो जाती है।' इस प्रसंग का उल्लेख इसलिए आवश्यक था कि पुस्तक-समीक्षा की स्थिति कमोबेश वही बनती जा रही है। पुस्तक समीक्षा से पहले अपने गंभीर पाठ की अपेक्षा रखती है। 'आलोचना एक प्रकार का पुन:सृजन है' जैसे कथन अपनी अर्थत्ता खो रहे हैं।

उपभोक्तावादी समय में पुस्तक-आलोचना ने अपने को बहुत सस्ता बना लिया है, उसने अपना स्तर गिराने में कोई कोर-कसर नहीं रखी है। इसीलिए उसे समय-समय पर रचनाकार की जायज़ और नाजायज़, आक्रोशशील टिप्पणियाँ सुनने को बाध्य होना पड़ता है। यूँ एक लेखकीय फैशन आम ही है कि 'मैं कभी आलोचना की परवाह नहीं करता', मैं आलोचना को दो कौड़ी का समझता हूँ या एक उपन्यासकार का अपने उपन्यास में कथन है-'आलोचना के कारखाने में ज़्यादातर काम ऐसे लौंडे-लपाड़े कर रहे हैं, जिन्हें अभी जाँघिया बाँधना भी नहीं आता। (सत्येनकुमार, 'छुट्टी का

पुष्पपाल सिंह
केसरबाग
पटियाला, पंजाब
मोबाइल ९४१७८६५६५१

दिन', पृ. 224) कभी-कभी तो रचनाकारों की यह खीझ या चिढ़ गाली देने की सीमा तक पहुँचती है, सारे लेखकीय शील और अभिव्यक्ति की गरिमा को उतारकर रख देने की हद तक। बात थोड़ी पुरानी है, 'सारिका' (मई-2) 1986 में रमेश बक्षी ने कहा था, आलोचक को हम नकार तो नहीं सकते, परंतु मेरी नज़र में तो आलोचक कल भी दो कौड़ी के थे, आज भी हैं और कल भी रहेंगे।' हाल फिलहाल की बात करें तो अपने उपन्यास की आलोचना से तिलमिलाकर दूधनाथ सिंह ने जो उवाचा वह स्मृति में ताज़ा ही है। इस प्रकार की घोषणाओं की एक लंबी परंपरा है, तो भी 'सही आलोचना' को इस प्रकार की टिप्पणियों से घबराने की आवश्यकता नहीं है, किंतु अपने आलोचना-कर्म का निर्वाह 'धर्म' के रूप में करते रहना चाहिए। ये घोषणाएँ मात्र लेखकीय दंभ और 'सार्वजनिक दिखावे' भर की चीज़ हैं। कुछ एक अपवादों की छोड़कर प्राय: सभी रचनाकार अपनी कृति के संबंध में उसी आलोचकीय विवेक को जानने को समुत्सुक रहते हैं, जिसे वे एकाधिक बार 'अक्षम', 'अयोग्य' सिद्ध कर गलिया और लतिया चुके होते है। यह स्थिति तब और भी हास्यास्पद बन जाती है जब वे 'जानते' और 'मानते' हुए भी कि अमुक 'स्टार आलोचक' ने पढ़ना-लिखना छोड़ दिया है, कब का छोड़ दिया है, उसे ही 'गॉडफादर' मानते हुए उनके 'आर्ष कथनों', 'वचनों' को सुनने के लिए लालायित रहते हैं। ये निरंतर तलाश में रहते हैं कि उन्हें वही आलोचना 'यथेष्ट ऊँचाई' प्रदान कर सके। जब कोई ऐसा आलोचक किसी पुस्तक की आलोचना-अभ्यर्थना में कह देता है-'ऐसी पुस्तक मैंने बहुत दिन बाद पढ़ी' या 'बहुत दिन बाद पढ़ने को मिली' तो इसमे लेखक के गद्‌गद होने की स्थिति कहाँ बनती है? वस्तुत: बहुत दिनों बाद ही उन्होंने कोई किताब पढ़ी होगी। रचनाकार को यह बात समझ में आ जानी चाहिए, पर पता नहीं क्यों,अधिकांश इसे समझना नहीं चाहते कि आलोचना की बैसाखियाँ कमज़ोर रचना को बहुत देर तक सहारा नहीं दे पातीं। इस संबंध में काल बड़ा क्रूर निर्णायक है।

आज के साहित्यिक परिदृश्य में आशावान बात यह है कि वक्ती चर्चाओं गोष्ठियों की अभिनंदनीय टिप्पणियों, लोकार्पण समारोहों की 'अहो रूपम्, अहोध्वनि' से अलग हटकर भी गंभीर समीक्षा-कर्म हो रहा है, उसकी अपनी पहचान बनी है। उसे समुचित मान्यता भी मिली है। आज आलोचना में इतनी समझ,परिपक्व सोच विकसित हो चुकी है कि न तो वह किसी पत्रिका द्वारा कृति विशेष पर 'कृपा भाव' से कई-कई अंकों में प्रायोजित चर्चाएँ करा देने से प्रभावित होती है, न ही बड़े पदधारी, नामधारी लोगों के आर्ष बचनों से अभिभूत हो अपने निष्कर्ष निकालती है और न ही कृति पर घोषित पुरस्कारों आदि से प्रभावित होती है। पाठक को भी यह बात भली भाँति समझ में आने लगी है कि यदि किसी 'नामी' आदमी ने किसी सामान्य-सी कृति को 'अति महत्त्वपूर्ण' बताया है तो उसके पीछे क्या छोटा-बड़ा स्वार्थ हो सकता है। भले ही वह इतना-भर ही क्यों न हो कि उस बड़े साहित्यिक संस्थान का वह रचयिता उन्हें अपने तामझाम वाले साहित्यिक आयोजन में नहीं बुलाएगा। अचानक ही मीडिया से जुड़े और प्रशासन-तंत्र में उच्चपदस्थ लोगों में साहित्यकारों की एक नई जमात उभरकर आ रही है। अब पाठक को समझ है कि कौन-सी समीक्षा पुस्तक को आसमान पर चढ़ाकर राजनीति कर रही है और कौन-सी सही अर्थों में कृति का मर्म टटोल रही है। कुछेक उदाहरण इस कथन के साक्ष्यस्वरूप द्रष्टव्य होंगे। उपन्यास की ही समीक्षा को लें तो 'मुझे चाँद चाहिए', 'खिलेगा तो देखेंगे','कलिकथा वाया बाईपास' आदि कृतियों के उदाहरण हमारे सामने हैं। 'मुझे चाँद चाहिए' की भरपूर चर्चा हुई, साहित्य अकादमी का प्रतिष्ठित पुरस्कार भी उस पर मिला, कई-कई संस्करण (भला हो थोक खरीदों का) भी प्रकाशित हुए, किंतु फिर भी संजीव और पंकज बिष्ट आदि ने तीखी टिप्पणियाँ 'वर्तमान साहित्य आदि में दीं।' 'खिलेगा तो देखेंगे' को भी उसी प्रकार अभूतपूर्व कृति का दर्जा राजेन्द्र यादव आदि ने दिया। 'कलिकथा वाया बाईपास' की भी खूब-खूब चर्चा हुई, किंतु फिर भी अश्विनी कुमार दुबे ('अक्षर पर्व', मार्च 1999) तथा निर्मला गर्ग ('कल के लिए', मार्च 1999) आदि की टिप्पणियों में उठाए गए सवाल बहुत दूर तक सही लगते हैं। अभी हाल ही में आए किसी सामान्य-से पृथुल उपन्यास की तुलना टॉलस्टाय के 'वार एंड पीस' से कर दी गई। राजेन्द्र यादव ने 'हंस' के उपन्यास केंद्रित अंकों में 'हमज़ाद', 'मुर्दों के लिए गुलदस्ता', 'प्रेमी-प्रेमिका संवाद' जैसे उपन्यासों को रेखांकित करने का प्रयास किया, किंतु क्या पाठक उन्हें उसी रूप में स्वीकार कर पाए ? ये और अन्य बहुत-से उदाहरण यह सूचित करने के लिए पर्याप्त है कि पुस्तक-समीक्षा कोई ऐसा मार्ग प्रशस्त नहीं कर पाई कि रचना और पाठक के बीच कोई विश्वसनीय संवाद स्थापित हो सका हो। फिर भी आलोचना के 'बोदेपन' से विचलित न होकर यह विचार करना प्रासंगिक होगा कि पुस्तक-आलोचना में आलोचक की सम्यक् भूमिका क्या हो सकती है ?

पुस्तक-समीक्षा के संदर्भ में यह नितांत आवश्यक रूप में विचारणीय है कि आलोचना की बुनियादी प्राथमिकताएँ, उससे अपेक्षाएँ और उसकी कूबत क्या है ? अकादमिक आलोचना-ग्रंथों में निर्दिष्ट समीक्षा या समीक्षक के दायित्वों से अलग हटकर यदि विचार किया जाए तो आज आलोचना की सबसे महत्त्वपूर्ण भूमिका यह हो सकती है कि वह 'पढ़े जाने योग्य' का रेखांकन कर साहित्य को समाज से जोड़ने का दायित्व निर्वाह करे। आज शब्द और पुस्तक का प्रसार सभी कालों, समयों से अधिक हुआ है। अब 'छपने' की इतनी अधिक सुविधाएँ उपलब्ध हैं कि जो चाहे 'छप' रहा है, जिसका चाहे 'छप' रहा है-ढेरों-ढेर पत्रिकाएँ, समाचार-पत्रों के सप्ताह में कई-कई 'पुल आउट्स', प्रकाशन संस्थाओं, प्रकाशकों की खूब बाढ़ आदि द्वारा नित्य नए साहित्य का प्रकाश हो रहा है। ऐसे में आलोचना को यह विवेक देना होगा कि 'छपे हुए' और 'छपने योग्य' के अंतर को पहचाना जाए। इसे श्रेष्ठ साहित्य के रेखांकन करने का महत् कार्य मानकर ही पुस्तक-आलोचना दायित्वपूर्ण ढंग से निभाए, यह बहुत बड़ी सामयिक आवश्यकता है। किंतु यह बात मात्र सिद्धांत-कथन भर बनकर रह जाती है, व्यवहार में इस स्थिति में बड़ा घालमेल चल रहा है। पत्रिकाओं में प्रकाशित समीक्षाएँ काफी हद तक 'निर्देशित' और 'प्रायोजित' भी होती हैं। कभी-कभी बड़ी कोफ्त होती है यह देखकर कि कोई सामान्य या अति सामान्य-सी कृति भी खूब-खूब 'प्रतिष्ठित' आलोचकों द्वारा इसलिए सराही गई या आसमान पर बिठा दी गई कि इससे उन्हें कोई बहुत ही छोटी-सी उपलब्धि हो जाएगी। पुस्तकालोचन की इस स्थिति को सुधारने में आलोचक,प्रकाशक और लेखक तीनों की ही सहयोगी दृष्टि वांछित परिणाम उपस्थित

कर सकती है। आलोचक को अपने दायित्व और हैसियत दोनों का ही मान होना चाहिए। आलोचक को निश्चय ही ध्यान में रखना होता कि इससे पूर्व इसी कथ्य पर जो कृतियाँ हैं, यह कृति उनसे किस प्रकार अलग है और यह अन्य कृतियों की तुलना में कितनी और किस प्रकार अलग जा सकी है ? इस प्रकार के फतवे देने से कोई लाभ नहीं कि 'इस विषय पर अभी तक कोई ऐसी कृति लिखी ही नहीं गई आदि। इस निर्णयात्मक और तुलनात्मक स्थिति को वस्तुनिष्ठ ढंग से परखने के लिए आलोचक का अपने विषय का 'अधति विद्वान्' होना नितांत आवश्यक है। रचनाकार के लिए अपनी विधा-विषय की कृतियों को पढ़ना एक शौक हो सकता है, आलोचक के लिए वह उसकी मजबूरी है कि वह अपने विषय का सब कुछ नहीं तो बहुत कुछ अवश्य ही पढ़े हुए हो। आज जब जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में 'विशेषज्ञता', 'तज्ञता' (स्पेशलाइज़ेशन) का क्षेत्र निरंतर परिमित होता जा रहा है, तब आलोचक से यह अपेक्षा क्यों की जाए या वह स्वयं व्यर्थ का यह दंभ क्यों ढोए कि वह सब कुछ पर लिख सकता है। आँख के इलाज को ही लीजिए, वहाँ सामान्य रोगों का विशेषज्ञ कोई और है, रेटिना का विशेषज्ञ कोई और आदि, और वह दिन कदाचित् दूर नहीं जब बाईं आँख और दाईं आँख के विशेषज्ञ अलग-अलग होंगे। पर साहित्य के 'डॉक्टरों' में तो यह बीमारी फैल रही है कि वे सभी कुछ के विशेषज्ञ हैं। सब कुछ, सभी विधाओं का, पढ़ लो पर लिखने के लिए तो आप स्वयं अपनी विशेषज्ञता अर्जित और निर्धारित कीजिए,यही आलोचना-कर्म की वह समुचित माँग है। इससे किसी भी कृति के साथ बेहतर न्याय हो सकता है और आलोचना से फ़िज़ूल की फतवेबाजियाँ भी समाप्त हो सकती है। समय चाहे कितना ही बदल गया हो, उपयोगितावादी दृष्टि के समय में आलोचना को अपना विवेक और अस्मिता खो नहीं देनी चाहिए। भूमंडलीकरण, तकनीकी क्रांति, सूचना क्रांति आदि आलोचना को बेहतर औज़ार मुहैया कराने का कारण तो बन सकते हैं उसके विवेक को हरने का नहीं। वैश्वीकरण के मिथ्या मोह में उत्तर आधुनिकता के दर्शन, सैद्धांतिकी आदि को भी अपने समीक्षा-उपकरणों, औज़ारों के रूप में प्रयुक्त करने की बाध्यता या विवशता में नहीं आना चाहिए। कृति पर उन्हें थोपकर उसका नया पाठ रखने की कवायद रचना के मर्म तक पहुँचने में विशेष सहायक नहीं हो सकती। अध्ययन आलोचना को शापित तो करता है किंतु उसके प्रदर्शन मात्र के लिए फूकों, देरिदाँ, चॉमस्की, एडवर्ड सईद, एजाज अहमद आदि के उद्धरण-कथनों पर कृति को कसना अपने पाठक को आतंकित तो कर सकता है, उस रचना के मर्म का सही संप्रेषण भी कर सके, यह बहुत आवश्यक नहीं है। आलोचक पौर्वात्य और पाश्चात्य विदेश, साहित्य-चिंतन के अधुनातन से अपने को पूर्ण परिचित रखे, यह उसके आलोचना-कर्म की अनिवार्यता है। जितना अधिक उसका अंत: अनुशासनीय ज्ञान होता, जितनी अधिक वह अपनी परंपरा में पैठ रखता होगा, उसकी दृष्टि की आधुनिकता भी उतनी ही संपन्न होगी। सभी प्रकार का अध्ययन उसके लिए वांछनीय है। ऐसा आलोचक स्वत: 'फतवेबाजियों' के रोग से प्राय: ही मुक्त रहता है, क्योंकि उसे पता है कि कहाँ क्या कुछ हो रहा है, चल रहा है। अत: किसी कृति को 'न भूतो, न भविष्यतो' की श्रेणी में रखने से पहले वह दस बार सोचेगा कि संपूर्ण साहित्यिक परिदृश्य में यह कृति कहाँ खड़ी है।

यह विचार करना भी पुस्तक-समीक्षा को सही दिशा दे सकता है कि प्रतिबद्धता वैचारिक प्रतिबद्धता आलोचना का क्या हित-साधन कर सकती है ? किसी विचारधारा विशेष से जुड़ाव गलत नहीं है, यह संलग्नता रचना को समझने का एक उत्तम उपक्रम बन सकती है, किंतु हानि यहहो रही है कि प्रतिबद्धता का अर्थ आज खेमेबंदी होकर रह गया है। 'प्रतिबद्धता'के नाम पर आ रही गोलबंदी में एक पूरी बिरादरी है, उससे बाहर रचना चाहे कितनी ही महत्त्वपूर्ण क्यों न हो, उसकी चर्चा नहीं करनी, या करनी है तो ध्वंसात्मक रूप में ही करनी है। इस गोलबंदी की प्रवृत्ति से दूर रहकर निष्पक्ष रूप से रचना के मर्म का उद्घाटन करना ही आलोचक का पुनीत कर्त्तव्य, धर्म है। आलोचक को अपने दृष्टिकोण में अधिकाधिक सामाजिकता विकसित कर उसके प्रकाश में ही रचना का मूल्यांकन करना चाहिए। आलोचना में विचाराधारा की राजनीति नहीं आनी चाहिए। बिना किसी खेमेबाजी और बाड़ेबंदी के आलोचक को उस कृति के साथ खड़ा होना होगा जो 'सही' के साथ 'सही ढंग' से खड़ी है।

पुस्तक की आलोचना में भाषा का प्रश्न दो रूपों में विचारणीय है। प्रथमत: आलोचक की भाषा और दूसरे पुस्तक की भाषा। पुस्तक-आलोचना में कभी ऐसी भाषा का प्रयोग बतौर फैशन किया जाता है जिसका कोई खास मतलब नहीं निकलता, पर 'नएपन' का आतंक ज़रूर पैदा करने की चेष्टा की जाती है। आजकल एक शब्द चल रहा है। 'स्पेस'-'यह पुस्तक इस संबंध में एक नया स्पेस देती है।' 'रचनाकार ने यहाँ एक नया स्पेस पैदा किया है।' अब आप स्वयं इस 'स्पेस' के लिए कोई 'स्पेस' ढूँढ़ते रहिए या तुलसी बाबा की तरह 'उपजहिं अनत अनत छवि लहहिं' का अनुकरण करते रहिए। कभी हर कृति में 'भूमंडलीकरण' का होवा दिखते रहिए। भले ही उसमें दूर-दूर तक ऐसा न हो। कभी उसमें 'विखंडन' ढूँढ़िए तो कभी 'उत्तर आधुनिकता' के अन्य अनेक सूत्र। पुस्तक-समीक्षा ऐसी तो न बने कि उस समीक्षा के लिए अलग से किसी व्याख्याकार की आवश्यकता का अनुभव हो। जिस प्रकार हम रचनाकार से भाषा की संप्रेषणीयता की अपेक्षा रखते है, उसी प्रकार आलोचना की भाषा भी पूर्ण सक्षम और संप्रेषणीय हो, यह भी वांछनीय है। दूसरा प्रश्न पुस्तक की भाषा से संबंधित है। पुस्तकालोचन में भाषा की पड़ताल प्राय: छूटती जा रही है, सारी समीक्षा कथ्य की परख कर अपना पल्ला छुड़ा लेती है। कितनी ही कहानियों-उपन्यासों में भाषा का विवेचनात्मक रूप कथ्य को आकर्षक रूप में प्रस्तुत नहीं कर पाता है किंतु समीक्षक उस ओर बिलकुल ध्यान न देकर कथ्य की खूबियों पर ही रीझे जा रहा है। बहुत-से समीक्षक और काफी सारे लेखक यह मानते हैं कि रचना में विचार ही प्रमुख हैं, भाषा तो उन विचारों की वाहिका मात्र है। अपने पक्ष में वे कबीर का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। कबीर की सादगी और मिलन के 'सादगी, असलियत और जोश' काव्य-सिद्धांत की बात कर हम बहुत देर तक 'भाषा कैसी हू होय' का अनुगमन नहीं कर सकते। भाषा को शुद्ध, टकसाली तथा विधा और कथ्य के अनुरूप होना ही चाहिए। कौन लेखक भाषा को किस रूप में कितना तोड़ सकता है,वह उसकी कलाकारिता पर निर्भर है, किंतु आलोचना की शुद्ध प्रयोग की माँग अनुचित बिलकुल नहीं है। भाषा के स्वतंत्र और पूर्ण विकास के लिए खुला छोड़ देना समुचित

होते हुए भी उच्छृंखलता को गले नहीं उतारा जा सकता। यह एक अलग विचारणीय विषय है कि खूब-खूब प्रतिष्ठित लेखकों की भाषागत अशुद्धियों की ओर न पुस्तक-समीक्षक ध्यान दे रहे हैं और न प्रकाशक। अनेक भाषागत त्रुटियों के होते हुए भी जब कोई कहानी-पुस्तक या उपन्यास पुरस्कृत होता है तो एक कचोट-सी होती है। किसी चर्चित लेखक के कहानी-संग्रह का नाम 'भविष्यदृष्टा' (द्रष्टा होना चाहिए) देखकर कोफ्त नहीं होगी ? 'अनेकों', 'व्यावसायिक', 'व्यावहारिक', 'अत्याधिक', 'जागृत' आदि शब्दों को आलोचक क्यों पचाए? 'यह' और 'वे' का जो घालमेल नवलेखन में हो रहा है, उनकी पुस्तकों की समीक्षा करते समय इन बातों की ओर समीक्षक का ध्यान क्यों नहीं जाता ? वर्तनी आदि से अलग यह सवाल भी उठना चाहिए कि कथा 'रम्यता' से सपाट और 'ठस्स' भाषा को आलोचक अपने परीक्षण में क्यों न देखे ? यह तब और भी आवश्यक हो गया है जब एक ओर हिंदी गद्य इतना समुन्नत, समृद्ध है तो दूसरी और रातोंरात प्रसिद्धि के शिखर आयत्त करने वाले लेखक अफरातफरी में भाषा की ओर ध्यान ही नहीं दे रहे हैं। समान्यत: आज का लेखक भाषा संस्कार को अर्जित करने में वांछित मेहनत कम कर रहा है, पुस्तक-समीक्षा इस पक्ष की अनदेखी कर रही है।

पुस्तक-समीक्षा से संबंधित दो पक्ष और बच रहे हैं-प्रकाशक और लेखक। पुस्तक के सही समीक्षण में वे दोनों ही 'लोकार्पण' समारोहों के द्वारा बाधा उत्पन्न कर रहे हैं। यह ठीक है कि आज के बाज़ारवादी समय में योग्यता और प्रतिभा का भी विपणन-प्रबंधन हो रहा है, किंतु 'लोकार्पण' रस्म कृति का सम्यक् परीक्षण नहीं करने देती। प्रकाशकीय और लेखकीय 'प्रयत्नों' से जो लोग इन आयोजनों में पहुँचते हैं, कदाचित् वे एक बाध्यता में अपनी उपस्थिति दर्ज कराते हैं, उन्हें इस उत्सवी माहौल में कृति को सहराना और केवल सराहना ही देनी है। ऐसी ही स्थितियों में सामान्य-सी कृति को 'न भूतो,न भविष्यतो' की कोटि में पहुँचाया जाता है। आज जब इतने-इतने अधिक टी.वी. चैनलों और समाचार-पत्रों, पत्रिकाओं आदि विज्ञापन की कितनी ही तरतीबें, जुगतें मौजूद हैं तो प्रकाशक को उन साधनों का उपयोग करना चाहिए, पुस्तकों के 'लोकार्पण' बंद होने चाहिए। हाँ, जब किसी स्वर्गीय की ग्रंथावली आदि प्रकाशित हो रही हो, जिसका साहित्यिक संसार के लिए बहुत अधिक महत्त्व हो तो 'लोकार्पण' का औचित्य भी बनता है। दूसरे, प्रकाशक का यह दायित्व भी बनता है कि वह विधा-विशेष के विद्वानों द्वारा ही या कहें, किसी उचित व्यक्ति से ही अपनी पुस्तक की समीक्षा कराएँ, उन्हें ही समीक्षार्थ कृतियाँ भेंजे। पत्रिकाओं के संपादक भी यह दृष्टि अपनाकार पुस्तक की समीक्षा कराएँ अपने स्तर पर लेखक को भी इस ओर प्रयत्नशील होना चाहिए। प्रथमत: उसे चेष्टा करनी चाहिए कि वह सही समीक्षकों से अपनी पुस्तक की समीक्षा कराए, झूठ प्रशंसाएँ उसके लेखन को न तो कोई सही दिशा दे सकती हैं और न थोड़ी देर की वाहवाही उसे प्रतिष्ठा के शिखर प्रदान कर सकती है। श्रेष्ठ रचना देर-सवेर अपनी पहचान स्थापित करा ही लेती है, यह आंतरिक विश्वास लेखक का संबल बनना चाहिए। कूड़ा-'ट्रैश'-लेखन प्रत्येक विधा में, प्रत्येक समय में होता रहा है। पुस्तक-समीक्षा में भी ऐसा हुआ है। आवश्यकता इस बात की है। कि हम श्रेष्ठ और सही लेखन का सम्मान करें, उसे सहेजने के उपक्रम करते रहें।

❐

एक संभावना है स्त्री : इदन्नमम

डॉ. विजय बहादुर सिंह

(किसी उपन्यास या कहानी की समीक्षा करना हो, उस पर कुछ लिखना हो तो किसी प्रकार लिखा जाए? समीक्षा करते समय किन बातों का विशेष ध्यान रखना है तथा समीक्षा का प्रारूप क्या हो, इन्हीं बातों को स्पष्ट करने हेतु यहाँ दो समीक्षाएँ उदाहरण के रूप में दी जा रही हैं। पहले उदाहरण के रूप में वरिष्ठ आलोचक डॉ. विजय बहादुर सिंह द्वारा उपन्यास 'इदन्नमम' पर लिखी हुई समीक्षा है। दूसरी समीक्षा युवा आलोचक अविनाश मिश्र द्वारा कहानी 'चाँदी चोंच मढ़ाएब ए कागा उर्फ चॉकलेट फ्रेंड' पर लिखी गई है। -संपादक)

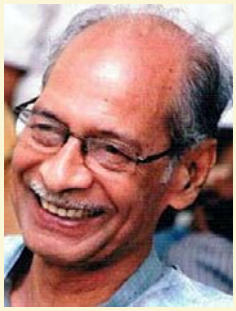

डॉ. विजय बहादुर सिंह
२९, निराला नगर
दुष्यंत कुमार मार्ग
भोपाल ४६२००३ मप्र
मोबाइल ९४२५०३०३९२

छोटे परदे पर जब 'रजनी' सीरियल चल रहा था, लोगों के मन में एक उम्मीद और उत्साह का भाव जागा था। ज़्यादातर तो नहीं, पर कुछेक नवयुवतियों ने अपने आप को 'रजनी' की तरह देखना भी शुरू कर दिया था। पर रजनी करती क्या थी? प्रतिरोध और संघर्ष। तथापि उसकी शैली काफी फिल्मी और इसीलिए उत्तेजक थी। सामाजिक जीवन में यह उत्तेजकता अपने फिल्मीपन में चाहे जितनी मनोरंजक मानी जाए, बुनियादी बदलावों के कारकों को नजरअंदाज़ करती है और हमारी पारंपरिक संवेदनाओं की घिसी-पिटी आदतों को फिर उसी ठौर ले जाकर खड़ी कर देती है, जहाँ जादू या चमत्कार का रस आने लगता है और ग्लैमर का ग्लैमर भी बना रहता है। ऐसी कल्पनाएँ नकली किस्म की पौराणिकता को बढ़ावा देती और छद्म पैदा करती हैं। तब तर्क बेमानी-से हो उठते हैं और भाषा अनपेक्षित ढंग से रंगीन और अविश्वसनीय। ऐसी चीज़ों से गुज़रते हुए हम यही सोच पाते हैं कि कला और उसे धारण करने वाली कल्पना का अपना अलग आनंद है।

उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध में जब हिंदी उपन्यास की विधा आई तब ऐसी चीज़ें भी सामने आईं, जिनमें कल्पना की अबाध उड़ानें थीं। कल्पना यह भी तो करती है। कलावाद इसी की कोख से पैदा होता है। पर प्रेमचंद के आने पर यह सुस्पष्ट हो गया कि जीवन को उसके स्वाभाविक सौंदर्य और सहज प्रवाह में देखना ही कला की बुनियादी ज़िम्मेदारी है। अन्यथा कला संसार और शेखचिल्लियों की दुनिया में कोई फर्क ही नहीं रह जाए। तब ऐसी दुनिया का हम क्या करें? इसी सवाल से टकराते हुए आनंद कुमार स्वामी जैसे कला-चिंतक का यह निष्कर्ष सामने आता है कि पश्चिम में भले ही कला और जीवन में विच्छेदकता हो, पर भारत में तो वे दोनों हमेशा अविच्छिन्न ही हैं 'कहियत भिन्न न भिन्न।'

पश्चिम के आक्रामक और दमनकारी साम्राज्य से भिड़ते और जूझते हुए जो स्वदेशी आंदोलन आगे चलकर संपूर्ण राष्ट्रीय आंदोलन और उसकी इच्छाओं का प्रतीक बना उसके जननायक गांधी ने भारत को समझने और देखने की जो दिशा निर्दिष्ट की, वह यदि एक ओर साम्राज्यवाद-विरोधी तो दूसरी ओर पश्चिमी विज्ञानवाद से भी असहमति की मुद्रा में खड़ी थी। भारत के पश्चिमवादी नेताओं को गाँधी की यह नीति लगभग अरुचिकर और अनुपयोगी-सी जान पड़ी और राष्ट्रीय अस्मिता की खोज में कोलंबस की तरह निकल पड़े, वे सब आज हमें जहाँ पहुँचा गए हैं, वहाँ से भारतीय अवधारणाओं की ओर लौटना और नए सांस्कृतिक हमलों से आत्मरक्षा कर पाना हमारे लिए आसान नहीं रह गया है। अपने को खुद अपनी निगाह से देखे बिना हम अपने को पराई निगाह से यदि देखते हैं तो एक न एक दिन यह उत्पीड़क बोध भी होगा कि ऐसा हम क्यों करते रहे?

क्या भारत की अपनी भी कोई विश्व-दृष्टि है? अगर है तो समकालीन कला-दृष्टियों और खास तौर से हिंदी में उसके प्रतिफलन का स्वरूप कैसा है?

पिछले दिनों जब सुरेंद्र वर्मा की राधिका शर्मा

उर्फ सिलबिल वर्षा वशिष्ठ (मुझे चाँद चाहिए) होकर उभरी थी, हिंदी के कथा-पाठकों को लेखकीय वैदुष्य और कल्पना-प्रवणता के मिश्रित सौंदर्य का अनुभव हुआ था। तथापि वर्षा वशिष्ठ क्रमशः लोक-जीवन के तंग मुहल्लों और संकीर्ण गलियों से निकलकर जिस संघर्ष की ओर जाती है, वह बहुत कुछ कैरियर प्रधान है, या फिर गायत्री आदि परिवारों वाला स्वनिर्माणवादी। निम्न-मध्य वर्ग से उच्च-मध्य वर्ग की ओर जाती वर्षा एक दिन उच्च वर्ग में प्रवेश कर निश्चित रूप से मध्य वर्ग के ऐतिहासिक और विडंबनामय त्रिशंकुवाद का अतिक्रमण कर देती है। मध्य वर्ग के खास तौर से आज़ादी के बाद के मध्यवर्गीय लेखकों की अधिकतर कल्पनाएँ कुछ इसी तरह की रही हैं। लोक जीवन के विशाल और उठा-पटक वाले दलदली जीवन-संघर्षों की अनुभव-मालाओं से हमारे ये लेखक अगर कटे-से रहे तो उसके भी अपने कारण हैं। अपनी डायरियों और कविताओं में मुक्तिबोध ने इस संदर्भ में तीखी प्रतिक्रिया दर्ज की हैं। जो लोग इस भावधारा को लाँघ विशाल लोक-जीवन की ओर गए भी, वे इतना फॉर्मूलापरस्त और बुद्धि-प्रसूत लेखन करते रहे कि उसे जेनुइन कह पाना मुश्किल। उनके अधिकांश अनुभव शास्त्रबद्ध और प्रायोजित-से थे। मौलिक रचनात्मकता के लिए यह और भी खतरनाक हादसा-सा हुआ।

शताब्दी के अंतिम बरसों (१९९८) में प्रकाशित मैत्रेयी पुष्पा का 'इदन्नमम' इन तमाम चौहद्दियों को लाँघता और झुठलाता हमें फिर उस परंपरा के करीब ले जाकर खड़ा कर देता है, जहाँ यथार्थ का अर्थ 'सोशल क्रिटिसिज्म' न होकर 'समूह का संघर्ष' बन जाता है। यह भी कम रेखांकित करने योग्य नहीं है कि हिंदी के समकालीन यथार्थपरक लेखन में संघर्ष की कई रंग-छवियाँ हैं। कहीं-कहीं तो वह खुद लेखक की बौद्धिक प्रयोजना जैसा लगता है और कहीं-कहीं तमाम कोशिशों के बावजूद बेहद औपचारिक, सतही और बेभरोसेमंद। यह भी कम तकलीफदेह नहीं है कि हमारी कल्पनाएँ कुछ अधिक शास्त्र-प्रेरित और विचार-निबद्ध होती जा रही हैं। जीवन की सहज और स्वाभाविक सुगंधों की दुर्लभता और क्षीणता यहाँ प्रायः खलती है। इसका जो भी कारण हो, एक कारण तो यह साफ दिखता है कि लेखक का 'फील्ड वर्क' न के बराबर और 'टेबल वर्क' काफी ज़ोरदार है। सुविधाजीवी, अवसरपरस्त, किंतु यशःकामी और अति महत्त्वाकांक्षी मध्यवर्गीय प्रतिभाओं की 'चतुराई' और फैशन-परेड, शब्दों की संस्कृति से जिस तरह पेश आ रही है, वैसा तो वे बहुराष्ट्रीय कंपनियाँ भी नहीं कर पा रही हैं, जिन्हें सिर्फ बेचना और मुनाफ़ा कमाना है। हमारे लिखे शब्द प्रायः संघर्ष से दूर चले जा रहे हैं और हमारी दृष्टि पर एक खास तरह का प्रतिबद्धतावादी आदर्शवाद क्यों हावी होता चला जा रहा है? इस लिहाज से मैत्रेयी पुष्पा का पहला ही उपन्यास 'इदन्नमम' समकालीन शब्द-प्रवाह की दिशा में बढ़ता हुआ इन संकीर्ण और जड़ चौखटों का अतिक्रमण करता है।

परंपरा बार-बार कहती आई है कि अगर सारे शास्त्र लुप्त हो उठें, लाइब्रेरियाँ जला दी जा चुकी हों, नगर-महानगर और उनकी सभ्यताएँ नष्ट की जा चुकी हों तब अपनी पहचान को ढूँढ़ने के लिए 'लोक' की ओर जाना चाहिए। निरुक्तकार का अति प्रसिद्ध कथन है 'लोकं पृच्छ'। कुमार गंधर्व यों ही नहीं कहते रहे कि लोक-कलाएँ शास्त्रीय कलाओं की माँ हैं। खड़ी बोली के हिंदी उपन्यास में प्रेमचंद और रेणु की ताकत इसी लोक की ताकत है। मैत्रेयी ने अगर इस 'लोक' को अपने लेखन में फिर से केंद्रीयता देने की रचनात्मक पेशकश की है तो इसे नजरअंदाज़ नहीं किया जा सकता। यहीं यह रेखांकित कर देना ज़रूरी है कि प्रेमचंद आज़ादी के पहले और रेणु आज़ादी के तत्काल बाद के लोकांचलों के रचनाकार हैं। यह भी निर्विवाद है कि प्रेमचंद में 'विचार' और 'रेणु' में रंगीनी और सौंदर्य की प्रतिस्पर्धी फैंटासियाँ हैं। प्रेमचंद कालिदास आदि की तरह अभिधावादी तो रेणु अलंकारवादियों या लक्षणावादियों के साथ हैं। मैंने पहले ही कहा कि रेणु का लेखनकाल भारत की आज़ादी के शुरुआती दौरों से जुड़ा है। पर ग्रामीण परिवेश पर लिखे 'अलग-अलग वैतरणी' जैसे उपन्यास या फिर ऐतिहासिक और सांस्कृतिक पृष्ठभूमि पर आधारित 'चारु-चंद्रलेख' में निराशा, लाचारी और विक्षोभ का संप्रेषण यह इशारा करता है कि आज़ादी के बाद के जीवन में 'उम्मीदें' और लोक-उमंगें निरंतर ध्वस्त हुई हैं और समाज में यह मुगालता भी मानसिक स्तर पर घर करता गया कि सरकारी जादू की छड़ी से सब हो जाएगा। पंद्रह-बीस सालों में इस 'जन्नत' की 'हकीकत' भी आखिरकार सामने ही आ गई। 'लोक' की बुनियादी मनोरचना भले ही न टूटी हो, पर उसका मानसिक भटकाव और बिखराव तो निस्संदेह बहुत तकलीफदेह हो चुका है। वह उस 'पारंपरिक मानस' से लगभग आत्मविस्मृत-सा हो उठा है, जिसे मैत्रेयी ने 'इदन्नमम' में ढूँढ़कर पुनःसंगठित और पुनःसक्रिय करने की कोशिश की है।

सवाल यह भी है कि यह लेखक का काम है या नहीं? तब दूसरा सवाल यह कि लेखक तो स्वयं 'प्रजापिता' है। उसका संविधान वह खुद रचता रहा है। हम उसके इस अधिकार को न तो कभी छीन पाएँगे, न उसके इस काम में किसी प्रकार की दखलंदाजी कर सकते हैं। यदि एक स्तर पर वह रचयिता है तो दूसरे स्तर पर विधाता भी। यदि ऐसा न होता तो मानसकार तुलसी ने यह कहने की छूट कैसे प्राप्त की होती कि वे छंद, प्रबंध, रस आदि नहीं जानते, प्रचलित रचना-मर्यादाओं में उनकी कोई गति और रुचि नहीं है, फिर भी वे अपने समय का सत्य कहने के लिए संकल्पबद्ध हैं और इस सत्य से आँख केवल वे ही मिला सकेंगे, जिनकी बुद्धि निखरी हुई और विवेक निर्मल है। जब भी समय के सच का मुँह स्वर्णाभूषणों से ढक उठता है, कला और लेखन के प्रतिष्ठित आदर्शों का नकार और जीवन और समय के 'सच' की निरावृत्ति तस्वीर खींचनी ही पड़ जाती है। मैत्रेयी पुष्पा ने इसे चाहे अनगढ़ता के साथ ही रचा हो, पर यह तस्वीर है बहुत पावरफुल। यह जितना हमारे समय की जुझारू स्त्री से संबंधित है, उतना ही उस सामाजिक-पारिवारिक-आर्थिक व्यवस्था और नातेदारियों के अत्याचारी रुझानों से भी, जिनसे उपन्यास की नाभि 'मंदा' (मंदाकिनी), उसकी बाल सहेली सुगना और दिलेर कुसुमा लगभग अघोषित तौर पर संगठित होकर लड़ती हैं।

उपन्यास की कुल कहानी मंदा और उसकी 'बऊ' की कहानी है। अपने बेटे महेंदर सिंह की राजनीतिक हत्या और महेंदर की जवान विधवा प्रेम का घर छोड़ भाग जाने और मृतक महेंदर सिंह की जायदाद के लिए मुकदमा लड़ने से आतंकित और घबराकर, बऊ (मंदा की दादी) को इसलिए भी अपना गाँव सोनपुरा छोड़ श्यामली गाँव के परधान दादा पंचम सिंह की शरण लेनी पड़ती है, क्योंकि मंदा की माँ प्रेम भी कुचक्रियों के षड्यंत्रों का शिकार हो अपने घर से निकल चुकी है। नैतिक

और आर्थिक स्तर पर छलनी-छलनी और लगभग टूट चुकीं 'बऊ' जब श्यामली गाँव पहुँच अपनी पोती मंदा को गहरी नींद से जगा रही हैं तो ऐसा लगता है, एक समूची विरासत निद्रा में डूबी नई पीढ़ी के कंधों को थपथपाकर कह रही है, 'लो, इतेक देर से हम और क्या कह रहे हैं।' मंदा की उमर तब फ्रॉक पहनने वाली है। लगभग तेरह बरस। उपन्यास पढ़ते हुए मूर्च्छित स्त्री-चेतना की मूर्च्छा टूटेगी और नींद भी खुल जाया करेगी।

श्यामली गाँव के परधान दाऊ पंचम सिंह और उनके परिवार के अन्य भाई-बंद़बलभद्र, यशपाल, दरोगा विक्रम सिंह, लाभ-हानि का समीकरण बिठाने वाले गोविंद सिंह, मंदा का किशोर मित्र मकरंद, देवगढ़ वाली कक्को और यशपाल की परित्यक्ता कुसुमा और दाऊ अमर सिंह के अनैतिक संबंधों का ब्योरेवार और चुनौतीपूर्ण इतिहास लिखता उपन्यास जब श्यामली से उठकर सोनपुरा फिर लौटता है तब उसका यह वाक्य 'देसिया देस को ही जाता है।' कवि केदारनाथ सिंह की पंक्तियों की याद दिलाता है ''ओह मेरी भाषा मैं लौटता हूँ तुम में'' सोचते तो अकसर बहुतों को देखा है, पर मैत्रेयी पुष्पा की तरह लौटने वाले बिरले ही होंगे। यहाँ 'पुनर्नवा' लिखने वाले हजारीप्रसाद द्विवेदी के सुमेर काका की याद बरबस हो आती है।

श्यामली गाँव से जगह-जगह के अनुभव और कड़वे-मीठे जीवन से संपन्न होकर लौटी मंदा और उसकी बऊ सोनपुरा लौटते ही जैसे आसमान से धरती पर गिर पड़ी हैं। उनके खेत आदि श्यामली वालों के नाम हो चुके हैं बगैर दाऊ पंचमसिंह की जानकारी के। दाऊ की नेकनीयती, सत्यनिष्ठा और लाचारी महाभारत के बेचैन भीष्म पितामह की याद दिलाती है, जिन्हें उनके रक्त-संबंधी ही छलते और अपमानित करते जाते थे। मंदा और बऊ की स्थिति उन पांडवों की-सी है, जो लोक जीवन में अन्याय का प्रतिकार और इंसानियत की प्रतिष्ठा के लिए जुझारू संकल्पों के साथ कटिबद्ध हैं।

सोनपुरा लौटकर मंदा जिस तरह के संघर्षों और उनकी जानलेवा जटिलताओं से होकर गुजरती है, उससे लोक-जीवन में नारी और पुरुष-व्यक्तित्व का एक नया ही उभार सामने आता है। सीता ने तो खैर नहीं, पर द्रौपदी ने भारत की स्त्रियों को कठोर प्रतिकार का संदेश दिया है। डॉ. लोहिया अगर द्रौपदी के चरित्र पर मुग्ध हैं तो इसीलिए। किंतु द्रौपदी की प्रतिज्ञाओं को पूरा करने वाले तो उसके पतिगण पंच पांडव हैं, जबकि मंदा अपनी प्रतिज्ञाओं और संकल्पों को स्वयं अपने बलबूते पर पूरा कर रही है। मैत्रेयी पुष्पा की स्त्री संबंधी कल्पना इस तरह बीसवीं सदी के उत्तारार्द्ध की ही नहीं, इक्कीसवीं सदी की स्त्री के उज्ज्वल और दमदार भविष्य की ऐतिहासिक उद्घोषणा भी है।

आज जहाँ कविता और इतिहास की मृत्यु की चर्चा फैशन में है, वहाँ इस तरह परंपरा को अपनी प्रतिभा से पुनर्नवित करना और इंसानी जद्दोजहद को नई उम्मीदों से लैस कर डालना उस विश्व-दृष्टि के बगैर असंभव है, जिसका कालबोध लंबवत् न होकर चक्रवत् है। अकारण ही नहीं यहाँ रसवादी और पश्चिम में त्रासदी नाटकों की रचना हुई। मैत्रेयी पुष्पा ने बीसवीं सदी के हिंदी लेखन में नारी के अबलत्व और उसकी निरीह 'रागमयता' के अंध स्वीकार और बेशर्त समर्पण को नकारते हुए राष्ट्रकवि और कामायनीकार दोनों को ही काफी पीछे छोड़ दिया है। कुसुम और दाऊ जी (अमर सिंह) के अनैतिक संबंधों के प्रसंगों में मानसकार की बहुपरिचित पंक्तियों ''अनुज वधू भगिनी सुत नारी, सुनि सठ कन्या सम ये चारी'' से भिड़ते और टकराते हुए जिस तरह के तर्क मंदा और कुसुमा के बहाने दिए हैं उससे पुरुष प्रणीत व्यवस्था और वर्चस्व पर सीधा हमला होता है।

कुसुमा ने बीच में ही रोक दिया ''बिन्नू, हमें एक बात समझाओ, अरथाओ कि ये रिस्ते-नाते, संबंध और मरजाद किसने बनाई? किसने सिरजी है बंधनों की रीत? जो नाम लेती हो उनने? मनुव्यास ने? रिसियों-मुनियों ने? देवताओं कि राच्छसों ने?''

मंदाकिनी पढ़ना रोककर भाभी को गौर से देखने लगी। क्या उत्तर दे इन सवालों का?

''भाभी, ये रीति-रिवाज तो उन्होंने ही बनाए हैं, जिनने ये किताबें लिखी हैं, जिनके ऊपर ये किताबें लिखी गई हैं।''

''गलत बनाई हैं मंदा! एकदम पच्छपात से रची हैं।''

''बताओ तो अग्नि साक्षी धर के गाँठ बाँधने का क्या मतलब?''

''पति और पत्नी को साक्षी-सहचर कहें तो विरथा है कि नहीं?''

''कितेक उलटा है बिन्नू बेअरथ। यह संबंध बड़ा थोथा है।''

''लो, एक तो खूँटे बाँधा पागुर, दूसरा सरग में उड़ता पंछी।''

''ढोर और पंछी सहचर नहीं हो सकते मंदा...''

उपन्यास में यद्यपि यह मुख्य कथा-वस्तु नहीं है फिर भी आधुनिक स्त्री की बदलती सोच और पुरुष प्रधान समाज-व्यवस्था के प्रति उसके विद्रोह को प्रकट करती है।

मंदा अपनी उत्पीड़ित अम्मा को लेकर जैसी जिरह अपनी बऊ से करती है, वह बहस एक स्त्री के संदर्भ में सामाजिक और सांस्कृतिक दृष्टिकोण और उदारता की माँग करती है। बऊ परंपरागत पुराने खयालों वाली हैं तो मंदा स्त्री की ऐतिहासिक यातना, सनातन निर्वासन और पुरुष दिमाग की सांस्कृतिक चालाकियों और सामाजिक बदमाशियों की पीड़ा और व्यथा से भरी-भरी और सचेत। उसमें अपार सहानुभूति और अगाध करुणा है। अपनी माँ से मिलने जाती। और उसे दुर्दशाग्रस्त देख मंदा की अंतरंग प्रतिक्रिया अत्यंत विगलनकारी है ''मैं तो खड़ी-खड़ी जड़ हो गई। पथरा गए होंठ। जीभ पर लकवा मार गया। शरीर भी सुन्न...बोलना चाहती हूँ, मगर क्या बोलूँ? क्या कहूँ तुमसे? कैसे उबारूँ तुम्हें?'' मंदा का यह आखिरी वाक्य केवल अपनी माँ के लिए ही नहीं, समूची स्त्री जाति के लिए है, जो आज भी दलितों की दलित है। मैत्रेयी ने यह लिखकर उस विकल वेदना का बोध भी अपने पाठकों को करा दिया है, जिसकी पीड़ा से व्याकुल हो नागार्जुन कहते रहते थे ''विजय बाबू! अगला जनम मैं स्त्री का चाहता हूँ, जिससे उसकी व्यथा समझ सकूँ।''

मुख्य कथानक के साथ-साथ उपन्यास में कुछ उप कथानक भी हैं। आजादी के पहले और बाद के हिंदू-मुस्लिम संबंधों में आती खटास और बिलगाव, आजादी के बाद की भारत की पतनघाती भ्रष्ट राजनीति और नौकरशाही, ग्रामीण विकास, परंपरागत ग्रामीण समाज और विकास के नाम पर लगी चली आतीं सामाजिक विकृतियाँ, जमींदारों और जागीरदारों के जबड़ों से मुक्त होकर छुटभैये राजनेताओं और असंख्य ठेकेदारों-दलालों के चंगुल में फँसता लोक-समाज, जातियों की राजनीति, आरक्षण, शहरों से चलकर गँवई जीवन में सेंध लगाती आक्रामक और घृणित सांप्रदायिकता की विकृति और उससे पैदा हुआ अवसाद यहाँ खूब

है। चीफ साहब की कथा, रतन यादव और अभिलाष सिंह की कथा, आरक्षण-पीड़ित भृगुदेव की कहानी और मंदा के प्रेरणा-केंद्र और दिग्दर्शक महाराज की कथा उपन्यास को एक ऐसे ठिकाने पर ले आते हैं, जहाँ से आजादी के बाद की संपूर्ण राजनीति, सामाजिक जीवन और उसे चारों ओर से घेरते जाते कठिन और उलझे सवालों का साक्षात्कार किया जा सकता है। लेखिका का मन इन कहानियों में काफी टूटा-फूटा हुआ-सा है, पर इसकी क्षतिपूर्ति करती हुई वह जिस तरह से मंदा के चरित्र को रचती है, उससे यह तो स्पष्ट हो ही जाता है कि उसने विकृति, विघटन, निराशा और अवसाद को अपने लेखन के आधार मूल्य के रूप में न तो अंगीकार किया, न ही इनके सामने घुटने टेके हैं। उसे परिस्थितियों से आँख मिलाना आता है और मनुष्य की सामूहिक लड़ाई में उसकी घनघोर आस्था है।

मंदा केवल परंपरागत खेती-किसानी वाला सनातन दिमाग नहीं है। नई सामाजिक-आर्थिक चुनौतियों और राजनीतिक कतर-ब्यौंतों को समझती हुई वह उस अगले मशीनी युग (कलयुग) को लेकर भी सजग है, जिसमें नई मनुष्यता को अपना सफर तय करना है। अगर आज वह अभिलाष सिंह जैसे ठेकेदारों के खिलाफ लोकशक्ति की प्रतीकात्मक आवाज बन खड़ी है तो कल उन भैया जी टाइप लोगों से भी निपटेगी, जो अत्याधुनिक टेक्नोलॉजी के स्वामी और एकाधिकारवादी हैं। 'इदन्नमम' का अर्थ ही यही है कि यह लड़ाई अब अस्पताल और निजी जायदाद के लिए नहीं, उस विराट् जन-समूह के सुखद ऐतिहासिक भविष्य के लिए है, जिसे भारतमाता कहते हैं। इस दृष्टि से यह कथानक भरा-पूरा, अत्यंत सुगठित और योजनाबद्ध है। इसे हम अगर लोकगाथा की कथा कहें तो शायद सबसे ज़्यादा सटीक होगा।

मैत्रेयी इन सवालों को किन्हीं विदेशी संदर्भों, विचारांदोलनों और किताबों के जरिए नहीं उठातीं। इस रूप में वे हिंदी और खास तौर से नारीवादी लेखिकाओं की उस जमात में नहीं खड़ी हैं, जिसे लेखन में आज एक अलग दर्जा मिला हुआ है या फिर अलग निगाह से देखा जाता है। उनके उपन्यास में इस तरह की कोई दबी-छुपी विचारधारात्मक गंध और आंदोलनात्मक परछाईं भी नहीं दिखाई पड़ती। मैत्रेयी की परंपरा में यदि महादेवी वर्मा, अमृता शेरगिल हैं तो अमृता प्रीतम और कमलादास भी।

हिंदी उपन्यासों में यह बहस आज़ादी के आठ-दस बरसों में उठ चुकी है कि सामाजिक नैतिकता की दृष्टि से स्त्री-पुरुष के लिए यदि पृथक्-पृथक् मानदंड और दोतरफे रवैये अपनाए गए तो यह बेमानी होगी और आगे का समाज इसे शायद ही अंगीकार करे। हिंदी उपन्यासों में अनैतिक कही जाने वाली हदों तक जाकर जो कल्पनाएँ की गईं, उनका इतिहास भी हम पाठकों के पास है। स्त्री की समानता और उसके सशक्तीकरण की अनेक वैचारिक और सक्रिय राजनीतिक उठापटकों और सामाजिक पहलों की ठेठ देशी जागरूकता की पृष्ठभूमि पर रचा गया यह सीधा-सादा कथानक अपनी प्रेरणा, अनुभव संपदा, विषयवस्तु और विस्तार में इतना निजत्व और घरेलूपन लिए हुए है कि लेखिका की सहज प्रातिभ स्वाधीनता, निर्भीक और निर्द्वंद्व आत्मविश्वास का सम्मोहक उजाला बावजूद कई सघन दबावों और जटिल उलझनों के समूचे कथानक में फैला हुआ है।

शिल्प की दृष्टि से देखें तो पारंपरिक रूप में यह एक अभिधा प्रधान कथानक है। जिन्हें पता है, वे इससे सहमत होंगे कि अभिधावादियों में मैथिलीशरण गुप्त ही नहीं, प्रेमचंद, निराला और कालिदास जैसे रचनाकार भी आते हैं। अभिधा का वास्तविक सौंदर्य तो उसकी वस्तुपरकता में ही है। व्यंजना आदि शैलियाँ अंततः हमें कलावाद और अमूर्ततावाद की ओर ले जाती हैं। बिरले ही होंगे जो इससे बच पाते हों मैत्रेयी अपने पाठकों को जानती हैं और हिंदी के कई बड़े कथाकारों की तरह वे कुछ बातों को उन तक सीधे पहुँचाना चाहती हैं। वे उन आलोचकों के लिए शायद ही लिखती हैं, जिनकी निगाह अब वस्तु पर तो बहुत कम किंतु बिरल और अनोखे शिल्प पर कुछ ज़्यादा ही रहने लगी है।

कई एक प्रतिबद्ध रिव्यूकारों ने मैत्रेयी पुष्पा के इस उपन्यास की विचारधारा को गाँधीवाद से जोड़कर छिटपुट सवाल भी खड़े किए हैं। उनकी निगाह मंदा और ठेकेदार अभिलाष सिंह की कठिन भिड़ंतों और सुगना के हिंसक प्रतिकारों की ओर नहीं ही जा सकी। न जाने क्यों वे यह नहीं महसूस कर सके कि मंदा ने जो रास्ता अख्तियार किया है, वह हमेशा ही जनांदोलनों के जरिए लोक-जागरण और लोक-मुक्ति का रास्ता है। वहाँ ज़रूरी हिंसा वर्जित नहीं है। आज़ादी के पहले और बाद के दो बड़े ऐतिहासिक जनांदोलनों ने यह भी साबित कर दिखाया है कि गांधी के विचार न हवाई हैं, न उनकी सार्थकता नष्ट हुई है, न वे पूरी तरह से नेस्तनाबूद हुए हैं। यह अलग बात है कि आज़ादी के बाद नवशिक्षित भारतीय दिमागों का जिस तरह का पश्चिमीकरण (और अब वैश्वीकरण, जिसमें राष्ट्रीयता के अलावा बाज़ारीकरण-निजीकरण आदि सब कुछ है) और नए कहे जाने वालों का एकांगीकरण और बौद्धिक ध्रुवीकरण हुआ और किया गया है, उसमें तो शहरों के संस्कारों में सहज रूप में अनजाने चली आईं लोक-परंपराएँ भी अबूझ हो रही हैं। ऐसे लोग तब उस अतिपुरातन किंतु जीवंत और जुझारू लोक-मानस को कैसे पकड़ पाएँगे जो बऊ, सुगना और उनकी नेत्री मंदा की ताकत बन उसके पास हैं? प्रेमचंद जैसे महान् कथाकारों के मुरीद ये बुद्धिजीवी जाने क्यों अब तक लोकमानस और उसके देशी स्वभाव का अध्ययन करने से कतराते रहे हैं, जिसकी समूची संभावनाओं की पूरी पड़ताल गाँधी भी नहीं कर पाए। एक विश्वप्रसिद्ध नृजातिविज्ञानी प्रोफेसर सोलटैक्स ने ख्यातप्राप्त समाजविज्ञानी एम.एन. श्रीनिवास के शोधग्रंथ 'यादों से रचा गाँव' की भूमिका लिखते हुए यह विचार व्यक्त किया है कि आज जिन समस्याधर्मी विनिबंधों का चलन है, उन्होंने उस चीज को लगभग पूरी तरह नष्ट कर दिया है जो कभी साकल्यवादी (होलिस्टिक) विनिबंधों की गरिमा और महिमा थी। इन दूसरी तरह के विनिबंधों में नृजातिशास्त्री अपनी विशेष पेशेवर रुचि को ताक पर रखकर उस संस्कृति के अलमबरदारों की दुनिया को सामने लाता था, जिससे उसका परिचय होता था। वे यह भी लिखते हैं 'नृजातिशास्त्र उसी सीमा तक एक कला है, जहाँ तक वह पराए लोगों के लिए इसका सोद्देश्य वर्णन करने का प्रयास करता है कि एक समाज में अनिवार्यतः परस्पर भिन्न व्यक्ति किस प्रकार एक-दूसरे को, एक-दूसरे के विचारों को और एक-दूसरे के सामूहिक व्यवहार को देखते हैं। किसी अन्य संस्कृति की धारणाओं और जीवन-मूल्यों के अनायास हस्तक्षेप की संभावना को कम से कम करने के लिए मानवशास्त्री का अत्यंत परिष्कृत होना आवश्यक है। इसके लिए ऐसे बुद्धिमान और

संवेदनशील व्यक्ति की भी आवश्यकता होती है, जो इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए अपने मस्तिष्क और अपने जीवन-मूल्यों का सोद्देश्य उपयोग करने का प्रयास करे। व्यक्ति साकार होने की कम से कम संभावना वाले जिस आदर्श की कल्पना कर सकता है, वह एक झूठी 'वस्तुनिष्ठता' के शून्य की कल्पना है, जो वास्तव में अचेतन के हर प्रकार के हस्तक्षेप से दूषित होती है।' प्रोफेसर टैक्स ने इसी रूप में नृजातिशास्त्र को भी अनिवार्यत: उच्चकोटि की कला घोषित किया है। जब हम किसी समाज, उसे धारण करने वाले विचारों, मर्यादाओं, उसके द्वारा रचे जाते अनुभवों, देखे जाते सपनों और इनके बार-बार के घटित द्वंद्वों की फलश्रुतियों को जाँचते-परखते और अपनी अनोखी कल्पनाओं से रँगते हैं तब यह क्यों भूल जाते हैं कि कभी हमारी मुट्ठी में या तो विचारधारा मात्र बची रहती है या फिर वह सम्मोहक कल्पनापरकता जो जाने-अनजाने ही सही, हमें उस यथार्थ से बहुत दूर लेकर चली गई है, जिसकी शोभायात्रा में हम शामिल थे। तथापि यह प्रश्न लेखक की अपनी आजादी का भी है, ठीक आत्महत्या या दुर्दम जीवन की मुठभेड़ में से किसी भी एक के चुनाव की तरह।

भारत में गाँधी निस्संदेह उन वामपंथियों की तरह तो नहीं थे, जिन्होंने वामपंथ की शास्त्रीयता पर महारत तो हासिल कर ली थी, पर उसे एक यथार्थ की तरह इस जमीन और आबोहवा में उतार नहीं पाए। न वे उन दक्षिणपंथियों में से थे, जिनकी बीसवीं सदी के राष्ट्रीय जीवन के संदर्भ में अवहेलना की जा सके या अछूत समझा जाए। गाँधी ने अहिंसक आंदोलन का प्रयोग किया और कुछ दूर तक उनका यह प्रयोग सफल भी रहा, ठीक सोवियत संघ के क्रांतिकारी हिंसक पंथ की तरह। पर जिस तरह हिंसक क्रांति का रास्ता सनातन नहीं है, उसी तरह अहिंसक आंदोलन का भी। भारत की परंपरा और स्मृति में दोनों रास्ते और विचारधाराएँ सामयिक रणनीति की तरह रही हैं, गीता भी और गाँधी भी। मैत्रेयी हों या कोई अन्य, जब भी इस तरह के स्वाभाविक, आर्थिक जीवन के अनुभवों के बीच गमन करेंगे तो उन्हें या किसी को भी शायद ही गाँधी को बाईपास करने की गुंजाइश या सुविधा आज मिल सके। इरफान हबीब अगर यह कहते हैं कि गाँधी पहले ऐसे नेता हैं, जो राष्ट्रीय आंदोलन

में आर्थिक प्रश्नों को लेकर आते हैं तो हमें यह देखना होगा कि 'गोदान', 'मैला आँचल', 'बलचनमा', 'परती परिकथा' आदि में उठा यह सवाल इस तरह साइड इशू बनाकर क्यों रख दिया गया था और क्यों इधर बीसवीं सदी के आख़िरी बरसों के कई कथाकारों ने किसान, उसकी आज़ादी और ज़मीन से जुड़े आर्थिक सवालों को फिर से उठाते हुए बार-बार राष्ट्रीय आंदोलन की क्रांतिकारी विरासत का स्मरण ज़रूरी समझ रखा है? मैत्रेयी ने अगर यह कोशिश मंदाकिनी जैसे पात्रों के मार्फत बुंदेलखंडी माटी की महक और जुझारूपन के साथ की है तो इससे वह ऐतिहासिक रोमांच भी हमारी यादों में तरोताज़ा हो उठता है, जिसका रिश्ता बुंदेलखंड के अन्य करीबी अंचलों से रहा है। तथापि लेखिका ने इसे आंचलिक उपन्यास के बतौर लिखने से बाकायदा सावधानी बरती है। अगर कुछ लोग इसकी बोली-बानी के चलते इसे आंचलिक कहने पर आमादा हो उठें तो कोई आश्चर्य नहीं। पर आंचलिक उपन्यासों और कहानियों की रूपरेखा कुछ और ही किस्म की होती है। इसमें तो शुरू से एक ऐसी समस्या और चुनौती है जो धीरे-धीरे कथानक को उस दिशा की ओर ले जाती है जो बऊ और मंदाकिनी के जीवन की प्रतिज्ञा, संकल्प और संघर्ष की दिशा कही जा सकती है। ऐसा निर्भय मन और अडिग संकल्प अगर इन दोनों के पास है तो इसका कारण उस विराट् में इनके अखंड विश्वास के चलते है, जो इनके चारों ओर हजारों सालों से सेनाओं की तरह खड़ा है। उसी लोक में यद्यपि बलभद्र सिंह, दरोगा विक्रमसिंह, यशपाल, रतन यादव, जगेसर, अभिलाष भी हैं, पर उसी में तो दाऊ पंचम सिंह, चीफ साहब, कुसुमा और सोनपुरा के वे सारे जन भी हैं, जिनकी शक्ति से मंदा लोकजीवन के मंच पर उभर आए नए आततायियों के लिए रणचंडी और नई उम्मीद बनी हुई है।

चरित्रों की अंतर्विरोधी विविधता और रंगीनी का चित्रण करने में अत्यंत सक्षम लेखिका ने हिंदू-मुस्लिम संबंधों की सघनता और नए राजनीतिक माहौल में उसकी विकृति और त्रासद परिणति को जिस मार्मिक और भावुक ढंग से प्रस्तुत किया है, उससे इन ऐतिहासिक संबंधों के प्रति उसकी गंभीर निष्ठा, वेदना और विकलता का अनुमान किया जा सकता है।

मानव-चरित्रों की अंतर्विरोधी विविधता और खूबसूरती, पुराने सामाजिक संबंधों की विकृत और शिथिल होती बुनावट, नए सामाजिक-आर्थिक रिश्तों की गर्हित तस्वीरों के बीच उपन्यास का कथानक जिस उल्लासपूर्ण, किंतु कठिन जय-यात्रा की ओर बढ़ता दिखाई देता है, उस दिशा में अभी किसी साफ आसमान की उम्मीद नहीं की जा सकती। इतना भर कह सकते हैं कि हम नई सभ्यता के विधायक इंसान के प्रति बेसब्र उम्मीदों से लदे-फँदे हैं। पर सभ्यता कोई भी हो, उसे पैदाइश की तमाम पीड़ाओं से होकर गुजरना ही पड़ता है। इन पीड़ाओं से यह कथानक भी न तो अछूता है, न बेखबर। फिर भी यह सोच-सोचकर हैरत होती है कि सोनपुरा से श्यामली और श्यामली से लेकर इतनी सारी जगहों, खेतों-खलिहानों, नदियों-पहाड़ियों के भूगोल को पार कर, इनके बीच आता-जाता और लगातार उठता-बैठता यह कथानक न जाने क्यों गाँव जीवन के उस भरे-पूरेपन से अपरिचित है, जिसकी पहचान सिर्फ मानवीय बस्तियाँ शायद ही कभी रही हों लगता है, उद्देश्यपरकता पर अर्जुनी आँख टिकाए रहने के कारण लेखिका को 'मानवेतर सृष्टि' लगभग नहीं या बहुत कम दिख पाई। पर किसी भी कथानक के लिए यह क्यों ज़रूरी हो उठे कि वह अपने समय के तमाम आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक सवालों को अनपेक्षित मजबूरियाँ ढोए और इन्हीं के चलते जब तब खुद ब खुद अपनी कथित सोद्देश्यता से इधर-उधर होता-सा दिखे। यह किसी

लेखक की महत्त्वाकांक्षा क्यों होनी चाहिए कि अपने समय के सारे सवालों को उठाने और उसका जवाब खोजने का ज़िम्मा उसकी नैतिक ज़िम्मेदारी है। अंततः हम न तो वेदव्यास हैं, न कालिदास और न तुलसीदास। शायद हमारा काम ठीक सवाल उठा देने से भी चल सकता है। मैत्रेयी अपने इन सवालों के साथ मुझे निजी तौर पर काफी कद्दावर लगती हैं।

स्त्री और पारंपरिक भारतीय समाज, आज़ादी और किसान, आदमी और मशीन, लोकतंत्र, सहकारिता, ग्रामीण विकास और बदलते गाँवों के बदरंग होते जाते चेहरों को अपनी इंसानी कोशिशों से फिर से कुछ-कुछ रंगीनी सौंपती लेखकीय कल्पनाएँ देर-सवेर यदि कभी साकार होती हैं तो समाज में लेखक और उसके शब्द का महत्त्व बना रहेगा। अपने 'दिवास्वप्नों' के लिए लेखक हमेशा ही बदनाम रहा है। मैत्रेयी ने इसमें कुछ सितारे और जोड़ लिए हैं। ऐसा लगता है, वे अपने समय के सामाजिक व्यवस्थावादियों से खुला शास्त्रार्थ भी करना चाहती हैं और यह बोध भी करा देना चाहती हैं कि पुरुष यदि स्त्री की सहभागिता का कायल नहीं है तो वह आगे का सफर अपने 'पौरुष' के बलबूते भी तय करेगी। मंदाकिनी तो यही करती भी है। उसे लेकर सोचते हुए बार-बार महादेवी याद आती हैं 'पंथ होने दो अपरिचित, प्राण रहने दो अकेला।'

मैत्रेयी का यह उपन्यास और उसकी नायिका मंदा सोनपुरा को सोनपुरा बनाने के लिए श्यामली से लेकर डाँग, समथर, गढ़ी, विरगवाँ और न जाने कहाँ तक भटकते हैं। किंतु मैत्रेयी अपनी जमीन कभी नहीं छोड़तीं। मैं यह जानता हूँ कि वे रजिस्टर्ड वामपंथी खेमे में नहीं हैं, पर उस विराट् और उदार जनवाद की सदस्या तो वे हैं, जिसकी संस्कृति में राजा राममोहन राय, दयानंद, ज्योतिबा फुले, गांधी और लोहिया ही नहीं, भगतसिंह, आजाद और भगवानदास माहोर भी आते हैं। मैत्रेयी की शक्ति के पीछे ये सारे लोग और उनकी स्मृतियाँ हैं।

महानगरों का अति उच्च जीवन जीते हुए यदि उन्होंने एक और जीवन श्यामली, सोनपुरा, डाँग, समथर, एटा, उरई आदि का भी निरंतर जीती रहीं और हम सबको इस मार्फत उसका अनुभव-सहचर बनाया तो यह एक और अर्थ में हमारे लिए नसीहत भी है कि वह सब कुछ जो हम जीते और सोचते हैं उसमें बहुतों की भागीदारी है। वह सिर्फ हमारा अकेले का नहीं है।

उपन्यास उन तमाम भारतीय स्त्रियों को लेकर लिखा गया है, जो सनातन पुरुष-प्रधान व्यवस्था में सदियों से तरह-तरह से अधिकार-वंचित और काम-शोषित रही आई हैं। मंदा की माँ प्रेम विधवा होकर केवल काम-शोषित स्त्री नहीं है। उसका अपहरण कर, उसे प्रताड़ित कर जमीन-जायदाद हड़पने की योजना का चित्रण यह उपन्यास करता है। बंगाली विधवाओं को सती के नाम पर चिता तक ज़िंदा पहुँचाने वाला समाज यह दुष्कर्म इसलिए करता रहा जिससे खानदानों में ज़मीन-जायदाद के अधिकारों को लेकर झगड़े-फसाद न खड़े हों संपूर्ण भारतीय साहित्य में आज स्त्री के प्रति अगर अपार वेदना और करुणा है तो इसीलिए। आर्यसमाज आदि आंदोलनों के साथ राष्ट्रीय आंदोलन में स्त्री की नई उभरती पहचान ने इस उपन्यास को वह पृष्ठभूमि, परिप्रेक्ष्य और आधार दिया है, जिस पर मंदा जैसी युवतियाँ अपना चारित्रिक विकास कर सकें आज अगर नर्मदा बचाओ आंदोलन की मेधा पाटकर को देखें तो हमारे लेखकों की ये कल्पनाएँ असाधारण तो नहीं, किंतु औसत से भी कुछ कम लगती हैं। आज जीवन का यथार्थ काव्य की कल्पना से काफी आगे खड़ा है तथापि दोनों की दिशाएँ एक हैं। यह एक संतोषप्रद स्थिति है।

कुसुमा जैसे चरित्रों के मार्फत मैत्रेयी भारतीय स्त्री की जिस स्वाधीनता का सपना देख रही हैं, वह समकालीन भारतीय समाज में बहस का मुद्दा हो सकता है। परिवार और रक्त-संबंधों के बीच जो मर्यादा-रेखाएँ खिंची हुई हैं, उन पर बहस करने से तो मुँह नहीं मोड़ा जा सकता, पर बगैर किसी बुनियादी-विमर्श के सिर्फ 'देह की भूख और प्यास' का तर्क समूची सामाजिक और पारिवारिक व्यवस्था को तहस-नहस कर डालेगा। शायद मैत्रेयी भी ऐसी परिवार-संस्था को अंगीकार न करें निस्संदेह लेखक को कल्पना करने और अपनी 'दृष्टि' प्रस्तुत करने की बुनियादी आज़ादी है, पर इस स्वाधीनता की अपनी सीमाएँ भी हैं। कुसुमा के संदर्भ में लेखिका अतिउदारता का प्रदर्शन करती इनके बाहर या पार चली गई है। हम मानते हैं कि स्त्री को वरण की स्वतंत्रता मिलनी चाहिए, पर हम यह भी जानते हैं कि वही तो गृहस्थी (परिवार) की धुरी है। पुरुष शायद बगैर परिवार के काम चलाने को राजी भी हो जाए, पर स्त्री शायद ही कभी तैयार मिले। जहाँ तक मुक्त काम-संबंधों का प्रश्न है या गुप्त अनैतिक काम-संबंधों की हकीकतें हैं, उनकी सूची भी परंपरा के पास है, पर उन संबंधों की श्रेष्ठता की वकालत यह समाज शायद ही कभी करे।

उपन्यास में जिस विंध्य अंचल का लोकजीवन चित्रित किया गया है, वह आम बोलचाल की खड़ी बोली में न होकर बुंदेली बोली की महक से सराबोर है। हम जानते हैं कि मैत्रेयी ने उपन्यास की भाषा के संदर्भ में प्रेमचंद का अनुसरण नहीं किया है, पर जैनेंद्र, अज्ञेय, अमृतलाल नागर आदि का भी नहीं। निर्मल वर्मा जैसे सुपर कलाकारों का तो एकदम ही नहीं, जहाँ पहुँच भाषा और संगीत शास्त्रीय घरानों के असाधारण कलाकारों के अनोखे आलाप बन जाते हैं। मैत्रेयी ने इसके विपरीत उरई, कालपी, एटा, झाँसी आदि के आसपास की बुंदेली को अपने लिए चुना है और लगभग वैसा ही काम किया है जैसा 'मैला आँचल' या 'परती परिकथा' में रेणु ने उस अंचल की बोली के संदर्भ में पर इसके साथ यह कहना जरूरी लग रहा है कि रेणु बोली के हुनर को एक कलाकार की तरह साधते और सँभालते हैं, जबकि मैत्रेयी का संबंध यथार्थ जीवन को भरोसेमंद बनाने वाली उस जुबान से है, जिसे वे कभी बेहद नाजुकी से तो कभी बेहद ठेठपन से छूती हैं। गँवई अंचलों में पहुँचते नए अंग्रेजी शब्दों के उच्चारणों का बोलीकरण कर उन्होंने यह भी बता दिया है कि बोलियाँ कभी भी बंदखयाल और दकियानूस नहीं रही हैं, बल्कि उनकी निगाह हमेशा ही उस जीवन यथार्थ पर रही है, जिसकी टकसाल में भाषा या बोली ढलती आई है।

यह भी ध्यान योग्य है कि लेखिका अपने वर्णनों को हिंदी के मुहावरों में ढालती हैं, किंतु जहाँ चरित्र एक-दूसरे के आमने-सामने हैं, वहाँ तो बुंदेली ही बुंदेली है। पर यह बुंदेली ठीक वैसी ही बुंदेली है, जैसी 'रामचरितमानस' के संदर्भ में अवधी। लगभग बघरी हुई। जैसे कोई गँवई लड़की कस्बे में सौदा-सुलुफ खरीदने आई हो।

प्रेमचंद के बाद एक धारा यशपाल, चतुरसेन शास्त्री, अमृतलाल नागर आदि कथाकारों की रही है। मैत्रेयी की गणना भी इसी धारा में की जा सकती है। इस धारा में महाकाव्यात्मक कथानक और जीवंत लोकधर्मिता है!

❐

एक लंबी कहानी और विस्थापन पर कुछ दर्ज करने की इच्छा...

अविनाश मिश्र

...विस्थापन को समझने के लिए अब बहुत दूर नहीं जाना पड़ता है। बहुत दूर तो बहुत देर हुई हम चले आए। अब बस रहे आना है। इन आरंभिक पंक्तियों के बीच में कहीं 'दुर्भाग्यपूर्ण' शब्द आना चाहिए, लेकिन हम सचमुच इतनी दूर चले आए हैं कि हमारे दुर्भाग्य की शुरुआत कहाँ से हुई– अब यह स्पष्ट नहीं है। घर से कार्यालय तक जाना भी एक विस्थापन लगता है। 'रेजिडेंस ऑन अर्थ' (पाब्लो नेरूदा) और 'आउट ऑफ प्लेस' (एडवर्ड सईद) पढ़ चुकने के बाद भी इस तथ्य से मुक्त नहीं हुआ जा सकता कि विस्थापन अब एक दैनिक दु:ख है और अगर रघुवीर सहाय की एक कविता-पंक्ति का आश्रय लेकर कहें तब कह सकते हैं कि इस दु:ख को रोज समझना पड़ता है। मेरे सुदूर की स्थिति यह है कि वह स्थिर रहा और विस्थापित हो गया, मैं गतिवान रहा और...

''यह तथाकथित अज्ञानपूर्ण अँधेरे युगों की ओर लौटने का प्रयास नहीं है बल्कि यह स्वैच्छिक सरलता, निर्धनता और धीमेपन में सुंदरता देखने का प्रयास है। मैंने इसे अपने आदर्श के रूप में देखा है। मैं खुद इस तक कभी नहीं पहुँच पाऊँगा और इसलिए देश से ऐसी कोई उम्मीद नहीं कर सकता, लेकिन विविधता की हवा में उड़ने, जरूरतों की अनेकता की आधुनिक बदहवास दौड़ में शामिल होने का मुझे कोई आकर्षण नहीं है। वे हमारे अंतस को मार देते हैं। जिस चकराने वाली ऊँचाइयों को पाने का प्रयास मनुष्य की प्रतिभा कर रही है, वह हमें हमारे उस विधाता से दूर ले जाएगी जो चमड़ी को ढँकने वाले नाखून से भी अधिक हमारे करीब है...''

['हिंद स्वराज' को समझने की कुंजी बताते हुए मोहनदास करमचंद गाँधी]

'तद्भव' के २८वें अंक में प्रकाशित युवा कहानीकार शिवेंद्र की लंबी कहानी 'चाँदी चोंच मढ़ाएब ए कागा उर्फ चॉकलेट फ्रेंड' को पढ़ते हुए बहुत स्वाभाविक रूप से 'हिंद स्वराज' की याद आती है। कहानी की एक पात्र कलकतिया चाची को नहीं मालूम कि बाहर की दुनिया कैसी है, ''अठवा जइसे भईस की देह में पड़े रहते हैं वैसे ही हम लोग जी रही हैं... बाहरी दुनिया की बस एक पापिन को हम जानती हैं– बैरन रेल को। वह हमारे गाँव में बस एक पल को रुकती है और हमारा संसार समेटकर न जाने कहाँ उगल आती है...।'' रेल की 'धड़क... धड़... धड़... धड़क... धड़... धड़...' इस कहानी का संगीत है और 'लोक' इसका गीत :

''मोरा रे अँगनमा चनन केर गछिया,
ताहि चढ़ी कुररय काग रे
सोने चोंच मढ़ाय देब बायस
जअाँ पिया आओत आज रे!''

विद्यापति की इन पंक्तियों से शुरू होने वाली यह लंबी कहानी एक विस्थापन-वृत्तांत है। इसे पढ़कर ऐसा लगता है जैसे संसार की बहुत सारी कहानियों ने इस एक कहानी को संभव किया है। सब कहानियाँ इस तरह संभव नहीं होतीं। वे अपनी प्रगति के लिए दूर तक नहीं जातीं, जैसे उनके पूर्वज गए थे :

''पियवा गइलन कलकतवा ए सजनी,
तूरी दिहलन पति-पत्नी-नतवा ए सजनी!
किरिन भीतरे परतवा ए सजनी,
गोड़वा में जूता नइखे, सिरवा पर छतवा ए सजनी!
कइसे चलिहन रहतवा ए सजनी,
सोचत-सोचत बीतत बाटे दिन-रतवा ए सजनी!
कतहूँ लागत नइखे पतवा ए सजनी,
लिखत 'भिखारी' खोजिकर बही-खतवा ए सजनी!''

[भिखारी ठाकुर कृत 'बिदेसिया']

हमें चले गए पूर्वजों को खोजना होता है, उनके पद-चिन्हों पर चलते हुए– विस्मृति से बचते हुए। शिवेंद्र का कहानीकार बहुत अध्यवसाय से यह कार्य करता है क्योंकि वह जानता है कि लौटने से बढ़कर और कोई जादू नहीं होता। और वह यह भी जानता है कि जितने भी वादे थे सब लौटती बेर के थे और उम्र खत्म हो रही थी और किसी का भी लौटना हो नहीं रहा था।

अविनाश मिश्र
'पाखी'
बी-१०७, सेक्टर-६३, नोएडा, उत्तर प्रदेश
मोबाइल: ०९८१८७९१४३४

यह कहानी हिंदी में एक ऐसे वक्त में नुमायाँ हुई है, जब कहानियाँ हमें फरेब दे रही हैं और संसार में कहानियों का वक्त गुजर चुका है, बावजूद इसके कि गई हाल में ही एलिस मुनरो को साहित्य का नोबेल पुरस्कार दिया गया। यह कहानी बताती है कि सच्चाइयाँ सबसे लंबे दिनों तक सिर्फ कहानियों में ही जीवित रह सकती हैं। इस कहानी का मुख्य पात्र एक जादूगर है जो जन्म से विस्थापन की त्रासदी झेलने के लिए अभिशप्त है। वह एक ऐसे गाँव में पैदा हुआ है जहाँ के लगभग सारे मर्द कमाने के लिए बाहर गए हुए हैं और लौट नहीं रहे हैं। गाँव में एक इंतजारघर है, जहाँ आकर गाँव की सारी स्त्रियाँ सामूहिक प्रतीक्षा और विलाप करती हैं। इससे ज्यादा इस कहानी को उद्घाटित करना इस कहानी के साथ अन्याय होगा...।

'अद्भुत' एक रूढ़ शब्द है और इस कहानी के संदर्भ में अपर्याप्त भी, लेकिन फिर भी इस कहानी के जिक्र में उसे आना चाहिए। किसी रचना के तात्कालिक प्रभाव से मुक्त होने के लिए, जब उसका आस्वाद शेअर किया जाता है, तब संबंधित रचना के संदर्भ में 'अद्भुत' एक समीचीन शब्द होता है। इस प्रभाव या कहें दबाव से मुक्त होने के बाद जब आस्वादक शिवेंद्र की कहानी के बारे में पुनः सोचता है तो पाता है कि असल जादू वहाँ नहीं है जहाँ हम अपनी आवश्यकताओं और महत्वाकांक्षाओं के लिए विस्थापित हो जाते हैं, बल्कि वहाँ है जहाँ से हम विस्थापित होते हैं। हमारे अभाव, विवशताएँ और नादानियाँ हमें हमारे आस-पास घटता हुआ जादू अनुभव नहीं करने देते और यह दुनिया एक इंतजारघर बन जाती है। इसे विस्थापन और विलाप से राहत देने के लिए चॉकलेट की जरूरत पड़ती है। चॉकलेट और कुछ नहीं– प्रेम, बंधुत्व, सहअस्तित्व और उम्मीद का एक रूपक है।

अलका सरावगी के उपन्यास 'कलि-कथा वाया बाइपास' में हैमिल्टन साहब को समझाते हुए रामविलास कहता है, ''देखिए साहब हमें दुःख भी उन्हीं बातों से होता है जिनसे हमें कभी सुख मिला था। अभाव उन्हीं चीजों का महसूस होता है जिनके प्रति कोई भाव रहा था। आदमी छटपटाता है इन विपरीतों के अंतिम सिरों से मुक्त होने के लिए...।''

शिवेंद्र की कहानी कहती है, ''सदियों से यही होता आया है कि कहानियाँ, नदियाँ और लोग अलग-अलग कारणों से अपनी पैदाइश छोड़कर आगे बढ़ते रहे हैं। यह आगे बढ़ना कभी-कभी उड़ने की आकांक्षा और ऊब की अकुलाहट से संभव होता है, लेकिन अक्सर यह जन्मता है उजड़ने की मजबूरी से...।''

हिंदी कहानी का सामयिक यथार्थ एक नए शैथिल्य से ग्रस्त है। कथा-केंद्रित मासिक साहित्यिक पत्रिकाएँ नैरंतर्य के बावजूद अप्रासंगिक और जड़ हो चुकी हैं। दृष्टिहीनता का आलम यह है कि 'नवलेखन विशेषांक' की सतत उपलब्धता पर भी यहाँ नवोन्मेष की गुंजाइश अब लगभग नहीं है। इस परिदृश्य में कथा-पीढ़ियाँ बहुत जल्दी-जल्दी तैयार हुई हैं। इसी तैयारी में शिवेंद्र भी सामने आए हैं। अपनी कुछ कहानियों से ही उन्होंने एक ऐसे कथा-कौशल का परिचय दिया है, जो बेहद प्रामाणिक और प्रभावी है। यह असर हिंदी कहानी के आगत के प्रति आश्वस्त करने वाला है। शिवेंद्र के कथा-संसार में लोक का प्रासंगिक पुनर्वास दृष्टिगत होता है। हालांकि शिवेंद्र की अब तक कुल तीन कहानियाँ ही प्रकाशित हुई हैं, लेकिन केवल इनसे ही उन्होंने एक ऐसी परिपक्वता प्रदर्शित की है जो इस बात के लिए बाध्य करती है कि उनकी इस काबिलियत को पक्की स्याही से रेखांकित किया जाए। शिवेंद्र के कहानीकार ने 'सच्चाइयों को सबसे लंबे समय के लिए, कहानियों में बचा ले जाने का' जो विश्वास अभिव्यक्त किया है, वह उनकी कहानियों को मर्मस्पर्शी और यादगार बनाता है। २०१३ में प्रकाशित 'ए घुटरु! कहनी कहो न...' और 'चाँदी चोंच मढ़ाएब कागा उर्फ चॉकलेट फ्रेंड' शिवेंद्र की क्रमशः पहली और दूसरी कहानी हैं। ये कहानियाँ विस्थापन के विभिन्न आयामों से वाकिफ हैं और लोक में अविचल आस्था रखती हैं। इन कहानियों की संवेदनशील भाषा, प्रस्तुति और शिल्प में अपने लोक को एक आधुनिक परिप्रेक्ष्य में संप्रेषणीय, सार्थक और जीवंत बनाने का जरूरी उद्यम, अध्यवसाय और संकल्प नजर आता है। लोक-कथाओं और लोक-गीतों के पुनर्वास की इतनी प्रासंगिक और मार्मिक अभिव्यक्ति शिवेंद्र को हिंदी का एक विशिष्ट कथा-स्वर बनाती है। 'चाँदी चोंच मढ़ाएब कागा उर्फ चॉकलेट फ्रेंड' जैसी लंबी कहानी आस्वादक को उद्धरणधर्मी होने के लिए प्रेरित कर सकती है। इसकी वजह सिर्फ इतनी है कि इस कहानी में लोकप्रेरित विषय की सघन पड़ताल और दृढ़ निष्कर्ष हैं। अनुभूतियों से उत्पन्न ज्ञान के काव्यात्मक प्रकटीकरण के बीच कुछ नए रूपकों से कथा-तत्त्व तैयार करने और सार्वभौमिकता देते हुए उसे आगे बढ़ाने की जो कोशिश इस कहानी में है, वह इसे इस दौर की सबसे महत्वपूर्ण कहानी बनाने के लिए पर्याप्त है।

अद्यतन हिंदी कहानी 'कहानी' से जुड़ी बहुत सारी बहसों को बहुत पीछे छोड़ आई है। इस दृश्य में सजग शिवेंद्र जैसे कई नए कहानीकारों के लिए मार्ग अब बहुत स्पष्ट है। कहानी में 'क्या करना है और क्या नहीं करना है' जैसी द्विधा उनके सम्मुख नहीं है। एक बेहतर कहानी क्या होती है और वह कैसे बनती है, यह वे जानते हैं। उनका समय और उनकी जीवन-स्थितियाँ इस कथा-संघर्ष के लिए उन्हें अवकाश और एकाग्रता दें, आज जरूरत बस इस बात की है।

जैसा कि उपरोक्त अनुच्छेद में कहा गया कि 'चांदी चोंच मढ़ाएब कागा उर्फ चॉकलेट फ्रेंड' जैसी लंबी कहानी आस्वादक को उद्धरणधर्मी होने के लिए प्रेरित कर सकती है, लिहाजा यहाँ तक आते-आते इस प्रेरणा से बचना संभव नहीं हो पा रहा है। अंत में प्रस्तुत हैं इस कहानी से कुछ पंक्तियां :

''जब गाँव छूटता है, सबसे पहले नदी याद आती है।''

''घर माँ के बाद दुनिया का सबसे प्यारा शब्द है और माँ सभी प्यारे शब्दों की दुनिया है।''

''जब भी जलना चुप रहना... जो आज जल रहा है वह कल बुझ जाएगा।''

''मरते हुए आदमी का वक्त उसकी हथेली पर होता है और वह किसी भी वक्त में आ जा सकता है।''

''चाँद पर जाने का कोई वक्त नहीं होता, बस आपके साथ कोई जाने वाला होना चाहिए।''

''एक समय के बाद हर कोई बूढ़ा हो जाता है।''

''सभी माँएँ झूठ गढ़ती हैं।''

''मनुष्य की अमरता है कि वह अपनी संतान में स्वयं को बचा लेता है।''

''जब कोई अन्यमनस्क होता है, दरअसल स्मृतियों में होता है।''

''रो लेने से भीतर का इंतजार शांत हो जाता है– कुछ देर के लिए ही सही।''

❐

साहित्यिक समाचार

बुद्धिनाथ मिश्र को टाइम्स ऑफ इंडिया राजभाषा सम्मान

गत 14 सितम्बर को नई दिल्ली के इंडिया इंटरनेशनल सेंटर के सभागार में टाइम्स ऑफ़ इंडिया समूह द्वारा आयोजित भव्य समारोह में सुप्रसिद्ध गीतकार डॉ. बुद्धिनाथ मिश्र को 'राजभाषा पुरस्कार' से सम्मानित किया गया। इस अवसर पर मुख्य अतिथि के रूप में प्रतिष्ठित लेखक एवं पूर्व-राज्यपाल श्री बाल्मीकि प्रसाद सिंह, विशिष्ट अतिथि कैबिनेट सचिव तथा विज्ञान-कथा लेखक श्री सतीश अग्निहोत्री तथा टाइम्स ग्रुप के महाप्रबंधक श्री गौतम सेन उपस्थित थे।

मुख्य अतिथि श्री बाल्मीकि प्रसाद सिंह ने उन्हें शाल ओढ़ाकर प्रतीक चिह्न भेंट किया और श्री सतीश अग्निहोत्री ने 51 हजार रुपये की सम्मान राशि तथा श्री गौतम सेन ने प्रशस्तिपत्र प्रदान कर सम्मानित किया।

समारोह में राजधानी के 150 से अधिक साहित्यकार, कलाकार और काव्यप्रेमी उपस्थित थे, जिनमें पद्मभूषण सुरेश नेवटिया, लोकगायिका मालिनी अवस्थी, लक्ष्मी शंकर वाजपेयी, सुभाष चन्द्र थलेड़ी, सुरेश ऋतुपर्ण, देवशंकर नवीन, राजेश बादल (राज्यसभा चैनल), रमा पांडेय, राकेश दुबे, टिल्लन रिछारिया, डॉ. सुब्रह्मण्यम, डॉ. गणेश मणि, राकेश पांडेय, राजकुमारी रश्मि, मनीष कुमार झा,अपूर्वा बजाज, सौमित्र घोष आदि प्रमुख थे। कार्यक्रम के अन्त में श्री सचिन लिमये (वडोदरा) और श्रीमती सुचित्रा भागवत ने कई मूर्धन्य कवियों के साहित्यिक गीतों की संगीतमय सुमधुर प्रस्तुति देकर इस राजभाषा समारोह को अविस्मरणीय बना दिया।

विश्व हिंदी साहित्य सम्मान समारोह संपन्न

13 सितम्बर, 2014 को विश्व हिंदी साहित्य परिषद् द्वारा हिंदी दिवस की पूर्व संध्या पर आयोजित विश्व हिंदी साहित्य सम्मान समारोह संम्पन हुआ। कार्यक्रम में मुख्य अतिथि श्री नरेंद्र कोहली थे, अध्यक्षता डॉ. कमल किशोर गोयनका ने की, विशिष्ट अतिथि श्री एम ए सिकंदर, निदेशक, नेशनल बुक ट्रस्ट, वरिष्ठ पत्रकार श्री हरेन्द्र प्रताप थे। कार्यक्रम दिल्ली के हिंदी भवन में आयोजित किया गया था, जिस में देश के कई गणमान्य लेखक, पत्रकार, कवि और हिंदी सेवी उपस्थित थे। विश्व हिंदी साहित्य परिषद् के अध्यक्ष श्री आशीष कंधवे ने विषय प्रवर्तन करते कहा कि-''मैं ये नहीं कहूँगा की आप अंग्रेज़ी ना सीखें ना बोले पर ये ज़रूर कहूँगा की अपनी भाषा हिंदी को विपत्ति में डाल कर अंग्रेजी को संपत्ति ना बनायें। अन्यथा हम अपनी पहचान खो बैठेंगे। सभ्यता संस्कृति को मिटा बैठेंगे।'' इस कार्यक्रम के दौरान अनेक सम्मानित विभूतियाँ को अलंकृत किया गया। श्री दया प्रकाश सिन्हा, विश्व हिंदी साहित्य शिखर सम्मान, डॉ. हरीश नवल : आजीवन उपलब्धि सम्मान, डॉ. विवेक गौतम, साहित्य भारती सम्मान, श्री नारायण कुमार, भाषा भारती सम्मान, डॉ. हरीश अरोड़ा (दिल्ली विश्वविद्यालय) महवीर प्रसाद द्विवेदी पत्रकारिता सम्मान, श्री अनिल जोशी, भाषा भारती सम्मान, डॉ. लालित्य ललित, काव्य भारती सम्मान, डॉ. मुकुल खंडेलवाल (रांची विश्वविद्यालय) भाषा भारती सम्मान, डॉ. विनय कुमार (मगध विश्वविद्यालय) भाषा भारती सम्मान, डॉ. प्रदीप सिंह (मुंबई विश्वविद्यालय) भाषा भारती सम्मान, तथा डॉ. बाबू जोसेफ (केरल विश्व विद्यालय) को भाषा भारती सम्मान दिया गया।

नवसाक्षर लेखन कार्यशाला

नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया एवं राज्य संसाधन केंद्र, रायपुर छत्तीसगढ़ के तत्वाधान में नवसाक्षरों के लिए बेहतर पठन सामग्री तैयार करने हेतु एक तीन दिवसीय कार्यशाला का आयोजन शहर से लगभग पचास किलोमीटर दूर चंपारण में किया गया। इस कार्यशाला में राज्य के तकरीबन बीस रचनाकारों ने हिस्सेदारी की। कार्यशाला का उद्घाटन वरिष्ठ पत्रकार व प्रदेश हिंदी साहित्य सम्मलेन के अध्यक्ष श्री ललित सुरजन ने किया। इस अवसर पर कार्यक्रम की अध्यक्षता राष्ट्रीय पुस्तक न्यास में हिंदी संपादक व छत्तीसगढ़ राज्य के समन्वयक डॉ ललित किशोर मण्डोरा ने की।

कार्यक्रम में सन्दर्भ व्यक्ति के तौर पर आमंत्रित थे दिल्ली से प्रख्यात कथाकार डॉ. अमरेंद्र मिश्र व छत्तीसगढ़ से कथाकार श्री सतीश जायसवाल। इस वसर पर राज्य संसाधन केंद्र के निदेशक श्री तुहिन देव एवं राज्य साक्षरता मिशन प्राधिकरण के सहायक संचालक प्रशांत पाण्डेय और दिनेश टाँक भी मौजूद थे। मुख्य अतिथि ललित सुरजन ने कहा- आप सब रचनात्मक लेखन से जुड़े हुए है परन्तु नवसाक्षर के लिए लिखना आसान हैं। उन्होंने विश्व साहित्य की चर्चा करते हुए कहा कि जिस तरह बड़ों के लिए साहित्य की रचना की जाती है उसी तरह नवसाक्षरों के लिए भी रचा जाता है। हमें उनकी जीवन शैली तथा सामाजिक सरोकारों से भली भांति परिचित होना है। मौजूद डॉ. ललित मण्डोरा ने कहा -न्यास विगत अनेक वर्षों से कार्यशाला करता आया है जिसके बेहतर परिणाम मिले है, रचनाकारों को पता चलता है कि लिखना इतना आसान नहीं जितना आसान मान लिया गया है, बल्कि तैयार की गई रचनाओं का असली पाठक हमारा नवसाक्षर है ।

ढींगरा फ़ाउण्डेशन-हिन्दी चेतना अन्तर्राष्ट्रीय सम्मान समारोह कैनेडा में आयोजित

ढींगरा फ़ाउण्डेशन-हिन्दी चेतना अन्तर्राष्ट्रीय सम्मान समारोह स्कारबरो सिविक सेण्टर, काउन्सिल चैम्बर्स, ओण्टेरियो कैनेडा में 26 जुलाई 2014 को आयोजित हुआ। इस समारोह में, समग्र साहित्य अवदान हेतु वरिष्ठ साहित्यकार प्रो. हरिशंकर आदेश, उपन्यास-'कामिनी काय कान्तारे' के लिए वरिष्ठ कथाकार श्री महेश कटारे को तथा कहानी-संग्रह 'उत्तरायण' हेतु प्रवासी कथाकारा डॉ.सुदर्शन प्रियदर्शिनी को ढींगरा फ़ाउण्डेशन-हिन्दी चेतना अन्तर्राष्ट्रीय कथा सम्मान से सम्मानित किया गया। इस अवसर पर विशिष्ट अतिथिगण श्री बॉस बाल किसून (एमपीपी), श्री रेमण्ड चो (काउन्सलर-टोरन्टो), श्री जो ली (काउन्सलर- मार्ख़म), सुश्री मित्ज़ी हन्टर (वित्त उप राज्य मन्त्री), भारत के काउन्सलेट जनरल श्री अखिलेश मिश्रा सहित हिन्दी चेतना के मुख्य सम्पादक श्री श्याम त्रिपाठी, ढींगरा फ़ाउण्डेशन की उपाध्यक्ष डॉ. सुधा ओम ढींगरा, हिन्दी चेतना के सह सम्पादक रामेश्वर काम्बोज 'हिमांशु', पंकज सुबीर और अभिनव शुक्ल उपस्थित थे ।

तीनों सम्मानित रचनाकारों को शाल, श्रीफल, सम्मान-पत्र, स्मृति-चिह्न एवं सम्मानराशि स्वरूप 500 डालर भेंट किए गए। ऑण्टेरियो प्रशासन की ओर से भी तीनों सम्मानित रचनाकारों को प्रशस्ति-पत्र भेंट किए गए। तीनों सम्मानित रचनाकारों को उनके साहित्यिक योगदान के लिए ये प्रशस्ति पत्र ऑण्टेरियो प्रशासन की ओर से वित्त उप राज्य मंत्री सुश्री मित्जी हन्टर ने भेंट किए। सम्मानित रचनाकारों का परिचय कहानीकार पंकज सुबीर ने प्रस्तुत किया।

इस अवसर पर बोलते हुए वित्त उप राज्य मंत्री मित्जी हन्टर ने सरकार की ओर से तीनों सम्मानित रचनाकारों को बधाई दी तथा हिन्दी प्रचारिणी सभा के कार्यों की चर्चा की। अपने उद्बोधन में कौन्सुलेट श्री अखिलेश मिश्र ने हिन्दी-चेतना के द्वारा हिन्दी-प्रचार-प्रसार के क्षेत्र में द्वारा किए जा रहे कार्य की सराहना की। श्री बॉस बाल किसून ने अपने पूर्वजों के द्वारा भाषा की अस्मिता के लिए किए गए संघर्षों का बहुत भावुकता से उल्लेख किया तथा भाषा को जीवन के लिये अत्यंत महत्त्वपूर्ण बताया। काउन्सलर रेमण्ड चो ने अपने भाषण में कहा कि यह बड़ी बात है कि अपने देश से बाहर रह कर भी अपनी भाषा को लेकर इतने समर्पण भाव से काम किये जा रहे हैं। श्री श्याम त्रिपाठी ने हिन्दी चेतना की विकास-यात्रा का उल्लेख किया। ढींगरा फ़ाउण्डेशन के कार्य को डॉ. सुधा ओम ढींगरा ने हिन्दी को जन-जन तक पहुँचाने के संकल्प का विनम्र प्रयास बताया। सम्मानित साहित्यकार श्री महेश कटारे ने कहा कि हिन्दी चेतना एक सेतु का काम कर रही है जो समग्र भारतीय भाषाओं की सामासिक और समाहारी चेतना की प्रतीक है। सुदर्शन प्रियदर्शिनी ने कहा कि हिन्दी को बनाए रखने के लिए ज़रूरी है कि आने वाली पीढ़ी को अपनी भाषा से दूर न किया जाए। हिन्दी चेतना टीम के सदस्यों को भी स्मृति-चिह्न भेंट किए गए। इससे पहले सभी अतिथियों का पुष्प गुच्छ भेंट कर स्वागत किया गया साथ ही स्वागत भाषण शालिन त्रिपाठी ने दिया। इस आयोजन के अवसर पर बड़ी संख्या में हिन्दी प्रेमी और साहित्यकार उपस्थित थे ।

डॉ. सुधा ओम ढींगरा के कविता संग्रह सरकती परछाइयाँ का विमोचन

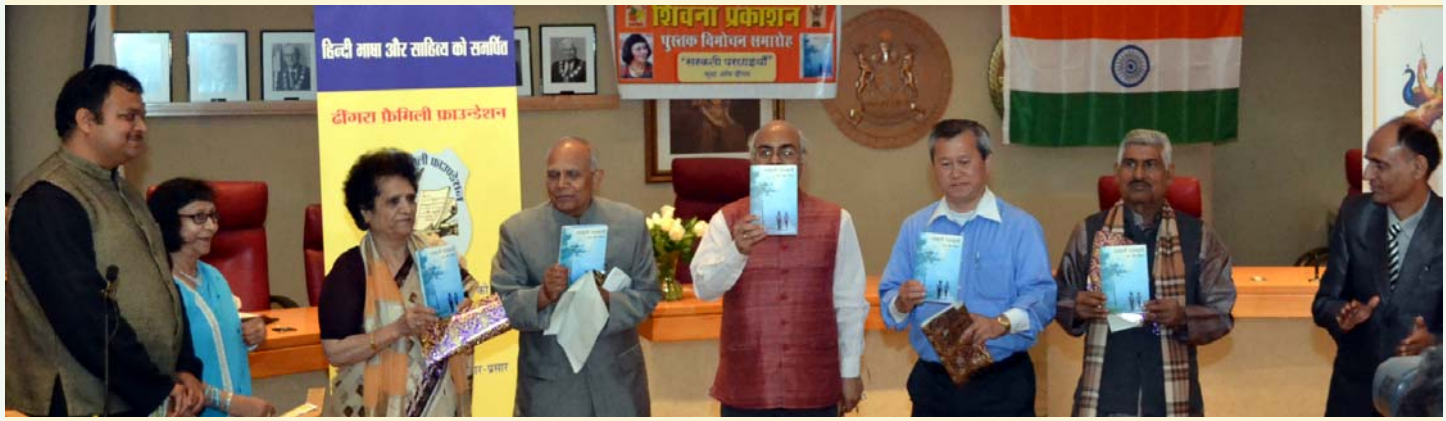

कथाकार कवयित्री सुधा ओम ढींगरा के शिवना प्रकाशन द्वारा प्रकाशित कविता संग्रह 'सरकती परछाइयाँ' का विमोचन हिन्दी चेतना अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन में स्कारबरो सिविक सेण्टर, ओण्टेरियो कैनेडा में हुआ। वरिष्ठ कथाकार श्री महेश कटारे, प्रवासी कथाकारा डॉ.सुदर्शन प्रियदर्शिनी, श्री जो ली (काउन्सलर- मार्ख़म), भारत के काउन्सलेट जनरल श्री अखिलेश मिश्रा, हिन्दी चेतना के मुख्य सम्पादक श्री श्याम त्रिपाठी ने 'सरकती परछाइयाँ' का विमोचन किया। पुस्तक तथा लेखिका का परिचय कहानीकार पंकज सुबीर ने प्रस्तुत किया। इस अवसर पर बोलते हुए डॉ. सुधा ओम ढींगरा ने कहा कि इस संग्रह की कविताएँ कुछ अलग तरह की कविताएँ हैं तथा आशा है कि पाठक इन कविताओं को पसंद करेंगे। उन्होंने कहा कि कविता लिखना उनके लिए अपने आप से ही पहचान करने का एक जरिया रहा है। कविताएँ अपने आप से संवाद स्थापित करने का तरीका है। पिछला कविता संग्रह 'धूप से रूठी चाँदनी' जिस प्रकार पाठकों ने पसंद किया था उसी से उत्साहित होकर इस संग्रह की भूमिका बनी। विमोचन के अवसर पर एक कवि सम्मेलन का भी आयोजन किया गया। वरिष्ठ साहित्यकार रामेश्वर काम्बोज हिमांशु की अध्यक्षता में आयोजित कवि सम्मेलन में सुदर्शन प्रियदर्शिनी, पंकज सुबीर, अभिनव शुक्ल, धर्मपाल जैन, राज माहेश्वरी, शैलजा सक्सेना, शैल शर्मा, दीप्ति कुमार, सुधा ओम ढींगरा तथा श्याम त्रिपाठी ने अपनी रचनाओं का पाठ किया। कवि सम्मेलन का संचालन अभिनव शुक्ल ने किया । इस अवसर पर बड़ी संख्या में हिन्दी प्रेमी और साहित्यकार उपस्थित थे ।

तेजेन्द्र शर्मा सम्मानित

केन्द्रीय हिन्दी संस्थान द्वारा राष्ट्रपति भवन में आयोजित कार्यक्रम में वरिष्ठ कहानीकार श्री तेजेन्द्र शर्मा को पद्मभूषण डॉ. मोटुरी सत्यनारायण पुरस्कार 2011 से सम्मानित किया गया। श्री तेजेन्द्र शर्मा को यह पुरस्कार राष्ट्रपति श्री प्रणव मुखर्जी ने प्रदान किया।

गीताश्री सम्मानित

कथाकार तथा पत्रिका 'बिंदिया' की संपादक गीताश्री को भारतेंदु हरिश्चंद्र पुरस्कार से सम्मानित किया गया। सूचना एवं प्रसारण मंत्री प्रकाश जावड़ेकर ने सीरी फोर्ट सभागार में आयोजित समारोह में लेखकों और पत्रकारों को भारतेंदु हरिश्चंद्र पुरस्कार से सम्मानित किया।

पंकज सुबीर सम्मानित

हिन्दी दिवस के अवसर पर हिन्दी प्रचारिणी समिति छिंदवाड़ा द्वारा विशेष कार्यक्रम का आयोजन किया गया। कार्यक्रम में कहानीकार तथा हिन्दी चेतना के सह संपादक पंकज सुबीर को शॉल, श्रीफल एवं सम्मान पत्र प्रदान कर हिन्दी सेवा के लिए सम्मानित किया गया।

श्री रेमण्ड चो (काउन्सलर-टोरन्टो)

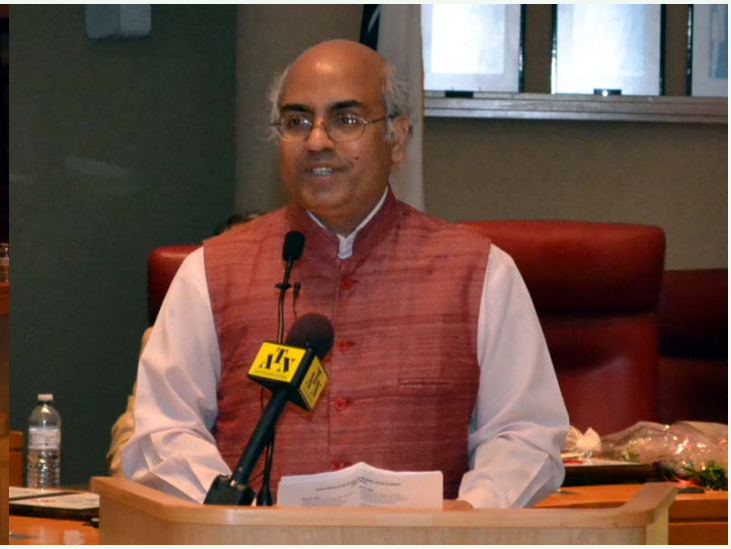

भारत के काउन्सलेट जनरल श्री अखिलेश मिश्रा

सुश्री मित्ज़ी हन्टर (वित्त उप राज्य मन्त्री)

श्री बॉस बाल किसून (एमपीपी)

श्री जो ली (काउन्सलर- मार्ख़म)

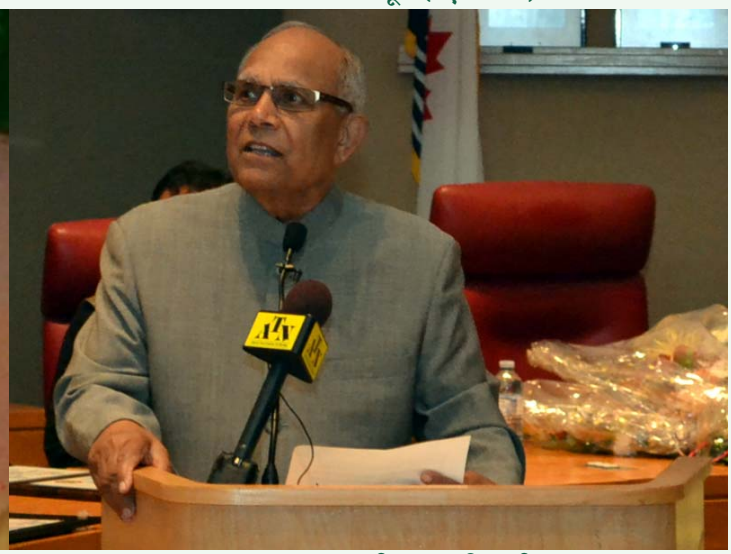

मुख्य सम्पादक श्री श्याम त्रिपाठी

स्कारबरो सिविक सेण्टर, कैनेडा में आयोजित ढींगरा फ़ाउण्डेशन-हिन्दी चेतना अन्तर्राष्ट्रीय सम्मान समारोह की चित्रमय झलकियाँ

सम्मानित कथाकारा डॉ. सुदर्शन प्रियदर्शिनी

सम्मानित कथाकार श्री महेश कटारे

सम्पादक एवं ढींगरा फ़ाउण्डेशन उपाध्यक्ष डॉ. सुधा ओम ढींगरा

सह सम्पादक रामेश्वर काम्बोज 'हिमांशु'

सह सम्पादक पंकज सुबीर

सह सम्पादक अभिनव शुक्ल

चित्र काव्यशाला

चित्रकार : अरविंद नारले

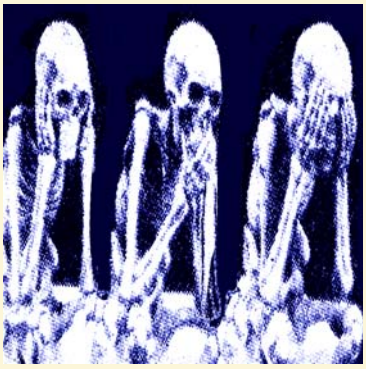

तीन बंदरों की सीख

सदियाँ बीतीं सीख दे रहे
आज भी बैठे मिलकर तीन
एक ने कान पर हाथ रखा है
दूजे का है मुँह बंद
तीजा बुरा न देखे
और कर लेता आँखें मूँद
बिन बोले ही सब कुछ कहते
बिन देखे ही जग को देखें
और सुने सब हाल
चाहो इनको तुम लो तोल
इनकी भाषा बड़ी अनमोल
इनके संकेतों में बल है
संदेशे भी खूब अटल हैं
बुरी बात को न ये कहते
बुरा न इनकी आँखें देखें
न सुनते हैं कोई बुराई
जानो तुम इनकी चतुराई
गाँधी जी ने इन्हें अपनाया
विश्व भर में है नाम कमाया
देह हुई इनकी कंकाल
फिर भी अडिग है इनकी चाल
लिए हुए हैं ज्वलंत मशाल
करता इनसे जो कोई प्यार
सपने उसके हों साकार
मित्र बनाकर साथ न छोड़ें
अपनाकर फिर मुँह न मोड़ें

सविता अग्रवाल 'सवि'
(कैनेडा)

अलबेला मेला

कह गये गाँधी
कह गये गौतम
कबीर, रहीम ने भी
बहुत समझाया।
बीत गई ज़िन्दगी
पीढ़ी दर पीढ़ी,
बोलते,
सुनते,
देखते रहे
असत्य,
अवांछित,
अश्लील।
न गुरु बदले,
न बदले चेला
देख जगत का
अलबेला मेला !

मीरा गोयल
(अमरीका)

विलोम चित्र काव्यशाला

काली -काली एक गुफा में, बैठे हुए हैं दो चोर,
गुस्से में हैं बातें करते, ताके एक दूजे की ओर,
मैले कपड़े बिखरे बाल, जैसे लगते हैं चंडाल,
एक दूजे से अँधेरे में, कर रहे हैं जवाब सवाल ,
बाहर झील साफ़ आसमाँ, कितना सुन्दर है नज़ारा,
दूर पेड़ों की देख कतारें, लगता है दूजा किनारा,
इन महानुभावों को क्या दिलकश सुबह या सुन्दर शाम,
राय पड़े तो चोरी करना,दिन चढ़ें तो करें आराम!
कभी-कभी पर रातों को भी दिल बहलाने को हैं जाते ,
पकड़े ना जाएँ कहीं वहाँ, इस बात से भी घबराते,
पकड़ा गुफा में चोरी का माल, कोई तो हो रखवाला,
सारा कुछ तो छुपा यही पर, ना दरवाज़ा ना ताला।
शहर के मैखाने में आई, बाहर से सुन्दर नारी,
उसी का नृत्य देखने हेतु, लगी है भीड़ वहाँ भारी,
दोनों चाहे ये भी देखे, उस सुंदरी को जाकर,
इसी बात पे झगड़ रहे हैं, पहले कौन जाए वहाँ पर,
दोनों ने फिर मिल के बीच में, सिक्के को है उछाला,
जिसने इनके झगड़े का, तुरंत फैसला कर डाला।

चित्र को उल्टा करके देखें

निम्न को उल्टा करके देखें, तुम भी देखो, वो नर्तकी,
जिसे देखकर इन दोनों की, इतनी तन्मयता है फड़की,
एक हसीना खड़ी हुई है, नृत्य का ढंग बना कर ,
अपनी ओर वो करे आकर्षित, हाथों को ऊपर उठाकर,
कन्धों पर आगे की गिराए, सर के काले सुन्दर बाल,
फूलों की ही छिपाए वेणि, पतली से झुकी कोई डाल।
आँखों पे कला चश्मा, और कानों में पहने झुमके,
मटक-मटक कर एक-एक के, खूब लगाती है ठुमके,
गोर बाजू पर बांधे है, कोहनी रंग की मोती डोर,
देख-देख लोग उसकी ओर, मार सीटी मचाए शोर,
जानकार मर्दों की कमजोरी, करती अपने आंग-प्रदर्शन,
लाल शर्ट को ताक में रख, सहेज कर वो अर्जित धन।

तारक

करती है अपने अंग प्रदर्शन, अब जगत में कुछ महिलाएँ,
सहेज करती है धन अर्जन, पुरुष लोगों का दिल बहलाएँ,
ये भी किसी की बहू -बेटियाँ, होने वाली हैं किसी की माँ,
समाज सुधारक सभी नारियाँ, जा कर बैठ आज कहाँ ?

चित्रकार : अरविंद नारले

कवि: सुरेन्द्र पाठक

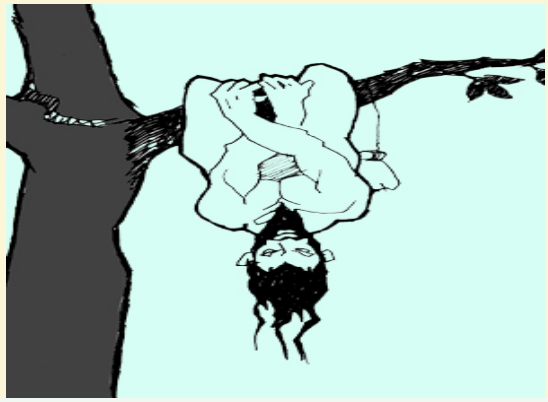

इस चित्र को देखकर आपके मन में कोई रचनात्मक पंक्तियाँ उमड़-घुमड़ रही हैं, तो देर किस बात की, तुरन्त ही काग़ज़ क़लम उठाइए और लिखिए। फिर हमें भेज दीजिए। हमारा पता है :

HINDI CHETNA
6 Larksmere Court, Markham,
Ontario, L3R 3R1,
e-mail : hindichetna@yahoo.ca

स्वस्थ्य आलोचना हमेशा लेखन में रचनात्मक सुधार लाती है

त्योहारों के इस मौसम में हिन्दी चेतना का अक्टूबर-दिसम्बर अंक हर वर्ष विशेषांक के रूप में अपने पाठकों के लिए उपहार होता है। इस बार यह कथा-आलोचना पर केंद्रित है। आख़िरी पन्ने तक पहुँचते हुए आपने यह जाना होगा कि कई बार रचनाकार, आलोचक को निंदक समझ लेता है। हालाँकि आलोचना और निंदा में अंतर है और यह महीन अंतर समझना ही एक तरह की परीक्षा होती है। मानती हूँ, कई बार कोष्ठकों में बँटे आलोचक विचारधारा और पूर्वग्रहों के चलते, आलोचना और निंदा की रेखा को लाँघ जाते हैं। रचना की बजाए रचनाकार की आलोचना कर देते हैं। आलोचक अगर अपने विषय का ज्ञाता है, वह निष्पक्ष आलोचना कर रचनाकार के लिए चिन्तन, संवाद तथा विमर्श के कुछ बिन्दुओं को ज़रूर छोड़ता है; जो रचनाकार की ग्रोथ, परिपक्वता और भविष्य की उसकी रचनाओं में निखार लाते हैं।

मैं अपना एक उदाहरण देती हूँ। मैंने अपनी एक कहानी नामी लेखक और आलोचक को भेजी; जो स्वयं को कहानियों के आलोचक मानते हैं। उन्होंने उस कहानी की धज्जियाँ उड़ा दीं। मुझे उनके धज्जियाँ उड़ाने से एतराज़ नहीं था; पर समझ नहीं पाई कि इस कहानी का सुधार कैसे करूँ! बस इतना जान पाई कि मुझे लिखना नहीं आता। उन्होंने जगह-जगह मेरी उस कहानी की निंदा की। वह निंदा मेरे तक पहुँची भी। उसी कहानी को एक सच्चे, ईमानदार और विषय के ज्ञाता आलोचक को भेजा। उन्होंने बड़े सलीके से कहा कि एक चरित्र थोड़ा चिंतन माँगता है, आपने वह चिंतन किया तो है; पर स्पष्ट नहीं। बस बिन्दु हाथ में आ गया और छपने के बाद वह कहानी बहुत सराही गई। सबसे पहले धज्जियाँ उड़ाने वाले लेखक और आलोचक ने बधाई दी।

कहने का भाव यह है कि सही आलोचना आपका सर्वोत्तम निकाल सकती है और घातक आलोचना आपको तबाह भी कर सकती है। निष्पक्ष आलोचना हमेशा ही संवाद और विमर्श को प्रोत्साहित करती है। आलोचकों को भी यह बात समझनी होगी कि आलोचना तभी निंदनीय समझी जाएगी; जब वह निंदनीय तरीके से की जाएगी। शालीन और गरिमापूर्ण आलोचना तो रचनाकार के लिए गर्व की बात होती है, कितना कुछ सीखने को मिलता है। स्वस्थ्य आलोचना हमेशा लेखन में रचनात्मक सुधार लाती है।

कथा-आलोचना अंक अतिथि संपादक सुशील सिद्धार्थ ने बड़ी लगन से तैयार किया है। यह अंक अपने उद्देश्य में कितना खरा उतरा है; आपकी निष्पक्ष प्रतिक्रियाएँ ही हमें बताएँगी। आपकी प्रतिक्रियाएँ हमारे लिए बहुत महत्त्वपूर्ण हैं।

आपकी मित्र

सुधा ओम ढींगरा

रचना में आलोचना की गुंजाइश हमेशा रहती है, क्योंकि कोई भी रचना शत प्रतिशत दोषमुक्त नहीं होती। चाहे आप द्वार पर रँगोली बना रहे हों या कोई कविता लिख रहे हों, हर रचना अपने बनाए जाने के साथ ही पैदा करती है आलोचना की संभावना को।

ढींगरा फ़ाउण्डेशन-हिन्दी चेतना अंतर्राष्ट्रीय सम्मान समारोह

Dhingra Foundation-Hindi Chetna International Literary Award Ceremony

दिनांक 26 जुलाई 2014 को स्कारबरो सिविक सेण्टर, कैनेडा में आयोजित सम्मान समारोह की चित्रमय झलकियाँ

ढींगरा फ़ाउण्डेशन-हिन्दी चेतना अंतर्राष्ट्रीय सम्मान समारोह

Dhingra Foundation-Hindi Chetna International Literary Award Ceremony

दिनांक 26 जुलाई 2014 को स्कारबरो सिविक सेण्टर, कैनेडा में आयोजित सम्मान समारोह की चित्रमय झलकियाँ